साहित्य और समाज की बातें

वार्षिकांक

साहित्य सौंदर्य

संघ लोक सेवा आयोग/राज्य लोक सेवा आयोग व अन्य परीक्षाओं के लेखन/साक्षात्कार हेतु महत्वपूर्ण

"महत्वपूर्ण समाचार, स्मृति, आलेख, स्तंभ, आलोचना इत्यादि का बेजोड़ संकलन"

हिंदी साहित्य

IAS/PSC में साक्षात्कार हेतु एकमात्र पत्रिका के अभ्यर्थियों के लिए

E-BOOK

Read & Share it

Arvind kumar Sir

GET IT ON Google Play

CIVIL SERVICES 24X7

1. मैनेजर पांडेय ताउम्र जनविरोधी नीतियों के मुखर आलोचक रहे
2. शेखर जोशी आप चले गए, अब “दाज्यू” के मदन के आंसुओं की कौन फिक्र करेगा?
3. शेखर जोशी: अलविदा कोसी के घटवार
4. निर्बंध: सहानुभूति, स्वानुभूति और (सं)रचना
5. स्त्री आजादी की पैरोकार रही हैं मृदुला गर्ग, पत्नी के 'प्रेमी' को ठहराया था जायज
6. जब शवयात्रा में 'राम नाम सत्य है' की जगह गाया गया द्वारिका प्रसाद माहेश्वरी का गीत
7. भारत का बाल साहित्य: नक्कारखाने में तूती की आवाज
8. Children's Day 2022: बालमन को कहां ले जा रही है डिजिटल दुनिया?
9. स्त्री लेखक, प्रवासी लेखक, दलित लेखक....ये क्या वेबकूफी है- ममता कालिया
10. इस्लाम में कहीं भी मुंह ढकना नहीं है, चेहरा इनसान की पहचान है- नासिरा शर्मा
11. परंपरा और आधुनिकता दोनों ही स्त्रियों को मारती है - गीताश्री
12. श्रीलाल शुक्ल ने 'राग दरबारी' के लिए वह सब किया जो प्रेमिका के लिए करता है पुरुष
13. कितना सार्थक है हिंदी दिवस ?
14. अज्ञेय: वो विद्रोही लेखक, जिसने साहित्य और जीवन दोनों ही में परंपराओं को तोड़ा
15. गीतांजलि श्री को बुकर मिलना हिंदी भाषा के लिए बड़ी बात क्यों?
16. मन्नू भंडारी का लेखन और हम लेखिकाओं पर उनका असर
17. लेखक तो कई लेकिन आज का प्रेमचंद कौन?
18. कौन सी संस्कृति है, जिसकी रक्षा के लिए सांप्रदायिकता ज़ोर बांध रही है: मुंशी प्रेमचंद
19. कविता बेआवाज़ को आवाज़ देती है, अनदेखे को दिखाती है, अनसुने को सुनाती है
20. हमारी एकता हमारी बहुलता में है, किसी भाषिक या धार्मिक एकरूपता में नहीं
21. साहित्य हमारे समय में हो रहे अन्यायों की शिनाख़्त करता है और उनसे संघर्ष की प्रेरणा देता है
22. कलाएं हमें अधिक मानवीय, संवेदनशील और सहिष्णु बनाती हैं
23. धूमिल: हिंदी कविता का एंग्री यंगमैन
24. क्या हिन्दी ने बंद कर ली है अपनी ख़िड़कियाँ?
25. रघुवीर सहाय: कुछ न कुछ होगा, अगर मैं बोलूंगा...
26. हिंदी को दूसरों पर थोपना ग़लतः केदारनाथ सिंह
27. दुबई में हिंदी के बगैर काम नहीं चलता
28. नामवर सिंह: हिंदी के 'नामवर' यानी हिंदी के प्रकाश स्तंभ
29. यशपाल: ‘मैं जीने की कामना से, जी सकने के प्रयत्न के लिए लिखता हूं...’
30. महादेवी वर्मा: तू न अपनी छांह को अपने लिए कारा बनाना...
31. हिंदी साहित्य को 'पिद्दी फाइटरों' का नहीं जवानों का भरोसा
32. राजस्थान के हिंदू बहुल गांव में उर्दू सीखने का जुनून
33. हिन्दी दिवस: जानिए हिन्दी क्यों नहीं है राष्ट्रभाषा
34. #हिंदी दिवस: पचास साल बाद बना हिंदी का नया साहित्य ज्ञानकोश
35. भाषाओं की उलझन सियासत ने पैदा की है वो क्या सुलझाएगी?
36. क्योंकि भाषा तो बहता पानी है...

37. हिंदी को अनिवार्य विषय बनाने का पूर्वोत्तर राज्यों में क्यों हो रहा विरोध?
38. साहित्य परब-2022 में साहित्यकारों ने छत्तीसगढ़ के कवियों पर की चर्चा
39. प्रख्यात उपन्यासकार खालिद जावेद को 2022 का जेसीबी साहित्य पुरस्कार
40. अक्षम्य और अमानवीय'..,लेखकों और प्रकाशकों ने सलमान रुश्दी पर हमले की कुछ यूं की निंदा
41. सैलानी रचनाकार-अमृतलाल वेगड़
42. वर्ष 2022 के लिए 57वां ज्ञानपीठ पुरस्कार
43. रामदरश मिश्र को मिला सरस्वती सम्मान
44. नहीं रहे 'फ्रीडम ऐट मिडनाइट' और 'सिटी ऑफ जॉय' के लेखक डोमिनिक लैपियरे
45. उर्दू के मशहूर स्कॉलर गोपीचंद नारंग नहीं रहे
46. साहित्य अकादमी युवा पुरस्कार 2022
47. JLF 2023: जयपुर लिटरेचर फेस्टिवल
48. **.....क्रमश और भी लेख है**

सभी आलेख विभिन्न समाचार पत्रों ,वेब-पोर्टल ,ब्लॉग इत्यादि से संकलित किया गया है।

पत्रिका में प्रकाशित सभी लेख लेखकों की व्यक्तिगत और निजी विचार है।

मैनेजर पांडेय ताउम्र जनविरोधी नीतियों के मुखर आलोचक रहे

मैनेजर पांडेय को जो भी जानता है वह इस बात पर ध्यान दिए बगैर नहीं रह सकता कि जन संस्कृति के साथ उनका जुड़ाव वर्तमान आलोचकों में सबसे अधिक था. इस गहरे जुड़ाव को महज उनकी ग्रामीण पृष्ठभूमि के जरिए नहीं व्याख्यायित कर सकते. कारण यह कि हिंदी आलोचना में सक्रिय वरिष्ठों की पीढ़ी में तकरीबन सभी की जड़ें गांवों में ही रही हैं. इस मूल को अन्य अधिकांश आलोचकों ने जहां भुलाने और दबाने की कोशिश की, वहीं मैनेजर पांडेय ने इसे न सिर्फ़ बहुधा घोषित किया बल्कि जन संस्कृति मंच के साथ जुड़कर इसे सैद्धांतिक ऊंचाई भी दी थी. मैनेजर जी इसी पहलू को इस लेख वरिष्ठ लेखक डॉ.गोपालजी प्रधान बता रहे हैं.

जन संस्कृति मंच (जसम) की स्थापना एक लंबी प्रक्रिया का हिस्सा था. पिछली सदी के अस्सी के दशक में लोकतांत्रिक संगठनों का उभार देश भर में बड़े पैमाने पर हुआ था. याद दिलाने की जरूरत नहीं कि ऐसा आपातकाल के विरोध से बने वातावरण के चलते सम्भव हुआ था. इस व्यापक वैचारिक माहौल के असर से सांस्कृतिक दुनिया में नुक्कड़ नाटकों की धूम थी. जनता पार्टी के बिखराव के बाद इंदिरा गांधी की सत्ता में वापसी के बाद लोकतांत्रिक ताकतों की बड़े पैमाने पर गोलबंदी हुई थी. ऐसे ही वातावरण में बनारस में 1980 में प्रेमचंद की जन्म शताब्दी पर आयोजित एक सम्मेलन में राष्ट्रीय जनवादी सांस्कृतिक मोर्चा और पटना के एक सम्मेलन में नवजनवादी सांस्कृतिक मंच का गठन हुआ था. इसी तरह के अनेक संगठनों के निर्माण और उनकी आपसी चर्चा का समेकन जसम के रूप में सामने आया. ये सभी मंच और मोर्चे हिंदी की साहित्यिक सांस्कृतिक दुनिया में नक्सलबाड़ी आंदोलन के प्रभाव को प्रतिबिंबित कर रहे थे. रोचक तथ्य है कि बांगला, तेलुगू या पंजाबी जैसी अन्य भारतीय भाषाओं के मुकाबले हिंदी में यह प्रभाव संगठन के रूप में अपेक्षाकृत देर से सामने आया लेकिन जब आया तो बेहद परिपक्व रूप में.

प्रोफेसर मैनेजर पांडेय जनकवि नागार्जुन के साथ

जसम से वे स्थापना काल से जुड़े थे

जसम के साथ मैनेजर पांडेय के जुड़ाव का एक कारण इसके संस्थापक महासचिव गोरख पांडेय भी थे. गोरख जी बस्ती के रहनेवाले थे जो मैनेजर जी के घर सिवान से तकरीबन लगा हुआ है. इस सिलसिले में हिंदी कवि सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के बारे में भी कुछ कहना जरूरी है. उनके संबंध में नामवर सिंह के अंधभक्त संस्मरण लेखकों ने एक प्रवाद फैला रखा है. बारम्बार ऐसा लिखा गया कि उन्होंने होली के दिन रंग डालने से नामवर सिंह को रोकने के लिए कुश्ती कर ली थी. इससे लगता है मानो वे भारतीय संस्कृति के विरुद्ध रहते थे. इसे साहित्यकारों की आपसी ईर्ष्या के बतौर भी प्रस्तुत किया जाता है. उस घटना के बारे में लिखने वाले लोगों ने यह नहीं बताया कि उस साल होली भगत सिंह के शहीद दिवस के दिन पड़ी थी. अब के लोहियावादी भी लगभग भूल गये हैं कि लोहिया अपना जन्मदिन इसीलिए नहीं मनाते थे क्योंकि वह भगत सिंह की शहादत के दिन पड़ता था. लेकिन सर्वेश्वर को यह याद था तो ऐसी ही मान्यताओं वाले सर्वेश्वर अपने अंतिम दिनों में वामपंथी आंदोलन की तीसरी धारा की ओर खिंचे थे. वे आईपीएफ़ के स्थापना सम्मेलन में शरीक तो हुए ही उसके राष्ट्रीय पार्षद भी चुने गये थे. वे भी गोरख के पड़ोस गोरखपुर के रहनेवाले थे. बहरहाल उनकी मृत्यु जन संस्कृति मंच की स्थापना से पहले ही हो गयी अन्यथा वे भी इस प्रयास के सहभागी होते. मंच के साथ मैनेजर जी का जुड़ाव शुरुआत से ही हो

गया था. जसम के निर्माण के लिए बनी तैयारी समिति में तो वे थे ही, उसकी स्वागत समिति में भी थे. स्थापना सम्मेलन दिल्ली में हुआ था .

नक्सलबाड़ी के योगदान को मैनेजर पांडेय ने रेखांकित किया

जन संस्कृति मंच की स्थापना 1985 में हुई. गोरख पांडेय इसके महासचिव और पंजाबी के मशहूर नाटककार गुरुशरण सिंह अध्यक्ष निर्वाचित हुए. प्रोफ़ेसर मैनेजर पांडेय सम्मेलन में सक्रिय रूप से शामिल हुए और राष्ट्रीय कार्यकारिणी के सदस्य चुने गए. इसके तुरंत बाद हुए दिल्ली राज्य सम्मेलन में वे दिल्ली इकाई के अध्यक्ष निर्वाचित हुए. जवाहर लाल नेहरु विश्वविद्यालय की अकादमिक व्यस्तताओं के बावजूद वे चंडीगढ़ मे हुए पहले सालाना जलसे और फिर हजारीबाग की गोष्ठी में गोरख जी के साथ ही शरीक रहे. हिंदी साहित्य का वह दशक कवियों की अस्सी दशक की पीढ़ी की आत्ममुग्धता के समक्ष नक्सलबाड़ी के योगदान को दबाने या नकारने की कोशिशों का था. गोरख पांडेय के साथ ही मैनेजर जी ने भी आधुनिक हिंदी कविता के इतिहास में नक्सलबाड़ी के योगदान को बल देकर रेखांकित किया. विभिन्न सभाओं और गोष्ठियों में उन्होंने कहा कि समाज के इतिहास में साहित्य के हस्तक्षेप के तो छोटे उदाहरणों को भी साहित्यवादी विचारक बढ़ा चढ़ा कर दिखाते हैं लेकिन साहित्य के इतिहास में समाज के हस्तक्षेप की परंपरा के भीतर नक्सलबाड़ी की चर्चा उदाहरण के बतौर भी नहीं होती. इस परिघटना पर जोर देते हुए उन्होंने कहा कि इस आंदोलन ने न सिर्फ़ अपने समय की जन विरोधी साहित्यिक प्रवृत्तियों को खामोश कर दिया बल्कि अपने पूर्ववर्ती साहित्य की प्रासंगिकता में भी हस्तक्षेप किया. प्रगतिशील कवि नागार्जुन, त्रिलोचन और केदार नाथ अग्रवाल उस तमाम समय में सक्रिय रहे जब नयी कविता और उसके बाद विभिन्न आधुनिकतावादी काव्य प्रवृत्तियों का जोर रहा लेकिन इस शोरगुल में उनकी आवाज दबी रही थी. नक्सलबाड़ी से उपजी वैचारिकी ने उन्हें दोबारा प्रासंगिक बना दिया. न सिर्फ़ प्रगतिशील काव्यधारा बल्कि रघुवीर सहाय और सर्वेश्वर दयाल सक्सेना जैसे लोहियाई विपक्ष के कवियों को भी नक्सलबाड़ी ने पुनर्जीवन दिया.

प्रोफेसर पांडेय कार्यकारिणी के सदस्य बनाए गए

बहरहाल जन संस्कृति मंच का दूसरा सम्मेलन पटना में 1988 में गोरख पांडेय के जीवनकाल में ही हुआ लेकिन मानसिक स्वास्थ्य ठीक न होने से वे इसमें भाग न ले सके. इस सम्मेलन तक परिस्थिति बदल जाने से एक नया दस्तावेज पेश किया गया जिसके ढीले ढाले ढंग से सूत्रबद्ध होने पर मैनेजर जी ने आपत्ति जाहिर की. सम्मेलन ने राणा प्रताप को महासचिव और शिव मंगल सिद्धांतकार को कार्यकारी अध्यक्ष चुना. मैनेजर पांडेय कार्यकारिणी के सदस्य बने रहे.

सम्मेलन के बाद के वर्षों में बिहार, लालू यादव मार्का सामाजिक न्याय के उभार की प्रयोगभूमि बना जिसमें दलितों के संहार और लोकतांत्रिक संस्थाओं की बदहाली विशेष रहे. सांप्रदायिकता के विरोध के नाम पर पारंपरिक वामपंथ लालू के साथ खड़ा हो गया. किसी भी जीवंत संगठन की तरह जसम भी इसके चलते बिखराव का शिकार हुआ. इस दौर में न सिर्फ़ बिहार बल्कि केंद्र में भी जनता दल की सरकार को अपूर्व आमसहमति के तौर पर भाजपा और माकपा दोनों का समर्थन प्राप्त हुआ था. स्वाभाविक रूप से किसी भी जनविरोधी सरकारी कदम का विरोध करते हुए जनता के हाथ बँधे रहते थे. बिहार में एक के बाद एक नरसंहार होते रहे लेकिन सरकारी वामपंथ हाथ बाँधे खड़ा रहा. उस समय की विडंबना को मैनेजर जी सभाओं और गोष्ठियों में एक लोककथा के माध्यम से अनेक बार बताते थे. कथा के मुताबिक जंगल को काटने का आदेश हुआ तो पेड़ों में हलचल मची लेकिन एक बुजुर्ग पेड़ ने कहा कि जब तक हममें से ही कोई इन पेड़ काटनेवालों का साथ नहीं देगा तब तक चिंता करने की कोई जरूरत नहीं है. अंततः पेड़ काटने वालों के पास के हथियारों में एक पेड़ की लकड़ी का बेंट लगा तभी वे पेड़ काटने में कामयाब हो सके. यह कथा शासक वर्ग के साथ वामपंथ की एक धारा के खड़े हो जाने से जनता के निहत्थे हो जाने की विडंबना को बखूबी जाहिर करती थी.

इसके उपरांत लंबे अंतराल के बाद तीसरा सम्मेलन वाराणसी में हुआ जिसमें त्रिलोचन शास्त्री अध्यक्ष और राम जी राय महासचिव चुने गए. मैनेजर पांडेय को कार्यकारिणी में यथावत बनाए रखने का फ़ैसला सम्मेलन ने किया. सम्मेलन का केंद्रीय विचार विंदु भाजपाई उभार के विरुद्ध एक नए नवजागरण की जरूरत था. चौथा सम्मेलन इलाहाबाद में हुआ जिसमें यही टीम जारी रही. इसमें भी पांडेय जी कार्यकारिणी में चुने गए. भाजपा संचालित

सांस्कृतिक राष्ट्रवादी अभियान के विरोध में अनेकशः उन्होंने कहा कि यह भारत की दूसरी खोज का अभियान है. पहली खोज के पीछे स्वाधीनता अर्थात भविष्य के भारत की लोकतांत्रिक और धर्मनिरपेक्ष आकांक्षा थी तो इस दूसरी खोज के पीछे प्राचीन भारत की पुनर्स्थापना की हताशा भरी कोशिश काम कर रही है .

जसम के सातवें सम्मेलन में उपाध्यक्ष चुने गए मैनेजर पांडेय

जसम का पाँचवाँ सम्मेलन 1998 में दिल्ली में हुआ जिसमें बृज बिहारी पांडेय महासचिव चुने गए. सम्मेलन के कुछ ही दिन पहले नागभूषण पटनायक की मृत्यु होने के कारण पहले दिन का खुला सत्र शोकसभा में बदल गया जिसमें मैनेजर पांडेय शरीक रहे. छठवाँ सम्मेलन बनारस में हुआ जिसमें अजय सिंह महासचिव बने. सातवाँ सम्मेलन पटना में हुआ जिसमें मैनेजर पांडेय को उपाध्यक्ष चुना गया. आठवाँ सम्मेलन राँची में हुआ जिसमें मैनेजर जी को जसम का अध्यक्ष चुना गया . तबसे निरंतर प्रोफ़ेसर मैनेजर पांडेय लम्बे समय तक न सिर्फ़ संगठन के अध्यक्ष पद पर बने रहे, बल्कि एक सक्रिय कार्यकर्ता और नेता की तरह निरंतर संगठन का मार्गदर्शन करते रहे. इस दौरान जसम का नवाँ सम्मेलन बेगूसराय में हुआ जिसमें प्रणय कृष्ण को महासचिव चुना गया. दसवें और ग्यारहवें सम्मेलन क्रमशः धूमिल के गाँव खेवली और भिलाई में हुए जिनमें पदाधिकारियों की यही टीम जारी रही. मैनेजर पांडेय की सक्रियता और नेतृत्व जसम के प्रत्येक कार्यक्रम में दिखायी पड़ती रही. भिलाई सम्मेलन में दस्तावेज पर चल रही बहस में निर्णायक हस्तक्षेप करते हुए उन्होंने परिस्थिति को निराशाजनक बताने के विचार का खंडन करते हुए लातिन अमेरिकी जनता के साम्राज्यवाद विरोधी संघर्षों की ओर प्रतिनिधियों का ध्यान खींचा. देश के स्तर पर भी उन्होंने जगह जगह चलने वाले भूमि अधिग्रहण विरोधी संघर्षों की सकारात्मक भूमिका को रेखांकित किया. उन्होंने किसानों की आत्महत्याओं का उदाहरण देते हुए कहा कि दुनिया में अन्य किसी भी देश में इतने बड़े पैमाने पर किसानों ने आत्महत्या नहीं की है इसलिए प्रथम किसान की आत्महत्या वाले दिन को राष्ट्रीय शर्म दिवस के बतौर मनाया जाना चाहिए. कहने की जरूरत नहीं कि वर्तमान किसान आंदोलन ने उनके इस सरोकार पर मुहर लगायी है.

स्थापना सम्मेलन में ही मैनेजर जी ने जसम का व्यापक परिप्रेक्ष्य सामने रखते हुए कहा था कि 'पहली बार संपूर्ण सांस्कृतिक संदर्भों को ध्यान में रखकर संगठन बनने जा रहा है. यह सिर्फ़ लेखकों का संगठन न होकर तमाम रचनाकारों का संगठन है जो नयी बात है. उन्होंने यह भी कहा था कि संपूर्ण सांस्कृतिक संदर्भ को ध्यान में रखकर ही संगठन का घोषणापत्र तैयार किया गया है.' इससे पहले प्रलेस और जलेस केवल लेखकों के संगठन थे. इसके चलते ही जब राँची में बाजारवाद के विरुद्ध केंद्रित सम्मेलन में वे अध्यक्ष बने तो उन्होंने मीडिया, लोकभाषाओं और आदिवासी संस्कृति पर विभिन्न कार्यशालाओं की योजना प्रस्तुत की. अंततः गुरुशरण सिंह, कुबेर दत्त और राम दयाल मुंडा की याद में आयोजित एक सभा में जसम ने इन कामों को पूरा करने का संकल्प घोषित किया. जन संस्कृति और लोकभाषाओं के प्रति उनके अनुराग को हम भिखारी ठाकुर से जुड़े उनके काम तथा कबीर को मूलतः भोजपुरी कवि मानने के आग्रह में देख सकते हैं. जन संस्कृति की इसी भावना के वशीभूत वे लगभग हरेक साल जनूबी पट्टी जिला बस्ती में आयोजित 'लोकरंग' नामक कार्यक्रम में मौजूद रहते हैं.

प्रखर आलोचक और बड़े लेखक थे प्रोफेसर पांडेय

सोवियत संघ के पतन से उपजे माहौल में उन्होंने अनुवाद और संग्रह करके एक पुस्तक प्रकाशित करवायी जिसका शीर्षक ही था 'संकट के बावजूद' . इससे पहले ही उन्होंने सृजनात्मक तरीके से इस माहौल में हस्तक्षेप करते हुए क्रांतिकारी कविताओं के एक संकलन 'मुक्ति की पुकार' का संपादन किया था जिसकी भूमिका का शीर्षक ही है 'अँधेरी रात में जलती मशाल' . इन कामों में समाजवाद के पहले प्रयोग को लगे धक्के के वस्तुगत मूल्यांकन के साथ ही आशा के नए केंद्रों की तलाश की गयी है. खासकर 'संकट के बावजूद' की लंबी भूमिका में उन्होंने समाजवाद के धक्के के बाद उपजी वैचारिकी उत्तर आधुनिकता का जोरदार प्रत्याख्यान किया. हाल में ही उत्तर आधुनिक दौर में मध्ययुगीनता की वापसी को उजागर करते हुए उन्होंने कई लेख लिखे हैं. उन्होंने सामाजिक विज्ञान की एक पत्रिका हिंदी में निकालने की तैयारी भी की ताकि हिंदी भाषी जनता में विद्वानों तक ही चलने वाली बहसों को न सिर्फ़ सुलभ कराया जा सके वरन इन सामाजिक विज्ञानों की दुनिया में हिदी भाषी जनता के ठोस अनुभवों का प्रवेश भी कराया जा सके. इस योजना पर भी काम होना चाहिए क्योंकि जनता और बौद्धिकों के बीच के इस बड़े अंतराल को पाटना अज्ञानता के वर्तमान महिमामंडन में बेहद जरूरी हो गया है. सामाजिक विज्ञानों की दुनिया में वे रणधीर सिंह और एजाज अहमद से नजदीकी का अनुभव करते हैं क्योंकि ये विद्वान उन्हीं की तरह पश्चिमी जगत से आने वाले विचारों की आँधी में उड़ते नहीं बल्कि तीसरी दुनिया के मुल्कों में जारी जन संघर्षों की आँच से प्रेरणा ग्रहण करके उन विचारों से सार्थक बहस करते हैं. मार्क्सवादी चिंतन परंपरा के भीतर उनकी गहरी जड़ें हैं और मार्क्स के अलावा वे ग्राम्शी से खासकर सांस्कृतिक प्रश्नों पर ढेर सारा साझा करना पसंद करते हैं.

उन्होंने दारा शिकोह के काम को किया उजागर

मैनेजर पांडेय ने समस्त धर्मनिरपेक्षता पर चली बहस में दारा शिकोह के काम को उजागर करके नया कोण पैदा किया है . मुगल बादशाहों की हिंदी कविता को सामने लाना उनकी इसी चिंता का अभिन्न अंग है. ऐसे ही अतीत चर्चा के शोर में बौद्ध चिंतक अश्वघोष की वज्रसूची पर बातचीत के जरिए उन्होंने इस बहस में नया आयाम जोड़ा. भारत के पुनः उपनिवेशीकरण के वैचारिक माहौल में देउस्कर की किताब की लंबी भूमिका के साथ उसका संपादन और प्रकाशन एक अलग तरह का हस्तक्षेप था. दलित और स्त्री विमर्श के प्रति उनका रुख संवाद का रहा है. महादेवी वर्मा की किताब 'शृंखला की कड़ियाँ' पर उनका लेख स्त्री विमर्श संबंधी बहस में ठोस योगदान था. समकालीन के साथ संवाद करते हुए अपने समय के संदर्भ में अतीत का नया पाठ उन्हें क्लासिक चिंतकों की कतार में खड़ा करता है.

उनका मानना है कि किसी भी सांस्कृतिक संगठन को साहित्यकार और पाठक के बीच पुल का काम करना चाहिए. यह काम यांत्रिक तरीके से नहीं बल्कि सृजनात्मक ढंग से किया जाना चाहिए. इसके लिए एक ओर तो संगठन को साहित्य के प्रचार प्रसार के लिए कवि सम्मेलन, नाटक और कार्यशालाओं का आयोजन करना होगा दूसरी तरफ़ निर्देश की शैली में नहीं वरन बहस मुबाहसे के जरिये साहित्य के सामने उपस्थित प्रश्नों पर वैचारिक साफ सफाई करनी होगी. इसके लिए उन्होंने कविता, कहानी और आलोचना की हालत पर कार्यशालाओं का प्रस्ताव रखा. उन्होंने यह भी प्रस्तावित किया कि संगठनों को साहित्यकारों की मदद करनी चाहिए और उन्हीं की पहल पर जसम ने वरिष्ठ कथाकार अमरकांत की आर्थिक सहायता की.

मैनेजर पांडेय ताउम्र जनविरोधी नीतियों के थे मुखर आलोचक

मैनेजर जी पंजाब में आतंकवाद के दिनों में तथा काश्मीर और पूर्वोत्तर में लगातार चल रहे राज्य दमन के धुर विरोधी तो हैं ही, आंध्र और देश के अन्य हिस्सों में नक्सलवाद को दबाने के नाम पर जारी दमन की मुखालफ़त के प्रयासों में वे शरीक रहे हैं. सभाओं और गोष्ठियों में उनकी उपस्थिति हमेशा एक ताजगी भरा माहौल पैदा करती है . इन उपस्थितियों ने उन्हें एक सम्मानित सार्वजनिक बौद्धिक बना दिया है.

विगत कुछ वर्षो से जसम के प्रत्यक्ष पदाधिकारी न रहते हुए भी वे लगातार सक्रिय रहकर संस्कृति के क्षेत्र में जन पक्षधरता को पोषित करने वाले कामों को प्रोत्साहित करते रहे हैं. जनकवि नागार्जुन से उनका घनिष्ठ संवाद लेखन के स्तर पर तो रहा ही, उनके नाम पर एक पुरस्कार की स्थापना के जरिये वे लगातार जन पक्षधर लेखन

के महत्व को उजागर कर रहे हैं. व्यावहारिक और वैचारिक सक्रियता के इस दीर्घ जीवन में उनका सांगठनिक जुड़ाव किसी गुणा गणित से प्रभावित नहीं रहा बल्कि यह उनकी वैचारिक मान्यताओं का प्रतिफलन रहा है. इसके जरिये उन्होंने इस मान्यता का प्रबल प्रतिवाद किया है कि साहित्यकार के किसी संगठन से संबद्ध होने से उसकी सक्रियता में बाधा आती है. जसम के साथ उनका जुड़ाव उनकी व्यापक प्रतिबद्धता का अंग है . सबूत यह कि जसम में रहते हुए भी वे तमाम ऐसी पहलकदमियों के साथ खड़े रहते हैं जिनके सहारे संस्कृति की दुनिया में कामगार मनुष्य की मौजूदगी दर्ज हो सके.

(वरिष्ठ लेखक डॉ. गोपालजी प्रधान दिल्ली के अंबेडकर विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हैं. यह उनके निजी विचार हैं.)

****

शेखर जोशी आप चले गए, अब *"दाज्यू"* के मदन के आंसुओं की कौन फिक्र करेगा?

हमारे देश में बच्चों की चिंता न सरकारें करती हैं और न ही समाज इसलिए मुफलिसी में वो होटलों या ढाबों में लोगों की झूठी प्लेट और प्याले मांजता है और थोड़ी सुख-सुविधा वाले घर में पैदा हो गया तो अपने माँ-बाप के सपने. व्यवस्था आज़ादी से पहले भी बचपन बचाने के लिए कुछ ख़ास नहीं कर रही थी और जब अंग्रेजों से मुक्ति मिली तब से लेकर आज लगभग सात दशक बीत जाने के बाद भी उसे (बचपन) बचाने की कोई बड़ी कोशिश हुई नहीं दिखती है. स्तिथियों में कोई सुधार हुआ हो, ऐसा नहीं जान पड़ता. देश के किसी हिस्से में चले जाएं आपको बदहाल बचपन के दर्शन आसानी से हो जाएंगे लेकिन बदहाल और बदहवास बचपन को लेकर पिछले १०-२० साल में कोई ढंग की कहानी शायद ही लिखी गयी होगी. बदहाली की यह व्यवस्था सनातनी है. बल्कि बच्चों की हालत और ख़राब हुई है, उसके शोषण के नए-नए पैरामीटर भी विकसित हुए हैं. आज की तारीख में लाखों बच्चे मनोरंजन उद्योग में स्कूल और खेल के मैदान को छोड़कर पैसा और अल्पकालिक शोहरत कमाने की मशीन बन चुके हैं. गरीबी और भुखमरी की वजह से बच्चों पर जिम्मेदारी का बोझ असमय ही आ पड़ता है. बच्चों और खास तौर पर दलित और आदिवासी बच्चों के स्कूल बीच पढाई में छोड़ने के रिकॉर्ड में इजाफा ही हुआ है. मतलब ये बच्चे स्कूल छोड़कर कहां जा रहे हैं, पड़ताल करने पर पता लगता है कहीं खेतों, ढाबों, होटलों, स्टेशन पर जूते चमकाने से लेकर कई तरह के अपराधिक कार्यों में लगे हुए. वे नशाखोरी में लिप्त हो रहे हैं. ये बातें यहां इसलिए कर रहा हूं क्योंकि हिंदी के एक बड़े कहानीकार शेखर जोशी जिनका आज निधन हो गया. उनकी एक बेहद मर्मस्पर्शी कहानी है- दाज्यू. यह कहानी बालमनोविज्ञान और गरीबी की कहानी है.

9-10 साल के छोटे से लड़के की कहानी है दाज्यू

उत्तराखंड में दाज्यू, बड़े भाई को कहा जाता है. कहानी एक अल्मोड़ा जिला के एक गांव से भागकर आये हुए 9-10 साल के छोटे से लड़के मदन की है. मदन, गोरा-चिट्टा रंग, नीली शफ्फाफ आंखों वाला, सुनहरे बाल और चाल में एक अनोखी मस्ती वाला लड़का है. वह एक छोटे से कैफ़े में हेल्पर का काम करता है. इसी कैफ़े में जगदीश बाबू की मदन से मुलाक़ात होती है. जगदीश बाबू उससे गांव का पता-ठिकाना पूछ लेते हैं और उन्हें पता लगता है कि मदन उनके आसपास के गांव का है. धीरे-धीरे दोनों के बीच से दूरी कब सिमट जाती है, इसका पता ही नहीं चलता है. जगदीश बाबू के चेहरे पर पुती हुई एकाकीपन की स्याही दूर हो गई और जब उन्होंने मुस्करा कर मदन को बताया कि वे भी उसके निकटवर्ती गांव '.....' के रहने वाले हैं तो लगा जैसे प्रसन्नता के कारण अभी मदन के हाथ से 'ट्रे गिर पड़ेगी। उसके मुंह से शब्द निकलना चाह कर भी न निकल सके। खोया-खोया सा वह मानो अपने अतीत को फिर लौट-लौट कर देखने का प्रयत्न कर रहा हो। अतीत- गांव...ऊंची पहाडियां...नदी...ईजा (मां)...बाबा...दीदी...भुलि (छोटी बहन)...दाज्यू (बड़ा भाई)...!

मदन को जगदीश बाबू के रूप में किसकी छाया निकट जान पड़ी! ईजा?- नहीं, बाबा?- नहीं, दीदी,...भुलि?- नहीं, दाज्यू? हां, दाज्यू!

दो-चार ही दिनों में मदन और जगदीश बाबू के बीच की अजनबीपन की खाई दूर हो गई. टेबल पर बैठते ही मदन दाज्यू-दाज्यू रटने लग गया.

कुछ दिनों बाद जगदीश बाबू का एकाकीपन दूर हो गया. उन्हें अब चौक, केफे ही नहीं सारा शहर अपनेपन के रंग में रंगा हुआ सा लगने लगा. परंतु अब उन्हें यह बार-बार 'दाज्यू कहलाना अच्छा नहीं लगता और यह मदन था कि दूसरी टेबल से भी 'दाज्यू'.... एक रोज जगदीश बाबू ने झल्लाकर मदन से कह ही दिया कि यह दाज्यू, दाज्यू क्या लगा रखा है? तुम्हें प्रेस्टीज का खयाल ही नहीं है. मदन भीतर तक हिल गया और अपनी कोठरी में घुटनों में सर छुपाकर खूब रोया लेकिन उसने अब तय कर लिया कि वह कैफ़े में बॉय बनकर ही रहेगा और यहाँ आने-जाने वाले ग्राहक सिर्फ और सिर्फ शाब. इसलिए जगदीश बाबू के साथ हेमंत के इस कैफ़े में पहुंचने और नाम पूछने के बाद उसने अपना नाम पूछने के बाद भी अपना नाम बॉय ही बताया था. जगदीश बाबू और मदन अब एक-दूसरे से अपरिचित सा व्यवहार करने लग जाते हैं. जगदीश बाबू को अपनी प्रेस्टीज का खयाल हो आता है और मदन को अपनी हैसियत का. इस कहानी में क्लास डिफरेंस और वर्ग चेतना को लेकर मनुष्य की सक्रियता को बहुत ही बारीकी से पकड़ने और दिखाने की कोशिश की गयी है. मध्वर्गीय और शहरी कुंठा के बोझ तले बचपन को तिल-तिल दम तोड़ते हुए दिखाया गया है. कहानी में संकेत और प्रतीकों और शारीरिक हावभाव का उपयोग शब्दों की तुलना में अधिक प्रभावशाली तरीके से किया गया है.
देश की गुलामी से लेकर आज आज़ादी मिलने के सात दशकों के बाद भी बचपन को बचाने को लेकर केवल बाल मजदूरी कानून के प्रावधान भर किये गए हैं उन्हें लागू करने में कोई ख़ास दिलचस्पी किसी भी रंग के झंडेबरदारों ने नहीं किया है. अचरज तो यह है कि आज इन विषय को कलमकार अपनी कहानी का विषय तक नहीं बनाना नहीं चाहते हैं. दरअसल ज्यादातर राजनीतिक पार्टियों ने बचपन बचाने और उसे संवारने को मुद्दा नहीं बनाया. छिटपुट आंदोलन को छोड़ दें तो कोई बहुत जोरदार आंदोलन नहीं चलाया गया. मेरी नजर में हाल के कुछ वर्षों में बालमनोविज्ञान से जुड़ी इतनी शानदार कोई कहानी भी नहीं गुजरी है. शेखर जोशी आप जैसा लेखक सदियों में एक पैदा होते हैं जो मनुष्यता बचाने की कहानी रचते हैं.

आपको नमन.

****

शेखर जोशी: अलविदा कोसी के घटवार

शेखर जोशी नहीं रहे. वे नब्बे बरस के थे और पिछले हफ्ते दस दिन से अस्पताल में भर्ती थे. मूलत: उत्तराखंड के निवासी शेखर जोशी का जीवन इलाहाबाद में बीता जहां का उनका पता 100 लूकरगंज जैसे हिंदी के कहानी प्रेमियों के मानस में एक स्थाई शब्द युग्म की तरह अंकित हो गया था. पत्नी के निधन के बाद वे दिल्ली चले आए और पिछले कुछ सालों से दिल्ली ही उनका स्थाई निवास था. सुनने और देखने की बाधाओं के कारण वे दिल्ली में शायद ही किसी सार्वजनिक आयोजन में गए. अब जबकि वे नहीं हैं, उनका न होना बड़ी अनुपस्थिति है. संभवत: वे नयी कहानी आंदोलन के अंतिम कथाकार थे.

बहुत कम लेखकों को यह सौभाग्य मिलता है कि उनकी कलम से कोई ऐसी रचना निकल जाए जो उनकी स्थाई पहचान बन जाए. शेखर जोशी को यह सौभाग्य मिला था. उनकी कहानी 'कोसी का घटवार' ऐसी कहानी है जिसके बिना हिंदी की श्रेष्ठ कहानियों का कोई संकलन बन ही नहीं सकता. एक रिटायर्ड फ़ौजी के प्रेम की स्मृतियों से बनी यह कहानी अपनी संवेदना में अपूर्व है. जीवन में रिक्तता का ऐसा गहरा बोध कम रचनाओं में उभरकर आता है.

कहानी मामूली लोगों के जीवन को आधार बनाती है और इसकी प्रेरणा अत्यन्त गैर मामूली है. 'प्रेमा पुमर्था महान', प्रेम स्वयं ही पुरुषार्थ है, प्रेम के लिए कोई उद्देश्य खोजना नासमझी है. शेखर जोशी इस प्रेम की शाश्वतता को फिर आकार देते हैं. कहानी को याद कीजिए जब 'लछमा उस ओर पीठ किए बैठी थी. उसने (गुसांई ने) जल्दी-जल्दी अपने निजी आटे के टीन से दो-ढाई सेर के करीब आटा निकाल कर लछमा के आटे में मिला दिया और

सन्तोष की एक सांस ले कर वह हाथ झाड़ता हुआ बाहर आ कर बाँध की ओर देखने लगा.' कहना नहीं है कुछ भी. कह दिया तो इंकार तय है क्योंकि लछमाएं जिद्दी जो होती हैं.

कहानी में एक मार्मिक प्रसंग और भी है. गुसांई ने आटा गूंथ कर रोटी बनाने की तैयारी कर ली थी, तभी लछमा ने रोटी पकाने देने की इच्छा ऐसे स्वर में प्रकट की कि गुसांई ना न कह सका. गुसांई देखता रहा और जब चाय के साथ एक रोटी खायी तो कह गया–'लोग ठीक ही कहते हैं, औरत के हाथ की बनी रोटियों में स्वाद ही दूसरा होता है.' यह वह गुसांई है जो लछमा की चाह में जीवन भर अकेला रहा और रहेगा. विडम्बना तो देखिए कि लछमा के पिता ने जिस भरे पूरे घर में उसे ब्याहा था वह न रहा और भरे पूरे घर वाले भी उसके सगे न रहे. जिसकी जान परदेश में बन्दूक की नोक पर थी वह फिर आ गया. खाप पंचायते कहाँ नहीं हैं? झगड़ा केवल गोत्र का ही नहीं होता.

नई कहानी आंदोलन की प्रचलित त्रयी से अलग जोशी असल में भीष्म साहनी और अमरकांत के साथ ऐसी त्रयी बनाते थे जिनकी कहानियों में भारतीय जन जीवन के स्वप्न और आकांक्षाएं बोलते हैं. इन कहानीकारों के यहां कहानी की पच्चीकारी नहीं जीवन की उधेड़बुन मिलती है. बाद में जोशी जनवादी लेखक संघ में भी रहे जिसे उनके वैचारिक प्रतिबद्धताओं का एक पक्ष मानना चाहिए.नयी कहानी के बाद के परिदृश्य में भी वे सक्रिय रहे और जीवन के अंतिम वर्षों में उन्होंने कविता तथा कथेतर लेखन भी किया.

आत्मकथात्मक कृति 'मेरा ओलियागांव' में आयु के आठवें दशक में उन्होंने अपने बचपन के दिनों और जगहों को याद किया है. 'मेरा ओलियागांव' उनकी आत्मकथा नहीं किन्तु यहां उनके बचपन का लंबा समय मौजूद है जिसमें औपनिवेशिक दौर के पहाड़ी समाज के चित्र और उनका अपना जीवन संघर्ष है. जोशी अट्ठाइस अध्यायों में विभक्त इस कृति में अपने बचपन के दोस्तों, घर-परिवार, रीति-रिवाज, खेती-बाड़ी, पशु-पक्षी और गांव के जीवन की पुनर्रचना करते हैं. अपनी प्रकृति में यह पुस्तक अक्सर संस्मरणों के निकट जान पड़ती है लेकिन लेखक के लिए मुख्य चिंता रूप की नहीं है. किताब के छोटे छोटे अध्याय जोशी के बचपन और गांवों में अभावों के बावजूद जीवन की मस्ती के अनेक प्रसंग मिलते हैं.

ख़ास बात यही है कि व्यतीत के मोहक चित्रों में भी लेखक की दृष्टि द्वंद्वात्मक है. वे पंडितों के भोजन प्रेम का वृत्तांत सुनाते हैं तो वर्तमान दुर्दशा के तार्किक कारणों की खोज भी करते हैं. सामाजिक भेदभावों और जाति-वर्ग जनित अन्यायों की अनदेखी यहां नहीं है. एक जगह उन्होंने लिखा है, 'हाथ की कारीगरी को अछूत कर्म मानने का नतीजा यह हुआ कि परिवार के सदस्यों की संख्या बढ़ने पर जमीन के बंटवारे और दूसरे के श्रम पर निर्भरता के कारण सवर्ण लोग गरीबी की ओर बढ़ते गए और नौकरी की तलाश में गांवों से विस्थापित होते गए.' जिस भरे पूरे गांव-घर के चित्र से पुस्तक शुरू हुई है अंत में वह दृश्य नहीं है लेकिन जो है वह आशा का उजाला फैलाने वाला है.

उनके प्रमुख कहानी संग्रह कोसी का घटवार(1958), साथ के लोग (1978), हलवाहा (1981), नौरंगी बीमार है (1990), मेरा पहाड़ (1989), डांगरी वाले(1994) और बच्चे का सपना (2004) है. उनके लिखे संस्मरण 'एक पेड़ की याद;' पुस्तक में संगृहीत हैं. उनकी सम्पूर्ण कहानियों का संकलन प्रेस में चला गया था और शीघ्र ही आने को था. काश वे इसे देख पाते.

****

निर्बंध: सहानुभूति, स्वानुभूति और (सं)रचना

राम जन्म पाठक

Literature and Empathy: दलित साहित्य के सामने सबसे बड़ी चुनौती थी कलावाद, प्रयोगवाद और साहित्य के पुराने मानकों से निपटने की। कलावादियों के अलावा, जनवादी-मार्क्सवादी लेखक और विचारक भी दलित साहित्य के किसी धारा को तब तक अंगीकार करने से इनकार करते रहे, जब तक कि उसने अपनी स्वायत्तता और प्रक्रिया (प्रोसेस) को खुलकर सामने नहीं रखा। दलित साहित्य के समक्ष बड़ी चुनौती थी अपने साहित्यिक मानदंडों को सुपरिभाषित करने की। ऐसे में मराठी भाषा के लेखक शरण कुमार लिंबाले की मराठी आत्मकथा " अक्करमाशी" ने जैसे राजमार्ग खोल दिया। यही तो वह नाभि में छिपी कस्तूरी थी, जिसकी तलाश में हिंदी पट्टी के दलित विचारक थे।

राजेंद्र यादव ने विधिवत घोषणा की कि 'आत्मकथाएं' ही दलित साहित्य की रीढ़ हैं। 'अक्करमाशी' मराठी में पर्याप्त आलोचना झेल चुकी थी। इसकी भाषा को लेकर, इसके शीर्षक को लेकर प्रश्न उठाए गए थे। अक्करमाशी का शाब्दिक अर्थ तो होता है ग्यारह माशे का। सोने के एक तोले में बारहमाशा होता है यानी तोले से एक माशा कम। यानी ऐसी चीज, जिसमें कुछ खोट रह गई है। इसका भावात्मक अर्थ ज्यादा नुकीला था। इससे भद्रसाहित्य को चोट पहुंची। ऐसी संतान, जो विवाहित पति-पत्नी से न पैदा हुआ। यह वही महाभारत का सूतपुत्र, जारज संतान था, जिसे इस्लाम में ज्यादा नंगे ढंग से 'हराम की औलाद' माना गया। यही वह मानुष था, जो 'दलित' था। लिंबाले ने दुखते रग पर हाथ रख दिया था। इसके बाद हिंदी में भी जूठन, अछूत, तिरस्कृत, अपने-अपने पिंजरे, दोहरा अभिशाप प्रभृत आत्मकथाएं सामने आईं।

ये ऐसी (सं)रचनाएं (constructions) थीं, जिससे साहित्य की मुख्यधारा की भृकुटि में तनाव आ गया। लेकिन, बाद में उसने माना कि दलित चिंतन कोई स्वतंत्र धारा तो नहीं, हां एक धारा अवश्य है। दलित साहित्य को हिंदी में अवकाश मिल गय, जो कि अबाध जारी है। दलित साहित्य ने पारंपरिक साहित्य के तत्कालीन विभिन्न स्वरूपों, मसलन, यथार्थवाद, जादुई यथार्थवाद, कलावाद वगैरह को भीषण चुनौती दे दी, फिर भी वह अभी उस बीजरूप को, पुंजीभूत आकुलता को व्यक्त करने की छटपटाहट में था। तभी किसी 'उदयाचल' पर वह स्वर्ण-रश्मि चमकी। सुकोमल प्रभात में उन्हें एक शब्द मिला " स्वानुभूति या स्वानुभूत"। स्वयं महसूसा हुआ या भुगता हुआ यथार्थ या भोगा हुआ यथार्थ।

निर्बंध: सरयू से संगम तक

भुगतने और भोगने में भी अंतर है। इसलिए, कायदे से भुगता हुआ यथार्थ ही लिखना चाहिए। दलित साहित्यिकों ने अपने इस 'पारस पत्थर' को उठाया और पारंपरिक साहित्य के शीशे पर दे मारा। इसकी टेक थी -जो भोगेगा, वही लिखेगा, लिख सकेगा। क्योंकि वही प्रामाणिक है। इसने 'हाई-टावर' पर चढ़कर यह भी घोषणा कि तुम्हारा साहित्य 'सहानुभूति' भर है, कि सहानुभूति से कभी सत्य का निदर्शन संभव नहीं।

यह द्वंद्व हिंदी साहित्य में अब भी जारी है। समय-समय पर रणभेरी बजती रहती है। विश्वविद्यालयों में यह भिड़ंत आचार्यों के बीच विनोदेन या विवादेन चलती रहती है। लेकिन, इस लेखक को इतने लंबे प्रस्तावना की जरूरत इसलिए हुई कि इस प्रश्न से टकराए बगैर आज का लेखक बच ही नहीं सकता।ज्यादा बखेड़ा गाने से अच्छा है कि वह घटना ही आपके सम्मुख रख दूं, जिसे कहने के लिए मैं उतावला हो रहा हूं।

हो सकता है कि उस सहानूभूति बनाम स्वानुभूति के मुकदमे का भी कोई तोड़ निकल आए। स्वानुभूति के तर्क को जो विगलित करना चाहते हैं, वे अक्सर यह प्रश्न करते हैं कि तो क्या वेश्या पर कहानी या कविता लिखने के लिए उन्हें वेश्यागमन करना पड़ेगा। एक आलोचक ने तो यहां तक कह दिया कि क्या आमलेट बनाने के लिए

उन्हें मुर्गी बन कर अंडा देना पड़ेगा। इस तरह के तर्क को तर्कशास्त्र में उभयतःपाश कहते हैं। दोनों तरफ से घेराबंदी। ऐसे प्रश्नों का उत्तर दिया ही नहीं जा सकता। सिर्फ नजीर पेश की जा सकती है। मैं जिसे पिछड़े इलाके से आता हूं, वहां आग्नेयास्त्रों की बड़ी महत्ता है। ऐसे शस्त्र लिए तो जाते हैं आत्मरक्षार्थ, लेकिन वे ज्यादातर किसी के भक्षार्थ होते हैं।

तो जब मैं बीसवीं सदी के आखिरी दशक में मुरादाबाद पहुंचा तो जाने कहां से इलाकाई पिछड़ेपन की बंदूक खरीदने की सुषुप्त लालसा जाग्रत हो उठी। मैंने अपने संपादकीय प्रभारी से कहा कि मुझे कंपनी से दस हजार का ऋण दिला दें। उन्होंने पूछा कि क्या करोगे ? मैंने कहा- बंदूक खरीदूंगा। वे हंसे कि अजीब आदमी है यह। उन्होंने कंपनी के निदेशक से बात की और मुझे दस हजार मिल गए। समस्या थी लाइसेंस की। उन दिनों एक अपरजिलाधिकारी थे, जो अक्सर मुझसे कहते थे कि सब कोई न कोई काम लेकर आते हैं, तुम आते हो और चले जाते हो। मैंने कहा कि मुझे कोई जरूरत ही नहीं महसूस होती। भोजन-भजन चल रहा है।

उनके प्रश्नों से आजिज आकर एक दिन मैंने कहा कि गन का लाइसेंस दिला दीजिए। वे बेतहाशा हंसे। क्योंकि, ऐसी उम्मीद तो उन्हें भी नहीं रही होगी। उन्होंने दो-तीन महीने में इधर-उधर से रिपोर्ट मंगाकर, अर्जी भराकर, बिना कोई धनराशि जमा कराए मुझे लाइसेंस दिला दिया। मुझे तो लाइसेंस मिल गया था, लेकिन इस दौरान मैंने उस सरकारी प्रक्रिया की जो दीर्घउत्तरीय प्रश्नमाला देखी, जो आकंठ भ्रष्टाचार में डूबा प्रशासन का देखा, जो समाज में 'स्थापित' लोगों की दबंगई देखी, जो पस्तहाल आम आदमी देखा, उसे मिलाजुला कर एक कहानी रची- 'बंदूक'। साहित्य में उसकी जगह कहां है, यह समय तय करेगा।

'बंदूक' में बंदूक की कहानी है ही नहीं। वह एक दलित स्त्री की कहानी है, जो समाज के निम्नतम से भी निम्नतम पायदान पर खड़ी है और उसका पति भी उसी तल पर है। दोनों सामाजिक और प्रशासनिक या व्यवस्था की अचल क्रूरता और दमन के मारे हैं। मेरा प्रश्न है कि अगर मैंने बंदूक नहीं खरीदी होती तो क्या 'बंदूक" लिख सकता था। इसका उत्तर दोनों तरफ से दिया जा सकता है। और नहीं भी।

अगर आपमें पर्याप्त संवेदना है और नजर खुली है तो आप बिना भोगे भी इतना बेहतर लिख सकते हैं, जो भोगनेवाला भी नहीं लिख सकता। वाल्मीकि में वह पर्याप्त संवेदना थी, जो क्रौंच-वध को अनुभव कर सकती थी। वर्ना, तबसे अरबों-खरबों बहेलियों ने न जाने कितने 'क्रौंचों' का वध किया होगा, लेकिन उसके बाद फिर कोई वाल्मीकि पैदा नहीं हुआ।

इसके लिए हमारे कवियों ने एक शब्द खोजा है-'परदुखकातरता।' अगर आपमें परदुखकातरता है, तो आप एक महान रचयिता होंगे। लेकिन, अगर आप परदुखकातर भी हैं और आपका भोगा हुआ यथार्थ भी है तो शायद बात सोने में सोहागे वाली हो जाएगी। इसी को मणि-कांचन योग कहा गया है। और, अगर, वह नहीं है तो भोग कर भी क्या होगा। फूलहिं-फलहिं न बेंत, जदपि सुधा बरसें जलद। इसे इस तरह से सूत्रबद्ध कर सकते हैं कि सहानुभूति के बिना स्वानुभूति वंध्या है, जबकि स्वानुभूति, सहानुभूति की 'तीसरी आंख' है। प्रथमदृष्टया, दोनों विरोधाभासी लगते हैं, मगर हैं जुड़वां।

****

स्त्री आजादी की पैरोकार रही हैं मृदुला गर्ग, पत्नी के 'प्रेमी' को ठहराया था जायज

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की प्रार्थना सभा में एक छोटी-सी बच्ची अपने पिता के साथ अक्सर गांधीजी को सुनने जाया करती थी. जब गांधी जी पर जानलेवा हमला हुआ था तो वह वहीं थी, उस घटना की साक्षी. उस घटना का बच्ची पर काफी असर पड़ा था. इस घटना से बच्ची के भीतर कुछ आदर्श, संवेदना और मानवीय मूल्य निर्मित हुए. यह दौर राष्ट्रीय आंदोलन का था. 1960 में उस बच्ची ने दिल्ली स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स से तालीम हासिल की और चार साल एक कॉलेज में बढ़ाया भी. लेकिन बच्ची ने शिक्षक बने रहने के जगह कलम पकड़ी और स्त्रियों की आजादी के लिए अपनी लेखनी से एक अभियान छेड़ा. वह बच्ची और कोई नहीं बल्कि हिंदी की सुप्रतिष्ठित कथाकार मृदुला गर्ग हैं. मृदुला गर्ग ने पांच दशक तक अनवरत साहित्य साधना की और 25 से अधिक पुस्तकें लिखकर साहित्य को समृद्ध किया. उन्होंने साहित्य की हर विधा में कलम चलाई.

हिंदी साहित्य में बहुतेरे लेखकों की चर्चा तो हो ती रहती है पर उनका समग्र मूल्यांकन कम ही होता है. जीते-जी तो बिल्कुल नहीं. वैसे भी हिंदी साहित्य में लेखक के नहीं रहने पर ही उसके मूल्यांकन का प्रयास किया जाता है. पुरुष लेखकों का थोड़ा बहुत मूल्यांकन तो हो जाता है पर लेखिकाओ का तो वह भी नहीं. महादेवी वर्मा के निधन के बाद उन्हें एक स्त्री विमर्शकार के रूप में जाना गया. सुभद्रा कुमारी चौहान के निधन के वर्षों बाद उनके समग्र अवदान की तरफ ध्यान गया. कृष्णा सोबती की चर्चा तो बहुत हुई पर अब उन पर जाकर शोधपरक पुस्तकें अब आईं. ***मंन्नू भंडारी का भी सम्यक मूल्यांकन नहीं हुआ है.***

ऐसे में अगर लेखकों के जीवन काल में उनका मूल्यांकन हो तो बेहतर होगा. देखा यह जाता है कि लेखक के लिखते हुए 50 साल हो जाते हैं पर हिंदी साहित्य में उसका मूल्यांकन नहीं होता. 'स्त्री दर्पण' का प्रयास है कि जिन लेखिकाओं के लेखन के 50 वर्ष हो गए हैं उनके मूल्यांकन का प्रयास हो.

इस कड़ी में पहली बार मृदुला गर्ग के लेखन पर विशेष कार्यक्रम आयोजित किया जा रहा है. लेकिन इस मूल्यांकन की कई चुनौतियां हैं. पहली तो यह कि उस लेखक की छवि उसकी किसी खास कृति में कैद हो जाती है. कभी-कभी किसी लेखक की कोई कृति इतनी महत्वपूर्ण और लोकप्रिय हो जाती है कि वह लेखक की पहचान ही नहीं बन जाती बल्कि उसका पर्याय भी बन जाती है. जैसे प्रेमचन्द का नाम लेते ही 'गोदान' की याद आती है. रेणु का नाम लेते ही 'मैला आंचल', कृष्णा सोबती के नाम पर 'मित्रो मरजानी' और मंन्नू भंडारी के पर 'महाभोज' की छवि उभरने लगती है. कुछ ऐसे ही मृदुला गर्ग का नाम लेते ही 'चितकोबरा' का स्मरण होना स्वाभाविक है. पर कई बार इस पहचान से लेखक अपनी एक कृति विशेष की छवि में कैद हो जाता है. इसका नतीजा यह होता है कि हम उस लेखक का सम्यक मूल्यांकन नहीं कर पाते और लेखक की अन्य रचनाओं पर हम बहुधा उतना ध्यान नहीं देते या उसकी उतनी चर्चा नहीं करते जितनी अपेक्षित है.

हिंदी की मूर्धन्य लेखिका मृदुला गर्ग के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ कि उन्हें हिंदी पट्टी में आम लोगों के बीच 'चितकोबरा' की लेखिका के रूप में अधिक जाना गया जबकि वह 'अनित्य', 'उसके हिस्से की धूप' और 'कठगुलाब' की भी लेखिका हैं. पर 'चितकोबरा' शब्द मानो लेखिका से चस्पां हो गया. उनके कथा साहित्य की ओर सबका ध्यान जरूर गया. पर हमलोग यह भूल ही गए कि उन्होंने साहित्य की हर विधा में लिखा, लेकिन उनकी अन्य रचनाओं का उतना मूल्यांकन नहीं हुआ जितना एक कथाकार और एक उपन्यासकार के रूप में मुख्यतः उनकी पहचान बनी.

मृदुला गर्ग एक मुकम्मल लेखिका

मृदुला गर्ग के नाटककार, व्यंगकार और कवि रूप पर लोगों का ध्यान नहीं किया जबकि वह एक मुकम्मल लेखिका हैं. वह स्त्रीविमर्श को ही नहीं बल्कि साहित्य को भी मुक्कमल ढंग से देखती हैं और लेखकीय स्वाधीनता पर अधिक जोर देती हैं.

25 अक्टूबर, 1938 कोलकता में को जन्मीं मृदुला गर्ग, उषा प्रियम्बद, कृष्णा सोबती और मंन्नू भंडारी की त्रयी के बाद ममता कालिया, सुधा अरोड़ा के साथ मिलकर एक त्रयी बनाती हैं. इस त्रयी में एक अन्य लेखिका शामिल हो सकती थीं. पर अपने राजनीतिक विचारों और स्टैंड के कारण उनकी पक्षधरता अब पूरी तरह स्पष्ट हो चुकी है. लेकिन मृदुला गर्ग राजनीतिक रूप से भी सजग सचेत लेखिका हैं.

पिछले दिनों 'हंस महोत्सव' के उद्घाटन समारोह में उनका दिया वक्तव्य इस बात का प्रमाण है कि वह फांसीवादी ताकतों के खतरे, बाजारीकरण और भूमंडलीकरण के कारण मानवीय संवेदना के सामने उत्पन्न संकट को वह बखूबी समझती हैं और न्याय के पक्ष में खड़े होना पसंद करती हैं.

स्त्री को भी पति के अलावा प्रेमी चाहिए

1972 में सारिका में प्रकाशित उनकी कहांनी "रुकावट" के छपे 50 साल हो गए. उनके इतने विशद अवदान को रेखांकित करने के लिए हम यह विशेषांक उन पर निकाल रहे हैं. 85 वर्ष की उम्र में वह सक्रिय हैं और अपनी गरिमामयी उपस्थिति से नई पीढ़ी के लिए रोल मॉडल बनी हुई हैं. मृदुला गर्ग एक बेबाक निर्भीक लेखिका हैं और बिना लाग लपेट के अपनी बात कहती हैं. उनकी कहानियों को आप पढ़ें तो वह भाषा और शिल्प के चमत्कार के बिना अपनी बात कहती हैं. उनकी कहानियों में पात्रों के बीच संवाद अधिक है. उनकी कई कहानियां संवाद शैली में ही लिखी गई हैं. कुछ कहानियां इतनी छोटी हैं कि बहुत आश्चर्य भी होता है. हिंदी साहित्य में इतनी छोटी कहानियां शायद ही किसी ने लिखी हों. दो-ढाई पेज में भी उनकी कहानियां खत्म हो जाती हैं. वैसे उन्होंने कुछ बड़ी कहानियां भी लिखी हैं लेकिन वह मूलतः आत्मस्वीकर की भी लेखिका हैं. चाहे वह विवाहेत्तर प्रेम क्यों न हों. एक टीवी चैनल के फेस्टिवल में उन्होंने स्वीकार किया कि स्त्री को भी पति के अलावा प्रेमी चाहिए. जैनेंद्र कुमार ने 50 साल जो बहस चलाई थी कि पत्नी के अलावा प्रेयसी चाहिए उसका माकूल जवाब मृदुला जी ने दिया. सबसे बड़ी बात है कि उन्होंने स्त्री के साथ-साथ पुरुषों की आज़ादी और मुक्ति की भी बात उठाई है. उनका कहना है कि एक गुलाम पुरुष से प्रेम की अपेक्षा करना वाजिब नहीं है. जो खुद गुलाम है वह एक स्त्री से कैसे प्रेम करेगा. इस दृष्टि से देखा जाए तो मृदुला गर्ग ने स्त्री विमर्श के दायरे को बढ़ाया है और उसके अर्थ का विस्तार भी किया है.

नहीं बदली स्थिति

मृदुला गर्ग अभी भी मानती हैं कि हमारे समाज में यौनिकता पर बात करना दकियानूसी माना जाता है. 'चितकोबरा' के प्रकाशन के समय उन्हें गिरफ्तारी का सामना करना पड़ा. आज स्थिति में कमोबेश कोई फर्क नहीं पड़ा है. जब गीतांजलि श्री के उपन्यास "रेत समाधि" में यौनिकता का मामला उठाकर आगरा में कार्यक्रम नहीं होने दिया गया तो मृदुला गर्ग ने उस घटना का तीखा प्रतिवाद किया और एक चैनल को कहा कि "चितकोबरा" की घटना के बाद भी स्तिथि बदली नहीं है.

मृदुला गर्ग ने साहित्य की लगभग सभी विधाओं में लिखा. वह एक गम्भीर बौद्धिक और उदार स्त्री विमर्श की पैरोकार हैं पर साहित्य में स्त्री-पुरुष लेखक के विभेद की समर्थक नहीं हैं. दोनों की एकसाथ मुक्ति की कामना करती हैं. वह स्त्री अस्मिता की भरोसेमंद आवाज होने के साथ-साथ व्यापक सामाजिक बदलाव की आकांक्षी और स्वप्नदर्शी रचनाकार हैं. उनके लेखन में स्वतंत्रता, न्याय, बराबरी, धर्मनिरपेक्ष मूल्यों और मानवीय संवेदना की पुकार सुनी जा सकती है. वह बेबाक और पारदर्शी लेखन में यकीन करती हैं और समाज के प्रति गहरी प्रतिबद्धता रखती हैं पर अपने लेखन में इसका प्रदर्शन जरूरी नहीं समझती हैं. वह अपने समाज की हलचलों से बाख़बर भी रहती हैं तथा भूमंडलीकरण, बाजार तथा राजनीतिक मूल्यों के पतन से चिंतित भी रहती हैं.

मृदुला गर्ग आज नई पीढ़ी की लेखिकाओं की रोल मॉडल भी हैं. एक स्त्री किस तरह अपनी अस्मिता को बनाये रखने के साथ-साथ पुरुषों को साथ लेकर चलती हैं और अपने लेखन से बेहतर संसार रचती हैं.

स्त्री दर्पण पत्रिका

'स्त्री दर्पण' हिंदी साहित्य विमर्श का एक डिजिटल प्लेटफार्म है. कोविड काल में साहित्यिक गतिविधियों के संचालन के लिए 'स्त्री विमर्श' पोर्टल शुरू किया गया था. आज इसके 11,000 से अधिक सदस्य हैं. 54 देशों में और भारत के 99 शहरों में इस पोर्टल को देखा और पढ़ा जाता है. स्त्री दर्पण के बैनर तले 60 लेखिकाओं पर कार्यक्रम हो चुके हैं. इसकी एक वेबसाइट है. वेबसाइट पर 200 से अधिक लेखिकाओं के पेज बने हैं. लेखक विमल कुमार स्त्री विमर्श पोर्टल के संचालक विमल कुमार हैं.

****

जब शवयात्रा में 'राम नाम सत्य है' की जगह गाया गया द्वारिका प्रसाद माहेश्वरी का गीत

''यदि होता किन्नर नरेश मैं राजमहल में रहता
सोने का सिंहासन होता सिर पर मुकुट चमकता।
बंदीजन गुण गाते रहते संध्या और सवेरे
निशिदिन नौबत बजती रहती दरवाजे पर मेरे।"

बचपन में प्राथमिक कक्षाओं में पहली बार यह गीत पढ़ा और इसकी मोहक धुन में खो गया था. यह आज भी मेरी ही नहीं, लाखों लोगों की स्मृति में होगी. मेरी पीढ़ी के बच्चे उनकी इस कविता के साथ उनकी तमाम अन्य कविताएं पढते, गाते, गुनगुनाते और दुहराते- तितली रानी तितली रानी/ नाच रही कैसी मनमानी; हम सब सुमन एक उपवन के; सूरज सा चमकूं मैं चंदा सा दमकूं मैं मेरी अभिलाषा है -कितने मोहक गीत हुआ करते.

किसने सोचा था जिसे हमारे अध्यापक पढाते हैं, उसके भाव बताते हैं, उन रचनाओं के रचयिता से कभी भेंट होगी. पर यह संभव हुआ जब उच्च शिक्षा के लिए गांव से लखनऊ आया. लखनऊ विश्वविद्यालय में बीए में दाखिला लिया तो कुछ ही दिनों में सहपाठी विनोद कुमार माहेश्वरी से परिचय हुआ. लिखने-पढ़ने की रुचियों के कारण वे निकट आए. बातों ही बातों में पता चला वे बच्चों के कवि द्वारिका प्रसाद माहेश्वरी के पुत्र हैं. यह हमारे लिए गौरव की बात थी.

द्वारिका प्रसाद माहेश्वरी जी उन दिनों लिटरेसी हाउस में निदेशक हुआ करते थे. आलमबाग स्थित साक्षरता निकेतन में रहते थे. फिर एम.ए. करते-करते पता नहीं क्या सूझा कि माहेश्वरी जी के साहित्य पर काम किया जाए. प्रस्तावना बनी और काम शुरू हुआ. तब तक वे सेवानिवृत्त होकर आगरा जा चुके थे. भाई डॉ. ओंकार प्रसाद जी, जो आगरा कॉलेज में अध्यापक थे, के यहां कुछ दिन रहे. फिर उनका अपना घर बना, आलोक नगर इलाके में. दोनों जगह जाना हुआ.

एक दिन किताब 'द्वारिका प्रसाद माहेश्वरी: सृजन एवं मूल्यांकन' तैयार हो गई. यह बात 1984 की है. अब समस्या आई कि किताब को छापेगा कौन? पर यह भी संभव हुआ. शिक्षा विभाग के यत्किंचित अनुदान से 'किताबघर प्रकाशन' के स्वामी सत्यव्रत शर्मा जी ने उसे 1985 में छापा. किसी भी बाल साहित्यकार पर आलोचना की यह पहली किताब थी. इस पर विद्यानिवास मिश्र ने इसकी बहुत आत्मीय भूमिका लिखी थी. हिंदुस्तान अखबार में विजय राय ने भी उस पर बेहतरीन समीक्षा लिखी तथा उसे बाल साहित्य के अध्येताओं के लिए अनिवार्य बताया. उसके बाद तीन खंडों में 'द्वारिकाप्रसाद माहेश्वरी रचनावली' भी डॉ. विनोद माहेश्वरी के साथ संपादित की. इस रचनावली का लोकार्पण तत्कालीन राष्ट्रपति शंकरदयाल शर्मा ने किया. दोनों गांधीवादी चिंतक. साथ मिले तो शंकरदयाल शर्मा जी की आगरा की यादें उभरी. खूब गपशप किया दोनों विभूतियों ने राष्ट्रपति भवन में. माहेश्वरी जी के सगे-संबंधियों के साथ हम इस समारोह के साक्षी बने.

आज उनके बालगीत कोश पर कार्य करते हुए तथा यह भूमिका लिखते हुए उनके साथ अनेक बातचीत और बीच-बीच में हुए पत्राचार की याद आ रही है. यद्यपि तब तक बाल साहित्य की हालत हिंदी के परिदृश्य में बहुत अच्छी न थी. ऐसे लेखकों को बालभाव से ही देखा जाता था. हिंदी के बड़े साहित्यकारों पर भी स्वतंत्र पुस्तकों की कमी थी. ऐसे में उन पर मेरी स्वतंत्र पुस्तक हो, यह बात उनकी सोच से भी परे थी. इसलिए शुरू में इसे कैशोर्य उत्साह मान कर बहुत रुचि नहीं दिखाई पर उनकी रचनाएं पढ़ने को मिलती रहीं. लेकिन जब मैं इस कार्य पर अग्रसर हुआ तो बीच-बीच में वे मेरी पांडुलिपि देख कर खुश होते थे. उनके साथ कितना पत्राचार हुआ, अनेक पत्र उनके मेरे पास आज भी सुरक्षित हैं.

मेरे पहले की दो पीढ़ियों ने उनकी बाल कविताएं किसी न किसी स्तर पर पढी हैं. आज भी उनकी कविताएं एनसीआरटी सहित अनेक प्रदेशों के पाठ्यक्रमों में शामिल हैं. द्वारकाप्रसाद माहेश्वरी ने बालकविताओं के अलावा भी प्रभूत साहित्य लिखा है. 'सत्य की जीव' और 'क्रौंचवध' दो प्रबंध काव्य, दो दर्जन बाल गीत संग्रह, गीतगंगा सहित कई कविता संग्रहों के माध्यम से उन्होंने हिंदी साहित्य की सेवा की. हालांकि, विनम्रतावश वे यही कहते थे-मेरी कविता का हर बोल तुम्हारा है. पर कहीं न कहीं गीत के साथ पाठ का रिश्ता है लिहाजा उसके वशीभूत होकर वे यह भी कहते थे- मैं लिखूंगा गीत तुम गाना अमर हो जाएंगे हम.

बालगीतों के क्षेत्र में उनके सुयश को लांघने वाला रचनाकार उनके समकालीनों में कोई नहीं. उनकी कविताएं सदैव होठों पर रहती हैं. उनके गीतों में अनेक सीखें भी रची बसी मिलती हैं. जैसे-

सोच न कर दुर्दिन पड़ने पर
सब मुंह मोड़ लिया करते हैं
अपने आंसू भी आंखों को
रोती छोड़ दिया करते हैं।

बाल साहित्य लेखन की कमान

एक वक्त जब बाल साहित्य को लेकर बड़े लेखकों में उपेक्षा का भाव था, द्वारिका प्रसाद माहेश्वरी ने इस दिशा में आगे बढ़ कर बाल साहित्य लेखन की कमान संभाली. हिंदी बाल साहित्य के इस अप्रतिम कवि का जन्म 1 दिसंबर, 1916 को आगरा जनपद के रोहता गांव में हुआ था. यह गांव आगरा से दक्षिण की ओर 8 किलोमीटर की दूरी पर है. माहेश्वरी जी के पूर्वज राजस्थान में साँभर झील के आगे कुचामन कस्बे के निकट रसीदपुरा गांव से काफी पहले ग्वालियर में बस गए थे. उनके पितामह कालूराम थे और पिता का नाम प्रेमसुख था. प्रेमसुख के तीन पुत्रों में द्वारिका प्रसाद जी सबसे छोटे थे.

खेती-किसानी से जुड़े परिवार के बावजूद जैसे-तैसे माहेश्वरी जी ने विभिन्न गुरुजनों और हितचिंतकों के सहयोग से एमए, एलटी तक की शिक्षा ग्रहण की. बाद में वे उत्तर प्रदेश के शिक्षा विभाग से जुड़े तथा शिक्षा प्रसार अधिकारी, पाठ्य पुस्तक अधिकारी, अतिरिक्त सचिव, माध्यमिक शिक्षा परिषद, प्राचार्य गवर्नमेंट सेंट्रल पेडागाजिकल इन्स्टीट्यूट, इलाहाबाद तथा उप-निदेशक जैसे पदों पर रहे. सेवानिवृत्ति के बाद वे आलमबाग लखनऊ की साक्षरता संस्था लिटरेसी हाउस के निदेशक भी रहे.

द्वारिका प्रसाद माहेश्वरी का रचना संसार

द्वारिका प्रसाद माहेश्वरी का रचना संसार त्रि-आयामी है. पहली कोटि में उनके काव्य और खंड काव्य आते हैं. दूसरी कोटि में उनका बाल साहित्य है. तीसरी कोटि में उनका शैक्षिक और नव साक्षरोपयोगी साहित्य है. माहेश्वरी जी के पहले कविता संग्रह 'दीपक' का प्रकाशन 1949 में हुआ था. उसके बाद 'ज्योतिकिरण', 'फूल और शूल', 'शूल की सेज', 'गीत गंगा' तथा 'शंख और बाँसुरी' शीर्षक संग्रह प्रकाश में आए. इसके अतिरिक्त उन्होंने दो खंड काव्य भी लिखे. 'क्रौंच वध' और 'सत्य की जीत' जो एक लंबे अरसे तक हाईस्कूल के पाठ्यक्रम में साम्मिलित भी रहे. द्वारिका प्रसाद माहेश्वरी की कविताओं में एक गहरी आत्मोन्मुखता है. प्रकृति और मानव को उन्होंने अत्यंत तादाम्य भाव से ग्रहण किया है. माहेश्वरी जी की ऐसी अनेक कविताएं हैं, जो उनके अपने अनुभवों की अभिव्यक्ति होते हुए भी साधारणीकरण का भाव जगाती हैं.

राष्ट्रीय भावधारा के कवि

द्वारिका प्रसाद माहेश्वरी के रचना संसार में ऐसी कविताओं की संख्या ज्यादा है जो जीवन के राग-विराग से संबंधित हैं. गांधीवादी सोच के कारण उनके यहां सत्य के प्रति, मनुष्यता के प्रति सबल आग्रह मिलता है. वे राष्ट्रीय भावधारा के उन कवियों में हैं, जो स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए किए गए संघर्ष के साक्षी रहे हैं. उनकी कविताओं में लोकमंगल की भावना का समावेश मिलता है. उनके लेखन की सादगी ने हम लोगों की पाठकीय जिज्ञासाओं को इतना उमगाया है कि कई बार मन हुआ उनसे पूछूं कि उनके बाल गीतों के इस अप्रतिम आकर्षण का रहस्य क्या है? उन्हें बताऊं कि 'यदि होता किन्नर नरेश मैं' जैसी कविताओं में जो स्वप्न और सौंदर्यबोध निहित है, उनकी ओर बचपन से लेकर अब तक हम कितना आकृष्ट होते आए हैं. यह गीत अब उनकी रचना भर नहीं है, आगे चलकर कितने ही बच्चों के सपनों के अनुभव का अभिन्न अंग बन चुका है.

बालगीत के क्षेत्र में उन्होंने प्रभूत कार्य किया है. आजादी के बाद गांधी जी के स्वदेशी आंदोलन के प्रभाव में उनका पहला बालगीत संग्रह 'कातो और गाओ' 1949 में प्रकाशित हुआ. 'कातो और गाओ' के बाद प्रकाशित उनके बालगीतों की एक लंबी श्रृंखला है- लहरें, बढ़े चलो, बुद्धि बड़ी या बल, अपने काम से काम, माखन मिश्री, हाथी घोड़ा पालकी, सोने की कुल्हाड़ी, अंजन खंजन, सोच समझ कर दोस्ती करो, सूरज - सा चमकूं मैं, हम सब सुमन एक

उपवन के, सतरंगा फुल, प्यारे गुब्बारे, हाथी आता झूम के, बाल गीतायन, आई रेल आई रेल, सीढ़ी-सीढ़ी चढ़ते हैं, हम हैं सूरज चांद सितारे, जल्दी सोना जल्दी जगना, मेरा वंदन है, बगुला कुशल मछुआ, नीम और गिलहरी, चांदी की डोरी, ना-मौसी-ना, चरखे और चूहे, धूप और धनुष. इसके अतिरिक्त 'श्रम के सुमन', 'बाल रामायण' तथा 'शेर भी डर गया' कथा-कहानी की पुस्तकें हैं।

द्वारिका प्रसाद माहेश्वरी को उनके साहित्यिक अवदान के लिए अनेक पुरस्कार मिले. वर्ष 1977 में उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान लखनऊ द्वारा उन्हें बाल साहित्य का सर्वोच्च पुरस्कार प्रदान किया गया. 1992 में उन्हें पुनः उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान द्वारा बाल साहित्य के क्षेत्र में सर्वोच्च पुरस्कार बाल साहित्य भारती से सम्मानित किया गया. इन सम्मानों और पुरस्कारों के बावजूद वे कभी इसके मुखापेक्षी नहीं रहे. उनके अनेक गीतों के मुखड़े जन जागरण और सांप्रदायिक सद्भाव के विज्ञापन के रूप में प्रसारित किए गए और सराहे गए हैं. उनके बालगीत की पहली पंक्ति 'हम सब सुमन एक उपवन के' एक समय उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा कौमी एकता का बोध जगाने वाली विज्ञापन पंक्ति के रूप में इस्तेमाल की गई है. एक बार किसी बड़े राष्ट्रीय उत्सव के अवसर पर संसद में उनका एक बालगीत सुपरिचित गायिका शुभा मुद्गल ने गाया, दुर्भाग्य से जिसकी रिकार्डिंग उपलब्ध नहीं है. हालांकि संसद की कार्रवाइयों में इस गीत के गायन की चर्चा मिलती है.

लोकप्रिय बालकवि

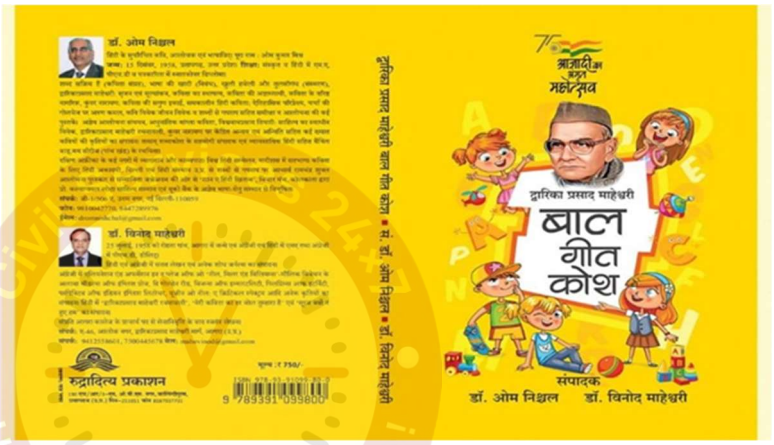

आज भी गांवों के किसी गली कूचे से गुजरिये, कोई न कोई बच्चा उनकी कविता गाता गुनगुनाता हुआ मिलेगा किसी. अनजान व्यक्ति को उनका बालगीत सुना कर देखिए वह अतीत में लौट जाएगा. अभी हाल ही में उनकी मूर्ति का अनावरण करने उनके गांव रोहता गए उत्तर प्रदेश के मुख्य सचिव दुर्गाशंकर मिश्र ने अपने भाषण के दौरान बचपन में पढ़ी उनकी कई कविताएं सुनाईं. उनका मानना था कि माहेश्वरी जी के बालगीतों के बच्चों के कल्पनात्मक संसार को सुविस्तृत करने एवं उनमें मूल्यबोध जगाने का अप्रतिम कार्य किया है.

यदि होता किन्नर नरेश मैं राजमहल में रहता/ सोने का सिंहासन होता सिर पर मुकुट चमकता, सूरज निकला चिड़िया बोलीं/ कलियों ने भी आंखें खोलीं, वीर तुम बढ़े चलो/ धीरे तुम बढ़े चलो - ऐसे कितने ही गीत हैं जिन्हें कम से कम तीन पीढ़ियों ने बचपन में पढ़ा और गुनगुनाया है. यह वह वक्त था जब बच्चों के लिए अच्छे प्रार्थनागीत तक नहीं मिलते थे. आजादी की लड़ाई के लिए प्रयाण गीत नहीं मिलते थे.

द्वारिकाप्रसाद माहेश्वरी ने श्यामलाल गुप्त पार्षद, सोहन लाल द्विवेदी, निरंकार देव सेवक, हरिकृष्ण देवसरे और डॉ. श्रीप्रसाद आदि के साथ मिल कर ऐसे गीतों की कमी पूरी की. बेसिक शिक्षा परिषद व शिक्षा विभाग से जुड़े होने के नाते द्वारिकाप्रसाद माहेश्वरी जी ने यह बीड़ा उठाया कि 4 से 14 साल के बच्चों के लिए ऐसे गीत लिखे जाएं जो उनमें संस्कार पैदा करें साथ ही वे छंद व कथ्य की दृष्टि से उत्तम हों. उन्होंने अपने समय के श्रेष्ठ कवियों की रचनाएं पाठ्यक्रम में रखवाईं ताकि बच्चों का मानसिक स्तर उन्नत हो. यद्यपि उन्होंने प्रौढ़ों के लिए भी कई काव्यकृतियां लिखीं किन्तु उनका बाल साहित्यकार ही प्रमुखता से जाना पहचाना गया. आज बाल साहित्य के अध्येताओं में डॉ प्रकाश मनु, डॉ. सुरेंद्र विक्रम, बाल विज्ञान साहित्य के रचनाकार देवेंद्र मेवाड़ी, बाल कथाकार क्षमा शर्मा, सूर्य कुमार पांडेय, देवेंद्र कुमार, विकास दवे, डॉ. देवेंद्र दीपक आदि इस बात की तस्दीक करेंगे कि जो कार्य अकेले द्वारिकाप्रसाद माहेश्वरी ने बाल कविता, बाल कथागीत, प्रयाण गीत, एकता गीत, भारतप्रेम गीत व अनेक बालकल्पनाओं के गीतों के क्षेत्र में किया है, वह आज भी बाल साहित्य के क्षेत्र में अग्रगण्य है.

द्वारिकाप्रसाद माहेश्वरी की 40 से ज्यादा बाल पुस्तकें प्रकाशित हैं जिनमें बालगीत, बाल कथागीत, गीत, कविताओं व संस्मरण आदि की पुस्तकें हैं. साक्षरता से जुड़ी भी उनकी कई पुस्तकें हैं. 'बाल गीतायन' उनके बालगीतों का एक बेहतर चयन कहा जा सकता है.

द्वारिकाप्रसाद माहेश्वरी की बाल कविताओं के साथ यह सुखद संयोग रहा है कि जितनी अच्छी उनकी कविताएं होती थीं, उतना ही सुंदर तथा भव्य उनकी पुस्तकों की सज्जा होती थी, जिन्हें देख कर कोई भी पाठक सहज ही आकृष्ट हो उठे. सन् 1959 की बात है. राष्ट्रकवि सोहनलाल द्विवेदी ने कानपुर में माहेश्वरी जी की पुस्तक 'बढ़े चलो' का नवीन संस्करण खरीदा तथा उसे देख कर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने का मोह वे संवरण न कर सके. उन्होंने लिखा था, "प्रिय बंधु, कल कानपुर में नई पुस्तकों को देखते हुए 'बढ़े चलो' पुस्तक ले आया. उसके नवीन प्रकाशन अलंकरण के कारण जब मैंने देखा कि ये कविताएं तो आपकी लिखी हुई हैं, तब मुझे बड़ी ही प्रसन्नता हुई. मैं जिस रूप में आपकी कृति को देखना चाहता था, उस साकार सपने को देख कर किसे आनन्द न होगा."

भारत का बाल साहित्य: नक्कारखाने में तूती की आवाज

अपने पत्र में उन्होंने माहेश्वरी जी के किसी काव्यपाठ की भी बडी आत्मीयता से सराहना की थी. लिखा था, "और आज जब पत्र लिखते समय मुझे प्रयाग से प्रसारित उस कवि गोष्ठी का स्मरण हो आया, जिसमें आपकी कविता मुझे ही नहीं, सभी श्रोताओं को आत्मविभोर करने वाली सुनने को मिली. आप सुंदर कविता लिखते ही नहीं, पढ़ते भी हैं. सुकंठ हैं. यह तो मुझे उसी दिन जानने को मिला. आज मेरी बड़ी इच्छा हो रही है कि कभी एकांत में बैठ कर आपकी एक नहीं, अनेक प्राणोन्मादिनी रचनाएं सुनूं और आत्मविस्मृति की समाधि का सुख प्राप्त करूं."

एक बार माहेश्वरी जी राजापुर के एक कवि सम्मेलन में गए. विश्वम्भर मानव, श्याम नारायण पाण्डेय तथा अन्य कई गणमान्य कवि मंच पर मौजूद थे. माहेश्वरी जी ने कविता सुनाई–'मैं लिखूंगा गीत/ तुम गाना अमर हो जाएंगे हम.' श्रोताओं ने कविता बड़े ध्यान से सुनी और उसे खूब सराहा. जब वह इलाहाबाद में रहते थे, एक दिन उन्होंने देखा, उनके घर की ओर अज्ञेय जी चले आ रहे हैं. अज्ञेय जी उन्हें शरदपूर्णिमा पर आयोजित एक कवि गोष्ठी में आमंत्रित करने आए थे. माहेश्वरी जी ने नमस्कार किया तथा कहा, 'अरे आप!' वे बोले, 'आपके पास ही आया था. हम शरद पूर्णमासी को एक गोष्ठी आयोजित कर रहे हैं जिसमें आपको अपनी कविताएं पढ़नी हैं. बडी सिलेक्ट गोष्ठी है.'

शवयात्रा में माहेश्वरी के गीत

उनके बालगीतों की महत्ता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि कानपुर के एक मराठी विद्वान आचार्य श्रीकृष्ण विनायक फड़के ने अपनी वसीयत में यह इच्छा व्यक्त की थी कि लोग उनकी शवयात्रा में जाएं तो 'राम नाम सत्य है' के बजाय माहेश्वरी जी के गीत 'हम सब सुमन एक उपवन के' का पाठ करते हुए जाएं. माहेश्वरी जी का यह गीत राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से अप्रतिम है. इसे उत्तर प्रदेश सरकार ने अनेक अवसरों पर अपने होर्डिंगों का ध्येय वाक्य बनाया है तथा विविधता में एकता के सौंदर्य का समर्थन किया है.

****

भारत का बाल साहित्य: नक्कारखाने में तूती की आवाज

भारत में 14 नवंबर को बाल दिवस से शुरू होकर 20 नवंबर विश्व बाल अधिकार दिवस तक का समय बच्चों के लिए खास होता है. नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया द्वारा इस समय राष्ट्रीय पुस्तक सप्ताह के रूप में मनाया जाता है. तो आज हम बात करेंगे, देश में बच्चों के लिए पुस्तकों के ताने-बाने के बारे में.

अभी की पीढ़ी के जो दादी, नानी या दादा नाना है, उनको यह याद करके नास्टेल्जिक हो जाते है कि उन्होंने अपने बुजुर्गों से कितनी सारे लोकगीत, लोककथाएं और कहानी, कविता सुने थे. अब ना तो उस तरह का परिवार का ढांचा रहा और ना ही वह माहौल, परिवार के लोग साथ समय बिताते थे. चांद को तकते, तारे गिनते-गिनते, सुनते सुनाते बच्चे कल्पनालोक से होते हुए जाने कब नींद की आगोश में चले जाते थे. लोकगीतों, लोक कथाओं के साथ-साथ आज के दौर में रचनात्मकता के साथ बच्चों के लिए नई कहानियां और कविताएं सहेजना और बच्चों

तक उनको पहुंचाने की बेहद जरूरत है. इस जरूरत ने बहुत से लेखकों, कवियों, चित्रकारों उकसाया है. बच्चों की किताबों का बहुत बड़ा मार्केट ना होने के बावजूद भी, पिछले लगभग बीस-पच्चीस सालों में देश भर में बच्चों के साहित्य को सहेजने और प्रकाशित करने में बहुत सारी संस्थाओं और प्रकाशकों ने पहल की है.

बीते सालों में यह कहा जाता था कि भारत अच्छे बाल साहित्य के लिए जाने जाना वाला देश नही हो सकता, उपलब्ध बाल साहित्य में कल्पनाशीलता, नयापन, रचनात्मकता की कमी और सीख देने की अधिक बातें होती थी. आज के दौर में बच्चों की पुस्तकों को देखें तो बच्चों की विविधता की तरह ही विषयवस्तु, शैली, आकार, सजावट, चित्रांकन, रंग रूप, शैलियों और भाषा-बोलियों की विविधता के साथ चलता हुआ, बाल साहित्य का प्रकाशन वैकल्पिक और सरकारी प्रकाशन की छाप से निकल कर मुख्यधारा के रास्ते पर चलता हुआ अपनी पहचान बना रहा है. देश के बड़े और स्थापित लेखक, कवि और प्रकाशक भी बच्चों के साहित्य को बनाने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं और दूसरी तरफ आज के बाल साहित्य बच्चों की आवाज़ भी सुनाई देती है, बच्चों द्वारा लिखी गई रचनाओं को किताबों की शक्ल में शामिल होना, बाल साहित्य में एक तरह से बच्चों और बड़ों की खाई को पाटने जैसा काम है.

आज के दौर के बाल साहित्य में उपदेश नही है और उसमें नैतिक मूल्यों की रक्षा की चिंता भी नही है, बल्कि प्रभावशाली यह है कि बच्चों को बराबरी दर्जा मिल रहा है, बच्चों के जीवन के मामूली से लेकर बड़े पहलुओं को बहुत ही सहज और रोचक तरीके से सामने लाने का प्रयास साफ दिखता है. यह गुंजाईश है कि बच्चे अपनी समझ और गहन सोच विकसित करें. देखा जाए तो पिछले सालों में देश में बाल साहित्य ने एक बेहतर मुकाम पर पहुंच कर अपनी एक पहचान बनाई है.

बच्चों की पुस्तकों का एक प्रमुख आकर्षण और बराबरी का हिस्सा उनकी साज सज्जा भी है, बीते दो दशकों में इस दायरे में बाल साहित्य के प्रकाशकों ने खूब काम किया है, जिस तरह नामचीन लेखकों ने बच्चों के लिए लिखा है उसी तरह बड़े कलाकारों ने भी बाल साहित्य को संवारा हैं, वहीं दूसरी ओर रियाज अकादमी जैसी अनूठी पहल ने बच्चों की पुस्तकों के लिए चित्रकारों की एक बड़ी पौध तैयार की है, जिसका असर आज के दौर की बच्चों की पुस्तकों में देखा जा सकता है.

हिंदी और अंग्रेजी में बच्चों की उत्कृष्ट बाल-साहित्य को विकसित करने पर फिर भी बहुत काम हुआ है, लेकिन अन्य भारतीय भाषाओं बोलियों में एक खालीपन बना हुआ है, हालांकि प्रकाशन संस्थाओं के आपसी सहयोग और सामंजस्य से यह शुरूआत हो चुकी है. मराठी, गुजराती, तेलुगु, कन्नड, बांग्ला जैसी भाषाओं के साथ बुंदेली, मालवी, गढ़वाली, राजस्थानी, छत्तीसगढ़ी में भी बाल-साहित्य के शुरुआती प्रयासों को देखा जा सकता है. कुछ प्रकाशन संस्थानों से दो-भाषाओं वाली पुस्तकों को भी सराहना मिल रही है. मुंडारी, गोंड़ी, कोरकू, सांथाली, हल्बी, खासी, गारो, कूंकणा जैसी आदिवासी भाषाओं में और कुछेक ब्रेल में भी बच्चों की प्रकाशित पुस्तकों की जानकारी मिलना, एक बहुत ही सुखद अहसास करता है.

बच्चों के लिए पुस्तकों की कमी और उनकी उपलब्धता पर पिछले दो दशकों में जो भी प्रयास हुए है, उसमें बच्चों की पुस्तकें पाठकों तक भी पहुंच बनाना शुरू कर चुकी हैं. एक अध्ययन के अनुसार सरकार बाल साहित्य की सबसे बड़ी खरीददार रही है. इसमें 70 प्रतिशत पुस्तकों का वितरण ग्रामीण इलाकों (प्रमुख तौर पर विद्यालयों) के लिए होता है.

समस्या पुस्तकों के उपयोग की भी है. पुस्तकालयों में बच्चों और पुस्तकों के बीच बेहतर जुड़ाव को लेकर पराग लाइब्रेरी एजुकेटर कोर्स की पहल की जा रही है. इसमें पुस्तकों की उपयोगिता को लेकर भी पुस्तकालय प्रमुख, शैक्षिक कार्यकर्ताओं की क्षमतावृद्धी के प्रयास किए जा रहे है, ताकि पुस्तकालय और किताबों के रखरखाव तक सीमित ना होकर एक रचनात्मक जगह बन सके, जहां बच्चे पढ़ने के आनंद भी ले सकें. कुछ संस्थाएं बच्चों की किताबों, लेखकों, चित्रकारों, प्रकाशकों और उसको पाठकों तक पंहुचाने की पहल करने वाली जगहों को भी पुरस्कृत कर रहीं है, इससे भी बाल साहित्य के विभिन्न आयामों को प्रशंसा मिल रही है.

पूरे सामाजिक ताने-बाने के परिदृश्य में आज का बाल साहित्य नक्कार खाने में तूती की आवाज की तरह है. कुल मिला कर देखा जाए तो बाल साहित्य के लिए पूरा ईको-सिस्टम बन रहा है. बाल साहित्य का शून्य अब पहिए की शक्ल में गति ले रहा है. टीवी और मोबाइल से अघा गए पालकों के लिए यह सही समय है कि वो बच्चों को किताबों की तरफ प्रोत्साहित करें और पढ़ने की संस्कृति विकसित करने में अपना योगदान दें.

सरकार से भी उम्मीद है कि उसकी नीतियां भी बाल-साहित्य को फलने-फूलने को उर्वर करेगी. आज की पीढ़ी विरासत में बच्चों की कहानी, कविताओं का किताबों की शक्ल में पढ़ने के आनंद का सहेजा हुआ एक खजाना दे सकेगी और बच्चों के अनुभवों और कल्पनाओं का नए आयाम मिल सकेगा.

****

Children's Day 2022: बालमन को कहां ले जा रही है डिजिटल दुनिया?

बाल दिवस 2022: एक-दो हफ्ते पहले की बात है, मेरे स्कूल के दिनों के एक बेहद घनिष्ठ मित्र अपनी किसी मीटिंग के लिए दिल्ली आए थे. प्लान बना कि शाम को घर पर ही मिलते हैं, इसी बहाने बच्चों से भी मिलना हो जाएगा. शाम को मैं उन्हें लेकर घर पहुंचा. हम साथ बैठे, बच्चे भी पास ही में थे.

बातचीत शुरू हुई तो 5 साल के मेरे छोटे बेटे ने कहा, "चाचू, मैं बड़ा होकर हल्क बनूंगा. उसके पास बहुत पावर है. वो सबको खत्म कर सकता है. मैं भी सबको खत्म कर दूंगा."

मैं हक्का-बक्का रह गया कि ये क्या कह रहा है? कहां से कह रहा है?

मेरे मित्र ने कहा, "ये सब डिजिटल दुनिया का नतीजा है, तुम नहीं समझोगे. स्कूल-ट्यूशन के बाद बच्चे दिन के बाकी समय में मोबाइल और टीवी में घुसे रहते हैं, ये वहीं से सब सीखते हैं."

मेरे मित्र ने बच्चों से पूछा, "चाचा चौधरी कौन है? क्या कभी नागराज का नाम सुना है? तेनाली राम या पंचतंत्र की कहानियां पढ़ी हैं." दोनों बच्चों का जवाब उम्मीद के मुताबिक ही था- "नहीं, ये क्या है? ये कौन हैं? क्या कोई सुपरहीरो हैं? क्या ये भी हल्क की तरह पावरफुल हैं? क्या ये भी सिन-चेन की तरह ही हर प्रॉब्लम को सॉल्व कर सकता है? क्या ये फाइट कर सकते हैं? क्या इनके पास भी AK-47 है?" और ना जाने ऐसे ही कितने सवालों की झड़ी लग गई.

मित्र ने कहा कि ये सवाल सिर्फ इन दोनों बच्चों के नहीं हैं, बल्कि आजकल के ज्यादातर बच्चों के मन में ऐसे ही सवाल उठते हैं. इन बच्चों के लिए पंचतंत्र की कहानियां, प्रेरक कथाएं, तेनालीराम, अकबर-बीरबल की कहानियां या फिर चाचा चौधरी, नागराज, कैप्टन ध्रुव जैसे सुपरहीरो या नंदन, बाल हंस, चंपक, चंदामामा और नन्हें सम्राट

जैसे बाल साहित्य किसी दूसरे ग्रह की बात हैं, क्योंकि इन्हें ये सारी चीजें ना तो उपलब्ध हैं और ना ही हम इन्हें उपलब्ध कराने की कोशिश कर रहे हैं.

मुझे याद है, हम लोगों का बचपन 90 के दशक में बीता. उस वक्त ना तो मोबाइल और कंप्यूटर का दौर था और ना ही टीवी और टीवी पर ही इतनी वैराइटी सुलभ उपलब्ध थीं. स्कूल-ट्यूशन और पढ़ाई-लिखाई के बाद रिफ्रेशमेंट के लिए खुले मैदान में खेल के अलावा चाचा चौधरी, नागराज, कैप्टन ध्रुव जैसे कॉमिक बुक्स और नंदन, बाल हंस, चंपक, चंदामामा, नन्हें सम्राट जैसी पत्रिकाएं ही हमारा सबसे अच्छा टाइमपास हुआ करती थीं. पंचतंत्र की कहानियां और प्रेरक कथाएं भी मनोरंजन का साधन हुआ करती थीं. इतना ही नहीं, हमारी पीढ़ी के ज्यादातर लोगों का बचपन संयुक्त परिवारों में गुजरा, जहां दादी-नानी के किस्से-कहानियां, रात को सोते वक्त अलग-अलग तरह की कहानियां सुनना-सुनाना जैसी बातें हमें अलग तरह का परिवेश देती थीं.

हम चीजों के वास्तविक स्वरूप की कल्पना कर पाते थे, उन्हें समझ पाते थे. ये चीजें ना सिर्फ हमारे बचपन को आकार देने में मददगार हुआ करती थीं बल्कि हमारे भविष्य के निर्माण में भी इनकी बहुत बड़ी भूमिका रही है.

एक नामी प्राइवेट स्कूल की रिटायर्ड प्रिंसिपल इंदिरा कोहली कहती हैं, "पहले बच्चे बाहर निकलते थे. दूसरे बच्चों से मिलते-जुलते थे. दोस्त बनते-बनाते थे. इससे बच्चों को इमोशनल स्ट्रेंथ मिलती थी. बच्चे मानसिक तौर पर मजबूत होते थे. इनके अलावा बाल साहित्य उन्हें बाहर की वास्तविक दुनिया से रू-ब-रू कराते थे ना कि आज की तरह की वर्चुअल दुनिया से."

मैक्सफोर्ट अस्पताल के निदेशक और बालरोग विशेषज्ञ डॉ. चितरंजन सिंह बताते हैं- "अभी बच्चे जो बचपन जी रहे हैं उनके दीर्घकालिक परिणाम सामने आएंगे. जो कम-से-कम सामान्य तो बिल्कुल नहीं होगा. आज के बच्चे डिजिटल बचपन जी रहे हैं. वो पूरी तरह डिजिटल गैजेट्स पर निर्भर हो चुके हैं या हो रहे हैं. पहले ऐसा नहीं था. पहले बच्चों की दुनिया वास्तविक हुआ करती थी. दोस्त रियल होते थे. इमोशन्स रियल हुआ करती थीं लेकिन आज की युवा पीढ़ी का सबकुछ वर्चुअल है. दोस्त रियल नहीं हैं. उसकी कल्पनाशीलता रियल नहीं है, बच्चों के एक्सप्रेशंस रियल नहीं हैं. डिजिटल बचपन का जो सबसे खतरनाक परिणाम होने वाला है, वो है डिप्रेशन. बच्चे से आप उनके डिजिटल गैजेट्स ले लीजिए, उसे वर्चुअल दुनिया से अलग कर दीजिए, देखिए वो डिप्रेशन में आ जाएगा."

डॉ. चितरंजन सिंह बताते हैं, "पहले बच्चे बाहर निकलते थे. दोस्त बनाते थे. उनके साथ खेलते थे. समय गुजारते थे तो उनके शरीर में हेल्दी हार्मोंस विकसित होते थे, जो बच्चों के मानसिक विकास में मददगार साबित होते थे. ये हार्मोंस बच्चों को मानसिक तौर पर मजबूत बनाते थे. उन्हें रियल और वर्चुअल का अंतर समझ में आता था. लेकिन डिजिटल लकड़ी के सहारे चलने वाले आज के बचपन से ये चीजें छिनती जा रही हैं."
यहां मेरे मन में एक सवाल है, क्या बच्चों के डिजिटल एडिक्शन के लिए सिर्फ बच्चे जिम्मेदार हैं या इसमें हमारी भी भूमिका कहीं है?
इंदिरा कोहली की माने तो इसके लिए आज के माहौल के साथ-साथ हम-आप जैसे अभिभावक भी उतने ही जिम्मेदार हैं. इस सवाल के जवाब में इंदिरा कोहली कहती हैं, "आज के पैरेंट्स बच्चों को समय नहीं दे रहे हैं. ज्यादातर घरों में माता-पिता दोनों कामकाजी हैं. ऐसे में बच्चे के पास बैठने तक का समय नहीं है. आप शाम को बच्चे के पास बैठते तो हैं, आपका शरीर बच्चे के पास होता है लेकिन आपका मन और ध्यान, दोनों आपके अपने मोबाइल फोन या टीवी स्क्रीन पर होता है. ऐसे में बच्चे मोबाइल या अपनी डिजिटल दुनिया कैसे छोड़ेंगे? बच्चों को सबकुछ डिजिटल वर्ल्ड में मिल रहा है, अब वो रियल है या वर्चुअल बच्चा इसका भेद नहीं कर सकता है. इसका अंतर माता-पिता को बताना होगा. उसे डिजिटल वर्ल्ड की वर्चुअल जिंदगी निकालना होगा. आप बच्चों के साथ बैठिए, उन्हें समय दीजिए. उनकी रुचि बाल साहित्य, फिजिकल एक्टिविटीज जैसी चीजों में विकसित

कीजिए. रुचि डेवलप करने का कोई रॉकेट साइंस नहीं है, बस आपको वही करना है जो आप बच्चों से उम्मीद करते हैं. आप साहित्य, मैग्जीन या कुछ भी पढ़ने बैठिए, देखिए आपको देखकर आपका बच्चा भी बैठेगा.अगर आप मोबाइल में व्यस्त होंगे तो बच्चा भी मोबाइल पर ही खेलेगा."

वात्सल्य अस्पताल के डायरेक्टर डॉ प्रमोद गुप्ता कहते हैं, "डिजिटल प्लेटफॉर्म का सबसे बड़ा साइड इफेक्ट है कि बच्चों में सामूहिकता का भाव खत्म हो रहा है, वे अकेलापन चाहते हैं. उन्होंने अपने आस-पास एक अलग दुनिया बना ली है और उस दुनिया में उन्हें कोई डिस्टर्ब ना करे. बच्चों की ये पूरी दुनिया आभासी है लेकिन बच्चे उसी में डूबे रहना चाहते हैं. पहले के मुकाबले बच्चों की सहनशीलता खत्म हो रही है. अब रोकने-टोकने पर इरिटेट हो रहे हैं. भले ही रोकने-टोकने वाले उनके माता-पिता ही क्यों ना हों. 99 फीसदी बच्चे तो माता-पिता से जुड़ाव महसूस ही नहीं कर पा रहे हैं. बच्चे अपनी इच्छा के विपरीत कुछ भी स्वीकार नहीं कर पा रहे हैं."

डॉ. प्रमोद गुप्ता कहते हैं कि इतना ही नहीं डिजिटल एडिक्शन बच्चों के मानसिक और शारीरिक हेल्थ, दोनों को खत्म कर रहा है. आने वाले 10 वर्षों में हर बच्चे की आंखों पर चश्मा होगा. लेकिन ऐसा नहीं कि ये लाइलाज समस्या है. इसका भी उपाय है. माता-पिता को अपने बच्चों को स्क्रीन ना देने की आदत डालनी होगी, चाहे वो स्क्रीन मोबाइल की हो या कंप्यूटर-लैपटॉप की या फिर टीवी की.

यहां एक सवाल फिर उठता है कि इस डिजिटल एडिक्शन को खत्म करने या कम करने के लिए हम क्या कर सकते हैं? मेरे हिसाब इसका जवाब है साहित्य, मैग्जीन और पढ़ने की आदत. हमें बच्चों में बाल साहित्य के प्रति रुचि विकसित करनी होगी. इसके लिए जरूरी है कि बाल साहित्य हमारे आस-पास मौजूद हों. मुझे याद है बचपन में नंदन और बालहंस जैसी पत्रिकाएं हमारी नियमित खुराक हुआ करती थीं. आठ आने के किराये पर कॉमिक बुक्स पढ़ा करते थे. दोस्तों के बीच ऐसी कथा-कहानियों की किताबों का आदान-प्रदान चला करता था. लेकिन आज की तारीख में ऐसी व्यवस्था खत्म-सी हो गई हैं. जरूरत है इन व्यवस्थाओं और इस तरह के बाल साहित्य की प्रथा में फिर से प्राण फूंकने की.

****

स्त्री लेखक, प्रवासी लेखक, दलित लेखक....ये क्या वेबकूफी है- ममता कालिया

लेखन और लेखकों को अलग-अलग खेमों में बांटने की प्रसिद्ध लेखिका ममता कालिया ने कड़ी आलोचना की है. उन्होंने कहा कि लेखक सिर्फ लेखक होता है ना कि वह कोई दलित, स्त्री या फिर कुछ और.

ममता कालिया ने प्रसिद्ध कथाकार राजेंद्र यादव की स्मृति में आयोजित 'हंस साहित्योत्सव' में 'स्त्री कथा का सारा आकाश और हंस' (स्त्री लेखन में हंस का योगदान) विषय पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि 'हंस' पत्रिका और राजेंद्र यादव ने स्त्री लेखिकाओं को स्वच्छंद लेखन का जो मौका दिया, वह उल्लेखनीय है.

व्यास सम्मान से सम्मानित ममता कालिया ने कहा कि आधी से ज्यादा दुनिया स्त्रियों की दुनिया बनती जा रही है. स्त्रियों की शक्ति का हमने बहुत देर से अहसास किया है. उन्होंने कहा कि स्त्रियों तो सदियों से कहानियां सुनाती आ रही हैं. कभी प्रलाप में तो कभी विलाप में, कभी लोरी में तो कभी बातें करते हुए.

उन्होंने कहा कि स्त्रियों की कथाएं हजारों साल पुरानी हैं. लेकिन 1900 शताब्दी की शुरूआत हुई तो स्त्रियों के ऊपर समाज सुधारक हावी हो गए और उनकी रचनात्मकता थोड़ी-सी धुमिल हो गई. इसके बाद बीसवीं शताब्दी में राजेंद्रबाला घोष (हिंदी-नवजागरण की पहली छापामार लेखिका) आती हैं. फिर वहां से शुरू हुआ स्त्री लेखन का नया सफर. और यह सफर सुभद्रा कुमारी चौहान, महादेवी वर्मा से होता हुआ वर्तमान लेखन तक पहुंचता है.

दुक्खम् - सुक्खम् जैसे चर्चित उपन्यास की लेखिका ममता कालिया कहती हैं, बीसवीं शताब्दी के मध्य में स्त्री लेखन में यकायक नई दृष्टि आती है. जब उषा प्रियंवदा, मन्नू भंडारी और कृष्णा सोबती लिखना शुरू करती हैं तो लेखन के नए-नए आयाम हमारे सामने खुलते जाते हैं. इन लेखिकाओं ने उस समय दलित और स्त्री विमर्श किया जिस समय इन विषयों की कोई चेतना या फैशन नहीं आया था.

राजेंद्र यादव के योगदान का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा कि राजेंद्र यादव ने पहली बार स्त्री लेखन में यौनिक मुक्तता की बात स्वीकार की. राजेंद्र यादव ने स्त्री लेखिकाओं को साहस दिया जो दुस्साहस तक चला गया. लेकिन इस दुस्साहस का स्वागत किया गया क्योंकि कहीं तो ताला तोड़ना ही था.

ममता कालिया कहती हैं, "राजेंद्र यादव ने स्त्री लेखन का नया संसार खोला था. उन्होंने सुशीला टाकभौरे की कहानी 'वो नजर' छापी. माफ करना राजेंद्र यादव ने सुशीला टाकभौरे की कहानी को 'दलित लेखिका' के नजरिए से नहीं बल्कि लेखिका के नजरिए से छापा था."

ममता कालिया अपनी बात को आगे बढ़ाती हुई कहती हैं, "मुझे ये बड़ा अजीब लगता है कि स्त्री लेखक, दलित लेखक, प्रवासी लेखक...ये क्या वेबकूफी है? सब लेखक हैं. ये क्या अलग-अलग कैटेगरी बना रखी है. लेखकों की दुनिया में हम सब लेखक हैं. हम नहीं कह सकते कि हम अलग-अलग खांचों में बंटे हुए हैं. ये जो कोष्टकबाजी होती है बहुत खराब होती है. और कोई कोष्टक होता है जो धीरे-धीरे दम तोड़ देता है. कोई संख्या कोष्टक से बाहर निकलती है और खत्म हो जाती है, मिल जाती है. यह कोशिश नहीं करनी चाहिए कभी."
ममता कालिया ने कहा कि स्त्री मुक्ति आंदोलन में 'हंस' का योगदान बहुत ही बोल्ड अक्षरों में लिखा जाएगा. जब राजेंद्र यादव थे तो तमाम विवाद होते रहते थे, लेकिन आज जब वे नहीं हैं तो उनके योगदान के बारे में पता चल रहा है.

उन्होंने कृष्णा सोबित के कथन का उल्लेख करते हुए कहा कि लेखक का एक जीवन उसकी मृत्यु के बाद होता है. और मुझे लगता है कि वही बेहतर जीवन होता है. इसलिए मृत्यु से डरने की बात नहीं है. राजेंद्र यादव ने भी यही कहा था कि वे मृत्यु से डरते नहीं हैं. राजेंद्र जी ने अपनी कई रचनाओं में मृत्यु का मजाक उड़ाया है.
उन्होंने कहा कि राजेंद्र यादव एक तरह के कबीर थे. स्त्री लेखकों को जो उन्होंने साहस दिया वह उल्लेखनीय हैं. उन्होंने लेखिकाओं में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया. सभी को लेखन के लिए समान विस्तार दिया. आज जो हमारे पास आकाश है, हमारे गले में जो आवाज है, हमारे अंदर जो सहास है, ये सब 'हंस' पत्रिका ने दिया है.

****

इस्लाम में कहीं भी मुंह ढकना नहीं है, चेहरा इनसान की पहचान है- नासिरा शर्मा

प्रख्यात लेखिका नासिरा शर्मा ने ईरान में हिजाब को लेकर हो रही हिंसा का सख्त विरोध किया है. उन्होंने कहा कि क्या पहनना है और क्या नहीं, इसका फैसला खुद महिलाओं पर छोड़ देना चाहिए. उन्होंने परंपराओं के नाम पर स्त्रियों पर अपने विचार थोपने और उन पर जुल्म करने की कड़ी आलोचना की है.

राजेंद्र यादव स्मृति समारोह 'हंस साहित्योत्सव' में नासिरा शर्मा का कहना है कि परंपरा अगर जड़ता की ओर ले जाती है तो उसे छोड़ देना चाहिए, लेकिन जो परंपरा आपको आगे बढ़ाती है, आधुनिकता से जोड़ती है और आप उस परंपरा में कुछ नया जोड़ते हैं तो निश्चित ही हमें उसका समर्थन करना चाहिए.

ईरान मे हिजाब के खिलाफ प्रदर्शन और हिंसा के सवाल पर साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित नासिरा शर्मा ने कहा कि ईरान की दशा बहुत कुछ कई देशों से मिल रही है. ईरान में जो हंगामा हुआ है उसमें यह है कि जब कोई नेता सख्त मिजाज का आता है तो सख्तियां बढ़ जाती हैं. वर्ना मुलायम रहती हैं. इस समय जो हालात हैं और उसके जो जिम्मेदार लोग हैं वे बहुत सख्त मिजाज के लोग हैं.

ईरान वह देश भी रहा है जहां महिलाएं छोटी-छोटी स्कर्ट पहना करती थीं. उन्होंने बताया कि ईरान में शाह मोहम्मद रजा पहलवी के दौर में मिनी स्कर्ट पहनी जाती थी. इसके बाद इंक़लाब आया और सत्ता कम्युनिस्टों से फिसकर मौलानाओं के हाथों में चली गई. इसकी वजह ये थी कि कम्युनिस्ट अपनी लड़ाई खुल कर नहीं लड़ सके और खुद को जनता से नहीं जोड़ सके. जबकि मौलाना जनता से जुड़ गए.

कुइयाँजान, ज़ीरो रोड और पारिजात जैसी चर्चित रचनाओं की लेखिका नासिरा शर्मा ने कहा कि वक्त और जरूरत के हिसाब से लिबास बदलते रहते हैं. उन्होंने आजादी की लड़ाई का उदाहरण देते हुए कहा कि भारत की आजादी की लड़ाई में कांग्रेसियों ने खद्दर का इस्तेमाल किया और विलायती कपड़ों की होली जलाई. इसी तरह जब ईरान में परिवर्तन हुआ तो वहां की महिलाओं ने एक लिबास को अपनाया और मिनी स्कर्ट का बहिष्कार किया.

यह भी पढ़ें- जब तक 'विवाह' नामक घटिया संस्था रहेगी स्त्रियों का कभी भला नहीं हो सकता- गीताश्री

उन्होंने कहा, "लेकिन मैं यहां यह बात बताना जरूरी समझती हूं कि जब ईरान में स्कर्ट का चलन शुरू हुआ तब स्कर्ट का भी खूब विरोध हुआ और जब बुर्का आया तो उस पर भी खूब हंगामा हुआ. खुद औरतें, औरतों के मुंह पर तेजाब फेंकती थीं. चाकूज़नी करती थीं. ईरानी औरतों ने तय कर लिया था कि अब हमें बुर्के के साथ रहना है. उन्होंने बुर्के में रहकर पढ़ाई भी की, दुनिया के बड़े-बड़े पुरस्कार लिए, तैराकी की, फोटोग्राफी की. यानी हर वो काम किया जो मिनी स्कर्ट समाज की लड़कियां करती है या कर सकती हैं."

उन्होंने कहा कि ईरान में भी लड़कियां बड़ी खूबसूरती से स्कार्फ बंधती हैं और अपने बदन को ढककर रखती हैं. और सभी तरह के फैशनेबल कपड़े पहनती हैं.

उन्होंने कहा, "बात पर्दे के एडजस्टमेंट की तो हो गई थी, लेकिन यहां बात हद से आगे बढ़ रही थी कि आप किसी के ऊपर भी इल्ज़ाम देकर उसको उठा लेंगे. इसलिए मैं इसके खिलाफ हूं."

नासिरा शर्मा ने कहा कि इस्लाम में कहीं भी मुंह ढकना नहीं है. मुंह इनसान की पहचान होती है. और हमारे यहां जो हिन्दुस्तानी बुर्का पहना जाता है उसमें नकाब उड़ता था और हम चाँद से चेहरे को देख लेते थे. लेकिन जिन नकाब में ऊपर से नीचे तक पूरी तरह से खुद को बंद कर दिया जाता है तो उसमें आप असहज महसूस करते हैं.

उन्होंने कहा कि इस समय दो तरह की लड़ाई चल रही है. यह लड़ाई हिन्दुस्तान में भी चली थी. नरम दल और गरम दल की लड़ाई. एक मौलवी अपनी ताकत को हासिल करने के लिए कहता है कि नहीं,,इस्लाम में यह है और एक कहता है कि इस्लाम में यह नहीं है.

नासिरा शर्मा ने कहा कि ईरान में पर्दे का मुद्दा हिंसा से जुड़ गया है. क्योंकि हम ईरान को नहीं जानते हैं. ईरान भी कभी आधुनिक ख्यालात वाला देश रहा है. लेकिन जितनी भी रूढ़ीबादी बातें हैं हम उन्हें बार-बार दोहराते हैं.

समूचे समाज की आवाज उठाने की बात करते हुए नासिरा शर्मा ने कहा कि हिन्दुस्तान इतना बड़ा है और इतनी उसकी परतें हैं कि यहां सभी के मसले अलग-अलग हैं. आधुनिकता या आजाद ख्याली हम जैसे एक खास वर्ग के लोगों का मसला नहीं हैं क्योंकि हम सब कुछ करने के लिए स्वतंत्र हैं. लेकिन हमें इन्हीं मुद्दों को उस 80 फीसदी आबादी तक ले जाना चाहिए, जिनके पास कोई विकल्प नहीं है.

****

परंपरा और आधुनिकता दोनों ही स्त्रियों को मारती है - गीताश्री

प्रसिद्ध साहित्यकार और पत्रकार गीताश्री हमेशा अपनी बेवाक कलम और बिंदास बोल के लिए जानी जाती हैं. गीताश्री परंपराओं को स्त्रियों के उत्थान की बेड़ियां मानती हैं. उनका कहना है कि परंपरा सर्वथा निंदनीय विषय है. परंपराओं को कूड़े की ढेर पर फेंक देना चाहिए. भारतीय समाज में पवित्र बंधन माने जाने वाले 'विवाह' को उबाऊ और घटिया संस्था कहते हुए इसे 'महत्वाकांक्षी स्त्रियों' की कब्रगाह बताया है.

प्रसिद्ध कथाकार राजेंद्र यादव स्मृति समारोह 'हंस साहित्योत्सव' में परंपरा और आधुनिकता के बीच स्त्री विषय पर बोलते हुए गीताश्री ने कहा कि परंपरा स्त्री को घर में कपड़े पहनाकर उसको पारंपरिक दायित्वों से बांधकर मारती है.

हालांकि परंपरा के साथ-साथ उन्होंने आधुनिकता को भी आड़े हाथों लेते हुए कहा, "लेकिन परंपरा की निंदा करते हुए इतना खुश होने की जरूरत नहीं कि आधुनिकता ने स्त्री को बहुत आजाद किया है. स्त्री दोनों जगह मरती है. परंपरा उसको घर में मारती है कपड़े पहनाकर और आधुनिकता उसे बाजार में मारती है, कपड़े उतारकर. और ये कपड़े उतारना स्त्री की अपनी मर्जी का नहीं है. स्त्री का अपना चयन नहीं है. बाजार की अपनी शर्तें और नियम होते हैं. बाजार अपनी शर्तों पर स्त्री के कपड़े उतारता है और स्त्री को एक देह में बदल देता है."

महाकवि कालिदास के वाक्य 'सब कुछ पुराना बुरा नहीं है और नया सब कुछ अच्छा नहीं है' का उल्लेख करते हुए गीताश्री ने कहा कि परंपरा में सब कुछ बुरा नहीं है. उन्होंने कहा कि हमें आधुनिका से ज्यादा हमें उत्तर आधुनिकता से बात करनी चाहिए.

उन्होंने कहा कि जो परंपरा आधुनिकता को साथ लेकर नहीं चलती है उसे कूड़े के ढेर पर फेंक देना चाहिए. क्योंकि परंपरा ने स्त्रियों को बांधा है. उसके कंधे पर 'बेताल' की तरह घर को लादा है. परंपरा ने स्त्री को कोख और किचन देकर हमेशा के लिए गुलाम बना दिया है. इसलिए जो परंपरा स्त्रियों को स्वतंत्रता सांस लेना का स्थान नहीं देती हो, उस परंपरा से दूरी बहुत जरूरी है.

गीताश्री ने नई पीढ़ी के चलन पर चिंता प्रकट करते हुए कहा कि अफसोस की बात यह है कि खुद को आधुनिक कहने वाली नई पीढ़ी और पोस्ट मॉडर्निज़्म की लड़कियां तथा कहानियों की नायिका भी बार-बार हमारी पुरानी परंपराओं की तरफ भाग रही हैं. जैसे परंपरा कोई स्मृति है या पवित्र चीज है, जिसका बचाए जाना बहुत जरूरी है.

यौन आजादी के सवाल पर गीताश्री कहती हैं- "देह ही तो वह टैबू है, देह ही तो वह वर्जित प्रदेश है जिस पर कोई बात करना नहीं चाहता है. और अगर स्त्रियां इस बात करती हैं या देह से खुद को मुक्त करती हैं और किसी और के लिए नहीं बल्कि खुद के लिए सजती-संवरती हैं तब भी उसे समाज और परंपराओं का दवाब झेलना पड़ता है."

उन्होंने कहा कि 'संदेश' स्त्री पर कभी खत्म नहीं होता. क्योंकि स्त्री की देह को लेकर ही उसके चरित्र पर उंगली उठाई जाती है. जब भी स्त्री के चरित्र की बात होती है तो उसके कपड़ों को लेकर चर्चा होती है. अगर कोई स्त्री छोटे कपड़े पहनती है तो वह आसानी से उपलब्ध है और अगर पूरे कपड़े पहनती है तो बड़ी 'संस्कारी' है.
गीताश्री ने कहा कि ये जो 'संस्कारी' है यही परंपरा है जो स्त्री को बार-बार नीचा दिखाती है. परंपरा ने ही स्त्री को नीचा दिखाने का काम किया है.

आधुनिकता पर सवालिया निशान लगाते हुए वह कहती हैं कि आधुनिकता ने स्त्री को आजाद तो किया लेकिन कोई वैकल्पिक रास्ता नहीं दिया कि परंपराओं की बेड़ियों से संघर्ष कर सके. उन्होंने कहा कि स्त्री के पास मुद्दे हैं, सवाल है, गुस्सा है, लेकिन विकल्प नहीं है. आज एक महिला सिस्टम में रहकर सिस्टम से टकरा रही है. घर में रहकर दीवारों पर प्रहार कर रही है. लेकिन दीवारों के पार क्या है, या उस पार न जाने क्या होगा, स्त्री के सामने इन सवालों का कोई जवाब नहीं है, कोई रास्ता नहीं है.

उन्होंने कहा कि आधुनिकता के बाद बात होनी चाहिए थी पोस्ट मॉडर्निज़्मव पर, लेकिन जो नई पीढ़ी की लड़कियां हैं या जो हमारी कहानी की नायिकाएं हैं वे बार-बार अपनी परंपराओं की तरफ भागती हैं.
विवाह परंपरा का कड़ा विरोध करते हुए गीताश्री ने कहा कि स्त्रियां बदल गई हैं, वे बदल रही हैं और बदलना चाहती हैं. अपनी सेक्सुअलिटी से पहरे हटाना चाहती हैं. अपनी यौनिकता की खोज करना चाहती हैं. अपनी देह पर मालिकाना हक चाहती हैं. लेकिन जब तक इस समाज में 'विवाह' नामक उबाऊ और घटिया संस्था रहेगी तब तक स्त्री के ऊपर, उसकी यौनिकता पर, उसके कपड़ों पर, मानसिकता पर और उसकी सोच पर शोषक का मालिकाना हक रहेगा.
विवाह संस्था को नकारने के साथ-साथ उन्होंने स्पष्ट किया कि विवाह की बेड़ियां सभी स्त्रियों के लिए नहीं है. ये स्त्रियों परंपरा से हटकर कुछ करना चाहती हैं, जो आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होना चाहती हैं, जो अपने सपनों को पूरा करना चाहती हैं और उनके लिए विवाह संस्थान एक कब्रखाना है तो उन्हें उस कब्रखाने से बाहर आना चाहिए.

कहानियां में परंपराओं से विद्रोह करती नायिकाओं का उल्लेख करते हुए गीताश्री ने कहा, "परंपरा और स्त्री को जोड़कर जिस पवित्र चीज को बचाने का आकांक्षा नई पीढ़ी में और कहानी की नायिकाओं में दिखाई देती है. इसीलिए मुझे ज्यादातर कहानियों में विद्रोह करती नायिकाएं नाटक करती हुई ज्यादा दिखाई देती हैं, विद्रोह करती हुई कम."

अपनी कहानियों की आलोचनाओं पर गीताश्री कहती हैं, “मैं आलोचना पर विचलित होने के बजाय इस पर आनंद करती हूं. जब-जब आलोचना में जिस-जिस कहानी पर उंगली उठाई गई, मैंने उसे उस धारा में मोड़ा है. लेखन को एक नदी की तरह यात्रा करनी चाहिए, कभी चट्टानों से टकराव तो कभी छोटे-छोटे पत्थरों का साथ लेकर चलना.”

गीताश्री

महिलाओं की आजादी का आजादी और अस्मिता की पक्षधर पत्रकार और लेखिका गीताश्री का जन्म 31 दिसम्बर, 1965 को बिहार के मुजफ्फरपुर में हुआ. ‘प्रार्थना के बाहर और अन्य कहानियां’, ‘नागपाश में स्त्री’, ‘कथा रंगपूर्वी’, ‘स्त्री को पुकारता है स्वप्न’, ‘23 लेखिकाएं और राजेंद्र यादव’, ‘औरत की बोली’, ‘सपनों की मंडी’ , ‘देहराग’, ‘लेडिज सर्कल’, ‘लिट्टी चोखा’, ‘स्वप्न, साजिश और स्त्री’, ‘राज-नटनी’, ‘भूत-खेला’, ‘हसीनाबाद’ जैसी चर्चित रचनाओं की लेखिका गीताश्री को रामनाथ गोयनका पुरस्कार, ग्रासरूट बेस्ट फीचर अवॉर्ड, मातृश्री अवॉर्ड, राष्ट्रीय कला समीक्षा सम्मान, यूएनएफपीए-लाडली मीडिया अवॉर्ड और भारतेंदु हरिश्चंद्र पुरस्कार जैसे कई पुरस्कारों से सम्मानित किया जा चुका है.

****

श्रीलाल शुक्ल ने 'राग दरबारी' के लिए वह सब किया जो प्रेमिका के लिए करता है पुरुष

यदि भ्रष्टाचार की पैठ और ग्रामीण हालात का जिक्र करना है तो सबसे पहले उपन्यास ‘राग दरबारी’ ही याद आता है. इसके चरित्र और कथानाक जैसे लोगों को रट गए हैं. इसके प्रतीकों का इस्तेमाल किए बिना लगता है जैसे भ्रष्ट आचरण को बयान करना ही मुश्किल है. बतौर लेखक श्रीलाल शुक्ल ने कई रचनाएं लिखी हैं मगर ‘राग दरबारी’ के आगे सारे राग फीके. 1968 में लिखे गए इस उपन्यास की शुरुआत में आलोचना हुई मगर समीक्षकों ने जिसे लगभग नकार दिया उसे पाठकों ने सिर माथे पर बैठा लिया. और आज 54 साल बाद भी लगता है मानो ‘राग दरबारी’ में वर्तमान का ही वर्णन है.

हम आज ‘राग दरबारी’ की चर्चा कर रहे हैं क्योंकि आज इसके लेखक श्रीलाल शुक्ल की पुण्यतिथि है. समकालीन कथा-साहित्य में अपने लेखन से विशिष्ट स्थान बनाने वाले श्रीलाल शुक्ल का जन्म 31 दिसंबर, 1925 को लखनऊ के अतरौली गांव में हुआ था. 28 अक्टूबर, 2011 को श्रीलाल शुक्ल का देहांत हुआ. वर्ष 1947 में इलाहाबाद केंद्रीय विश्वविद्यालय से स्नातक करने के बाद उन्होंने 1949 में राज्य सिविल सेवा से नौकरी शुरू की. 1983 में भारतीय प्रशासनिक सेवा से निवृत्त हुए शुक्ल का विधिवत लेखन 1954 से ही शुरू गया गया था. उनके रचना संसार में एक अकेला ‘राग दरबारी’ नहीं है बल्कि 10 उपन्यास, चार कहानी संग्रह, नौ व्यंग्य संग्रह, एक आलोचना, दो विनिबंध और एक साक्षात्कार की पुस्तक शामिल हैं. 1969 में साहित्य अकादमी के बाद बिरला फाउंडेशन का व्यास सम्मान, यश भारती, ज्ञानपीठ और पद्म भूषण पुरस्कार दिए गए हैं.

अपनी रचना प्रक्रिया पर बात करते हुए 1963 में धर्मयुग के अंक में श्रीलाल शुक्ल ने छात्र जीवन के एक किस्से का उल्लेख किया था. बात 1945 में प्रयाग विश्वविद्यालय की है. विद्यार्थियों को बेहतर शौचालय उपलब्ध नहीं थे. तब आंदोलन के लिए विद्यार्थी श्रीलाल शुक्ल ने एक गीत लिखा था-

हम बिना बाथरूम के मर जाएंगे
नाम दुनिया में अपना भी कर जाएंगे.
यह न पूछो कि मरकर किधर जाएंगे,
होगा पानी जिधर, बस उधर जाएंगे.

जून में हम नहाकर थे घर से चले,
अब नहाएंगे फिर जब कि घर जाएंगे.
यह हमारा वतन भी अरब हो गया,
आज हम भी खलीफा के घर जाएंगे.

श्रीलाल शुक्ल ने इसे अपनी पहली व्यंग्य-रचना कहा है. वे लिखते है, 'मुझे नहीं पता कि मैं यह गीत कैसे लिख ले गया. जो भी हो, इसका नतीजा ये जरूर निकला कि लगभग दस साल बाद मैंने जब व्यंग्य लिखना शुरू किया तो मुझमें यही आत्म-विश्वास था कि मैं दस साल की सीनियरिटी का व्यंग्य-लेखक हूं और दूसरों की तरह किसी भी पोच बात को सीनियरिटी के सहारे चला सकता हूं.'

लेकिन श्रीलाल शुक्ल का लिखना तो इसके काफी पहले ही शुरू हो गया था. अपने लिखने के बारे में वे लिखते हैं, 'अपने परिवार के बुजुर्ग लेखकों की नकल में मैंने भी बचपन से ही लिखना शुरू कर दिया. चौदह-पंद्रह साल की उम्र तक मैं एक महाकाव्य (अधूरा), दो लघु उपन्यास (पूरे), कुछ नाटक और कई कहानियां लिख चुका था. नए लेखकों को सिखाने के लिए उपन्यास लेखन की कला पर एक ग्रंथ भी लिखना शुरू किया था,पर वह दो अध्यायों बाद ही बैठ गया. वह साहित्य जितनी आसानी से लिखा गया, उतनी ही आसानी से गायब भी हुआ. गांव के जिस घर में मेरी किताबें और कागज -पत्तर रहते थे ,उसमें पड़ोस का एक लड़का चाचा की सेवा के बहाने आया करता था. उसे किताबें पढ़ने और चुराने का शौक था. इसीलिए धीरे-धीरे मेरी किताबों के साथ मेरी पांडुलिपियां भी लखनऊ के कबाड़ियों के हाथ पहुंच गईं. बीए तक आते-आते मैंने और दो उपन्यास लिखे, तीन कविता संग्रह दो साल पहले ही तैयार हो चुके थे. वे भी लखनऊ के कबाडियों के हाथ पड़कर पडोसी लड़के के लिए दूध जलेबी में बदल गए. एक तरह से यह अच्छा ही हुआ क्योंकि पूर्ण वयस्क होकर जब मैंने नए सिरे से लिखना शुरू किया तो मेरी स्लेट बिल्कुल साफ थी. मैं अतीत का खुमार ढोने वाला कोई ऐरा-गैरा लेखन न था.'

श्रीलाल शुक्ल ने 'राग दरबारी' के बाद 'मकान', 'पहला पड़ाव' और 'बिस्रामपुर का संत' तीन उपन्यास और लिखे. प्रत्येक उपन्यास का फलक अलग है. इनमें एकदम अछूते विषय उठाए गए हैं मगर 'राग दरबारी' जितनी लोकप्रियता किसी के हिस्से नहीं आई. 'राग दरबारी' की रचना प्रक्रिया पर श्रीलाल शुक्ल ने स्वयं लिखा है, 'किताब लिखना दिमाग के लिए कठोर और शरीर के लिए कष्टप्रद कार्य है. इससे तंबाकू की लत पड़ जाती है. काफीन और डेक्सेड्रीन का जरूरत से ज्यादा सहारा लेना पड़ता है. बवासीर, बदहजमी, अनवरत् दुश्चिंता और नामर्दी पैदा होती है. फिर राग दरबारी, इसने मुझे लगभग छह साल बीमारी की हालत में रखा. उन गंवार चरित्रों के साथ दिन रात रहते हुए मेरी जबान खराब हो गयी. भद्र महिलाएं खाने की मेज पर कभी कभी मुझे भौंहें उठा कर देखने लगीं. मैं परिवार से और परिवार मुझसे कतराने लगा. मेरी मुसीबत यह है कि किताब लिखने के लिए कोई जगह वाजिब ही नहीं जान पड़ती. अतः अपना मकान, बीवी, बच्चों, रिश्तेदारों, कृपाकांक्षियों आदि के लिए छोड़ कर अलग से दूसरा फ्लैट लिया. वीराने में मोटर खड़ी करके उसकी सीट का महीनों इस्तेमाल किया, दूर दूर के डाक बंगलों के चक्कर काटे (यानी वह सब किया जो जिम्मेदार गृहस्थ कोई प्रेमिका रख कर उसके लिए करते हैं)."

इतना सब होने के बाद जब 'राग दरबारी' पूर्ण हुआ तो छपने में बाधा हुई. 'राग दरबारी' के प्रकाशन को लेकर जब सरकार ने अप्रत्यक्ष रूप से अड़चन डाली और अनुमति मिलने में कई सालों की देरी हुई तो श्रीलाल शुक्ल ने 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया ग्रुप' में अपने लिए नौकरी की एक वैकल्पिक व्यवस्था कर ली थी. फिर सचिव को प्रकाशन की अनुमति में अनावश्यक विलम्ब को लेकर व्यंग्यात्मक पत्र लिखा गया तो तुरंत अनुमति मिल गई. नौकरी बची रही. हालांकि, इस उपन्यास पर अगले ही वर्ष साहित्य अकादमी का पुरुस्कार मिल गया.

प्रख्यात लेखक-संपादक रवींद्र कालिया 'सृजन के सहयात्री' में श्रीलाल शुक्ल पर संस्मरण में लिखते हैं कि श्रीलाल जी हिंदी के उन लेखकों में हैं, जिन्हें अपने प्रति कभी कोई गलतफहमी नहीं रही. इस दृष्टि से अपने प्रति उनका दृष्टिकोण अत्यंत वस्तुपरक है. मैंने पाया है कि जरूरत से ज्यादा तारीफ से भी वह क्षुब्ध हो जाते हैं और आलोचना से भी.

बकौल रवींद्र कालिया 'राग दरबारी' प्रकाशित हुआ तो विचित्र किस्म की समीक्षाएं प्रकाशित हो रही थीं. मार्कण्डेय ने 'कथा' में श्रीपत राय की समीक्षा प्रकाशित की, जिसका शीर्षक था 'बहुत बड़ी ऊब का महाग्रंथ'. बाद में देखा गया, ज्यों-ज्यों उपन्यास के खिलाफ समीक्षाएं प्रकाशित होती गईं उपन्यास स्थापित होता गया. यह एक नए तरह का विरोधाभास था. श्रीलाल शुक्ल आलोचकों के बल पर आगे नहीं बढ़े, पाठकों ने उन्हें पहले मान्यता दी. आलोचकों समीक्षकों द्वारा प्रक्षेपित बहुत से लेखक अपने समीक्षकों की साहित्यिक मौत के साथ मर जाते हैं. पाठकों का प्रिय लेखक एक लंबे अरसे तक पारी खेलता है.

यही हुआ भी. श्रीलाल शुक्ल का गांव, कथा सम्राट प्रेमचंद के गांव से एकदम भिन्न है. बदलते हुए भारतीय गांव का ऐसा सटीक चित्रण इससे पूर्व न हुआ था. 'राग दरबारी' जितनी भी बार पढ़ो लंगड़ की त्रासदी देर तक पाठक मन को सालती रहती है.

अफसर साहित्यकारों की तरह श्रीलाल शुक्ल पर भी यह आरोप लगे हैं कि वे अफसरों में साहित्यकार और साहित्यकारों में अफसर रहे. उनकी संध्या पार्टियों के कई किस्से साहित्य जगत में चर्चित हैं मगर पत्नी गिरिजा के अस्वस्थ होने पर उनकी देखभाल में श्रीलाल शुक्ल का अलग रूप सामने आया. उन्हें निकट से जानने वाले रवींद्र कालिया लिखते हैं.

'वह बदले हुए श्रीलाल थे. मस्त, मलंग और बेफिक्र रहने वाले श्रीलाल उद्वेलित थे. गिरिजा जी की बीमारी ने उनकी दिनचर्या ही बदल डाली थी. महीनों से शराब नहीं छुई थी. नशे में नींद लग गई तो गिरिजा को कौन देखेगा? वह कहते. इस समय उनकी एक ही मुराद थी कि किसी तरह गिरिजा जी स्वस्थ हो जायें. गिरिजा जी को देख कर लगता था कि वह जैसे पहले ही विदा ले चुकी हैं. एक औपचारिकता शेष है. इस समय श्रीलाल जी लेखक थे न आरामपसंद अवकाश प्राप्त अधिकारी, वह मात्र पति थे, प्रेमी थे, दोस्त थे. पास ही मेज पर कई दिनों के समाचारपत्र और पत्र पत्रिकाएँ पड़ी थीं. लगता था, समाचारपत्रों की तह भी नहीं खुली. एक कोने में लावारिस सी डाक पड़ी थी. श्रीलाल जी का समर्पण भाव मेरे लिए एकदम नया अनुभव था. मैं उन्हें मूल रूप से एक रसिक व्यक्ति ही मानता था. कई बार तो श्रीलाल जी से बात करके उस भौरे की याद आ जाती थी, जो किसी पुष्प वाटिका में उन्मुक्त विहार कर रहा हो.'

****

कितना सार्थक है हिंदी दिवस ?

सितंबर का महीना आते ही हवा में हिंदी की खुशबू बिखरने लगती है और हर साल 14 सितंबर को पूरे देश में हिंदी दिवस धूम धाम से मनाया जाता है ।आज़ादी के बाद हिंदी भाषी लोगों के लिए एक दिन "सरकारी उत्सव " का मिल गया है ।हिंदी अब दिवस की भाषा बन कर रह गयी है शायद इसलिए सरकारी संस्थानों में हिंदी दिवस अब एक रूटीन कार्यक्रम बन कर रह गया है और अब रस्म अदायगीअधिक दिखाई देने लगी है पर हिंदी दिवस मनाने की परंपरा शुरू होने से सैकड़ों वर्ष पूर्व हिंदी हमारे देश के लोगों की चेतना में समाई हुई थी , नस नस में व्याप्त थी।

इन सैकड़ों वर्षों में हिंदी ने अपनी एक लंबी विकास यात्रा पूरी की है जिसमें हिंदी का रंग ढंग, चाल चलन, शैली ,कहन अंदाज़ और स्वरूप में भी काफी बदलाव हुआ है। अब वह हिंदी नहीं है जो हिंदी कभी अमीर खुसरो के पदों मुकरियों में थी या तुलसीदास की चौपाइयों में थी या कबीर की उलट बांसियों में या रहीम के दोहों में या फिर विलियम फोर्ट कालेज के सदल मिश्र और लल्लू लाल के गद्य में थी ।

हिंदी की बिंदी के रंग में भी काफी बदलाव हुए और आज उसे कई रंगों और कई आवाजों में देखा सुना जा सकता है। हिंदी को भले ही हमने संविधान सभा मे 14 सितम्बर 1949 को राजभाषा के रूप में अंगीकार किया लेकिन वह लोक भाषा और जन भाषा के रूप में हिंदी पट्टी के हृदय में वर्षों से बसी हुई है। भले ही संविधान द्वारा हमने हिंदी को केवल राज्य भाषा के रूप में मान्यता दी हो लेकिन महात्मा गांधी की दृष्टि में वह " राष्ट्रभाषा "की हकदार रही ।यह अलग बात है कि उसे आज तक इस रूप में स्वीकार नहीं किया गया ।

इसका एक बड़ा कारण है कि भारत एक बहु सांस्कृतिक देश है और यहां कई भाषाएं लिखी और बोली जाती हैं,इसलिए हिंदी को भारतीय भाषाओं को दरकिनार कर "राष्ट्रभाषा" का दर्जा नहीं दिया जा सका लेकिन पूरे देश में एक संपर्क भाषा के रूप में हिंदी ही आज व्यावहारिक रूप से "राष्ट्रभाषा " भी बनी हुई है।

दरअसल आज हिंदी जिस रूप में मौजूद है उसे एक लंबा संघर्ष भी करना पड़ा है ।अगर आप देवनागरी लिपि के इतिहास को पढ़ें और जानें तो पता चलेगा कि उसे उर्दू फारसी के बरक्स एक लंबी लड़ाई लड़नी पड़ी थी क्योंकि अंग्रेजों के जमाने में कोर्ट कचहरियों की भाषा उर्दू ही थी वह शासन की भाषा थी। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती में 19 10 के आस-पास एक लेख लिखा था जिसमें बताया गया था कि उस जमाने में उर्दू की किताबें हिंदी से अधिक संख्या में छपती थी और हिंदी को उचित दर्जा प्राप्त नहीं था धीरे-धीरे हिंदी का विकास हुआ और हिंदी सेवियों कोश निर्माताओं पत्रकारों लेखकों और राष्ट्रीय आंदोलन के नेताओं ने हिंदी का प्रचार प्रसार किया।इसमें उर्दू मराठी बंगला और दक्षिण भारत के भी लोग शामिल थे।

हम सब जानते हैं कि प्रेमचंद जैसे लेखक उर्दू से ही हिंदी में आए थे। उससे पहले हिंदी साहित्य उस रूप में मौजूद नहीं हुआ था यद्यपि लाला श्रीनिवास दास श्रद्धाराम फिल्लौरी देवकी नंदन खत्री के उपन्यास आ चुके थे और उनकी महत्ता तथा लोकप्रियता समाज में काफी सिद्ध हो चुकी थी।इस तरह हिंदी आधुनिक हिंदी का इतिहास डेढ़ सौ साल का इतिहास है। वैसे तो उदंड मार्तंड से हिंदी पत्रकारिता का आरंभ हो चुका था लेकिन क्या कारण हैइतना सारा कुछ होने के बाद भी हिंदी को आज भी वह दर्जा नहीं मिल पाया जो उसकी हकदार है ।

असल में हिंदी को एक औपनिवेशिक दासता की मानसिकता से आज तक संघर्ष करना पड़ा है और आज भी हिंदी को अंग्रेजी के सामने कई बार कमतर कमजोर और लाचार पेश किया जाता है लेकिन यह वास्तविकता नहीं है बल्कि यह शासक वर्गों की नीतियों का नतीजा है।हिंदी में केवल खड़ी बोली के शब्द नहीं हैं बल्कि तत्सम और देशज शब्द हैं उसमें बोलियां की मिठास है उर्दू फारसी अरबी की नजाकत के अलावा पुर्तगाली और फ्रेंच तथा इतालवी शब्द भी घुले मिले हैं।

दरअसल हमने हिंदी को केवल हिंदी दिवस के हाल पर छोड़ दिया और यह धीरे-धीरे कर्मकांड और पाखंड की भाषा भी बनती चली गई ।शायद यही कारण है कि रघुवीर सहाय ने में हिंदी की स्तिथि पर एक बहुचर्चित कटाक्ष पूर्ण कविता लिखी थी जिसमे उन्होंने हिंदी को दुहाजू की बीवी कहा था जिसको लेकर उस जमाने में बड़ा विवाद भी खड़ा हुआ था और श्रीनारायण चतुर्वेदी जैसे लोगों ने तब बड़ा विरोध किया था। लेकिन हर साल हिंदी दिवस मनाने का सिलसिला खत्म नहीं हुआ और आज भी जारी है।

अक्सर यह प्रश्न उठाया जाता है क्या हिंदी का कोई भविष्य है ? अब तो वह बाजार की भी भाषा बन गई है। वह गूगल और सोशल मीडिया की भाषा बन गई है। टाइपराइटर के बाद कम्प्यूटर की भाषा बन गयी है। अब तो वह गूगल ट्रांसलेशन की

भाषा है और हिंदी में बोलकर हिंदी में टाइप करने के एप्प भी आ गए हैं।हिंदी फिल्मों और हिंदी गीतों ने हिंदी को जितना फैलाया है उतना तो शायद हिंदी लेखकों ने नहीं फैलाया होगा।

नई आर्थिक नीति के बाद देश में जिस तरह बाजार फैला है उस बाजार ने भी हिंदी को प्रचारित प्रसारित किया है । हिंदी के चैनलों ने भी हिंदी का प्रचार प्रसार बहुत किया है लेकिन सरकारी कामकाज में जो हिंदी का प्रयोग किया जा रहा है वह कृतिम भाषा है। दरअसल वह अनुवाद की भाषा है बनकर रह गई है ।राष्ट्रपति के अभिभाषण से लेकर संसद की कार्यवाही भी अंग्रेजी में होती है और उसका हिंदी अनुवाद पेश होता है।यह अनुवाद इतना कृतिम और जटिल एवम उबाऊ होता है कि लगता नहीं की हिंदी है।

आज भी सरकारी कामकाज में पहले अंग्रेजी का ही प्रयोग होता है और बाद में उसका हिंदी अनुवाद किया जाता है।दरअसल हमारी नौकरशाही हिंदी में लिखने पढ़ने में निर्णय लेने और टिप्पणियां करने में सक्षम नहीं है।आजादी के 75 साल बाद भी हम नए संसद भवन का नाम अंग्रेजी में सेंट्रल विस्टा रख रहे हैं। इससे हिंदी की स्थिति का पता चलता है। राजनीतिक मजबूरियों और वोट बैंक के कारण हिंदी आज जरूर चुनाव की भाषा है। हिंदी भाषी इलाकों में नेताओं को इससे वोट मिलता है लेकिन हिंदी में रोजगार के अवसर कम है ।कोई भी भाषा तभी विकसित होती है जब उसमें रोजगार हो उसमें शोध कार्य हो अनुसंधान हो लेकिन अभी भी समाज विज्ञान की भाषा के रूप में मेडिकल साइंस की भाषा के रूप में तकनीकी विज्ञान की भाषा में रूप में हिंदी का पर्याप्त विकास नहीं हुआ है ।

एक जमाना था जब बिहार राष्ट्र भाषा परिषद से रबर पेट्रोलियम की किताबें और समाज विज्ञान की किताबें उपलब्ध थीं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा हिंदी साहित्य सम्मेलन ने हिंदी के प्रचार प्रसार में भूमिका निभाई अब ऐसी संस्थाएं नहीं है जो हिंदी के लिए काम करें । दरअसल जब तक हम हिंदी को केवल हिंदी पट्टी की भाषा बनाकर रखेंगे हिंदी का यह हाल रहेग। महात्मा गांधी ने 1918 मेंही दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा का गठन किया था।पी वी नरसिंह राव जैसे लोग उसके माध्यम से हिंदी के प्रचारक बने थे।आज भी हिंदी के लिए काम करनेवाले लोग हैं उन्हें पहचानने मंच पर लाने की जरूरत है। दिनकर ने बहुत पहले कहा था कि हिंदी को भारतीय भाषाओं के साथ मिलकर काम करना पड़ेगा तभी वह अंग्रेजी के खिलाफ अपनी लड़ाई लड़ सकेगी। लेकिन हिंदी अब उर्दू के साथ भी मिलकर भी नहीं चलती ।गांधी जी ने हिंदुस्तानी की वकालत की थी पर हिंदी का राष्ट्रवाद विजयी हुआ।नेहरू जी पर पुरुषोत्तम दास टण्डन और डॉक्टर रघुवीर हावी हो गए

गांधी जी के सामने हिंदुस्तानी हार गई और हिंदी बहुमत से जीत गयी।लेकिन हिंदी अंग्रेजी की दासी बना दी गयी।अंग्रेजी के बिना उसका काम नहीं चलता।पर

हिंदी को वह सम्मान जरूर मिले जिसकी वह हकदार है और यह तभी संभव है जब हिंदी साहित्य के लेखक पत्रकार शिक्षक से लेकर हिंदी में काम करने वाले सभी लोग और नौकरशाही तथा राजनेता हिंदी से प्यार करें उसे पढ़े लिखें और इस बात को समझें हिंदी का विकास करना बहुत जरूरी हैतभी हिंदी मजबूत होग।उसे 14 सितंबर के भरोसे न छोड़ें तभी हिंदी की बिंदी चमकेगी। लेकिन अंग्रेजी स्कूल में पढ़कर घर मे अंग्रेजी बोलकर हिंदी दिवस मनाना बेमानी है। हिन्दी को केवल हिंदी दिवस से नहीं विकसित किया जा सकता क्योंकिवह केवल भाषा नहीं है बल्कि एक संस्कृति भी है। लेकिन हिंदी गृह मंत्रालय के अधीन है संस्कृति मंत्रालय के अधीन नहीं है।यह हिंदी की बिडम्बना है।

यशस्वी लेखक अज्ञेय की जीवनी अंग्रेजी में

अज्ञेय: वो विद्रोही लेखक, जिसने साहित्य और जीवन दोनों ही में परंपराओं को तोड़ा

पुस्तक समीक्षा: हिंदी कविता और नई कहानी के प्रमुख हस्ताक्षर रहे अज्ञेय की अक्षय मुकुल द्वारा लिखी जीवनी 'राइटर, रेबेल, सोल्जर, लवर: द मैनी लाइव्ज़ ऑफ अज्ञेय' उनके जीवन के अनगिनत पहलुओं को तो उभारती ही है, साथ ही 1925 से 1980 के भारत के राजनीतिक-सामाजिक इतिहास का भी दस्तावेज़ बन जाती है.

हाल ही में साहित्यकार अज्ञेय पर पेंगुइन रैंडम हाउस से प्रकाशित 780 पृष्ठों की 'राइटर, रेबेल, सोल्जर, लवर: द मैनी लाइव्ज़ ऑफ अज्ञेय' लेखक-पत्रकार अक्षय मुकुल की शोधपरक किताब है, जिसकी तैयारी वह पिछले कई वर्षों से कर रहे थे. एकबारगी देखकर लगता है कि इतनी बड़ी, भारी-भरकम किताब! पर इन पन्नों से धीरे-धीरे उभरते व्यक्ति की जो छवि किताब खत्म होने पर स्वरूप ग्रहण करती है, उसके इतने विविध-विस्तृत जीवन के सामने इतने पृष्ठ भी कम ही लगते हैं.

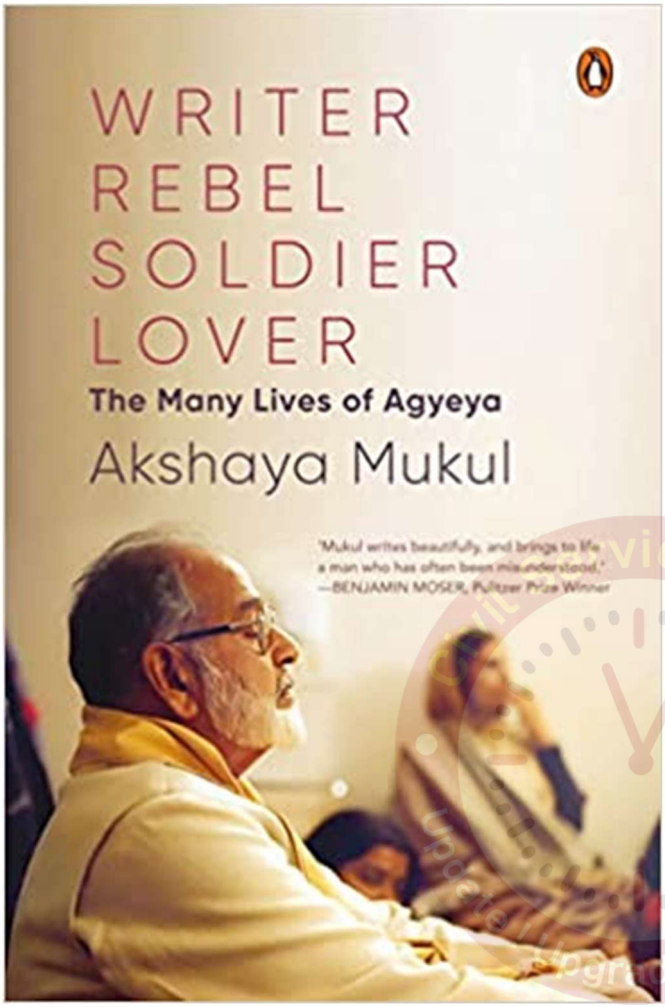

हिंदी साहित्य नहीं, बल्कि आधुनिक भारतीय साहित्य और पत्रकारिता की धारा में सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' (1911-1987) का स्थान और योगदान इतना विशिष्ट है कि हिंदी में लिखी कई प्रामाणिक जीवनियों के बाद भी अक्षय मुकुल का यह नया योगदान जरूरी हस्तक्षेप भी लगता है और पिछली कमियों की पूर्ति भी.

पर पहला सवाल जो सबसे पहले किसी भी जिज्ञासु पाठक के मन में- विशेषकर जो हिंदी साहित्य से इतना वाकिफ़ न हो- वह यह हो सकता है कि 35 साल पहले गुज़र चुके अज्ञेय की ही जीवनी क्यों?

तो उसके कुछ जवाब हैं, मसलन-जैसा कि मुकुल की किताब के शीर्षक से ही स्पष्ट है कि अज्ञेय ने एक ही जीवन में कई जीवन जिया था. वह स्वतंत्रता आंदोलन में क्रांतिकारी थे, द्वितीय विश्वयुद्ध के समय सेना में शामिल थे, साहित्य और आलोचना के क्षेत्र में युगों के प्रवर्तनकर्ता थे (हिंदी साहित्य में प्रयोगवाद और तार सप्तक के माध्यम से कविता का एक नया युग), भारतीय पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रयोगवादी थे (प्रतीक, दिनमान, वाक जैसी लोकप्रिय साहित्यिक पत्रिकाएं), वैश्विक साहित्य और साहित्य-दृष्टियों, दर्शनों को भारतीय साहित्य से संपर्क करवाने वाले थे (जर्मन साहित्य, जापानी साहित्य का अनुवाद), भारतीय संस्कृति और धर्म के आध्यात्मिक मायनों के खोजी थे (भारतीय धर्मनिरपेक्षता की सामान्य परिभाषा के आलोचक और हिन्दुत्व-संबंधी विचार) और इन सबके ऊपर भारतीय राष्ट्र-राज्य के निर्माण के प्रत्यक्षदर्शी थे (स्वतंत्रता-विभाजन, संविधान-संस्थाओं का निर्माण, भारत-चीन युद्ध, बांग्लादेश का निर्माण, आपातकाल, बिहार-अकाल जैसे महत्वपूर्ण क्षणों के साक्षी).

कहने का अर्थ यह कि हिंदी कविता और नई कहानी का वह प्रमुख हस्ताक्षर जिसने साहित्य और जीवन दोनों ही में परंपराओं को तोड़ा, जिसके दर्शन और साहित्य दोनों ही को अपार प्रशंसा और घोर विरोध के दो विपरीत ध्रुवों में आंका गया. इसलिए यह जीवनी अज्ञेय के जीवन के अनगिनत पहलुओं को तो उभारती है ही, 1925 से (अज्ञेय के किशोरावस्था से) 1980 के भारत के राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास का भी दस्तावेज़ बन जाती है.

इस अर्थ में यह जीवनी अज्ञेय की विचारधारा- जहां वह व्यक्ति को समाज से अधिक वरीयता देते हैं-से अलग हो जाती है क्योंकि मुकुल, व्यक्ति अज्ञेय के जीवन और उसके दर्शन को उसके समाज और समय से अलग करके

नहीं लिख सकते थे. इसलिए एक साहित्यिक जीवनी से अधिक यह एक विचारक-दार्शनिक की भी जीवनी है, जिस पर उसके समय के प्रभाव थे और जिसने अपने समय को प्रभावित किया था, जिसने विदेशों की अपनी लंबी यात्राओं और प्रवासों के अनुभव से नई-नई संस्कृतियों और परंपराओं को समझा, भारतीय कला और दर्शन के संदर्भ को वैश्विक स्तर पर कॉन्फ्रेंसों में, सेमिनारों में प्रतिनिधित्व दिया, हिंदी साहित्य और भाषा को बर्कले और हाइडलबर्ग जैसे विश्वविद्यालयों में लोकप्रिय बनाया. जिसने वत्सल निधि ट्रस्ट द्वारा साहित्यिक पदयात्राओं और शिविरों के माध्यम से हिंदी साहित्य में नई-नई लहरें उठाईं, जीवन का एक लंबा दौर नए रचनाकारों और साहित्यिकों के मार्गदर्शन और प्रोत्साहन में बिताया (रघुवीर सहाय, निर्मल वर्मा, कैलाश वाजपेयी, राजकमल चौधरी) और अपनी साहित्यिक साझेदारियों (परिमल समूह, प्रकाशक श्रीपत राय, विद्या निवास मिश्र, नेमिचन्द्र जैन) से साहित्य में, पत्रकारिता में नए-नए प्रयोग किए.

जीवनी को लेखन की सुविधा की दृष्टि से मुकुल ने पांच कालखंडों में बांटा है- 1) 1911-36, 2) 1936-43, 3) 1943-52, 4) 1952-1964, 5) 1964-1987. हर कालखंड में अज्ञेय के व्यक्तित्व के अलग-अलग तेवर, अलग-अलग मान्यताएं, अलग-अलग प्राथमिकताएं हैं, पर एक अंतर्धारा जो इन सब में सतत बहती रही है वो है- रचनाकार अज्ञेय की.

व्यक्तियों से, वादों से, संस्थाओं से जुड़ना-मोहभंग होता रहा, पर रचनात्मकता और वैचारिकता की शृंखला ताउम्र बनी रही. मुकुल न केवल अज्ञेय की सभी रचनाओं के लेखन के संदर्भ और प्रकाशन से जुड़ी कहानियां बतलाते हैं, बल्कि हर रचना को वृहत्तर साहित्यिक जगत ने किस प्रकार लिया, इसे भी दिखलाते हैं और इस प्रक्रिया में विभिन्न विचारधाराओं, वादों में विभाजित हिंदी साहित्य-जगत की गतिशील रचनात्मकता को भी बहुत हद तक पकड़ पाते हैं.

साहित्य-जगत की वैचारिक गहमागहमियां, पत्रकारिता से विचार-क्रांति लाने का जज़्बा, यह सब लेखक ने इतनी प्रामाणिकता से बतलाया है कि उस समय के बौद्धिक जन-क्षेत्र (पब्लिक स्फियर) की गतिशीलता और ऊर्जा, साहित्य और पाठक की सक्रिय साझेदारी को देखकर हैरानी होती है.

एक लेखक, विद्रोही, सैनिक और प्रेमी की भूमिकाओं में अगर चुनाव किया जाए तो मेरी दृष्टि में अज्ञेय सबसे पहले और सबसे आखिरी एक लेखक थे. 'आंगन के पार द्वार' पर साहित्य अकादमी पुरस्कार और 'कितनी नावों में कितनी बार' काव्य संग्रह पर ज्ञानपीठ पुरस्कार, उनकी रचनात्मक श्रेष्ठता का प्रमाणपत्र मात्र नहीं, बल्कि हिंदी कविता को अज्ञेय के योगदान की झलक हैं.

लेखक ने उनकी कविताओं के अनूदित अंश बहुत स्थानों पर दिए हैं और लगभग सभी रचनाओं का सार भी यथासंभव दिया है जिससे 'रचनाकार' अज्ञेय को समझने में आसानी होगी, विशेषकर उन पाठकों को जिन्होंने अज्ञेय को नहीं पढ़ा है. पर सबसे अधिक रोचक हिस्से वह बन पड़े हैं जहां मुकुल एक ही रचना को लेकर साहित्यिकों-आलोचकों द्वारा की गई प्रतिक्रिया और आम पाठकों के पत्र एक साथ दिखाते चलते हैं.

इस अभ्यास से लेखक की लोकप्रियता-आलोचना का आधार समझने में आसानी होती है. अज्ञेय को लेकर अक्षय मुकुल के निजी विचार प्रत्यक्ष रूप से परिचय और अंतिम खंड के आखिरी हिस्सों में ही आया है. वह अज्ञेय के कार्यों, निर्णयों पर भावावेश में आकर टिप्पणी करने से अधिकांशतः बचे हैं.

अज्ञेय का स्वतंत्रता आंदोलन के दिनों में क्रांतिकारी राष्ट्रवाद से जुड़ना और भगत सिंह-सुखदेव की परंपरा की अगली कड़ी बनने का पूरा इतिहास जितना रोचक है, उतना ही यह समझना कि वह किस प्रकार इसे सैद्धांतिक स्तर पर आत्मसात कर चुके थे. बम बनाने से लेकर, साथी यशपाल से सैद्धांतिक मतभेद यह सब विद्रोही अज्ञेय के व्यक्तित्व के ही एक रूप थे.

आगे चलकर द्वितीय विश्वयुद्ध में जहां भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस युद्ध में भारतीयों को बिना उनकी मर्ज़ी जाने शामिल कर लिए जाने के विरोध में खड़ी थी, वहीं पर क्रांतिकारी अज्ञेय का सेना में सम्मिलित होने का निर्णय भी हतप्रभ करता है. पर जैसा कि मुकुल बार-बार स्पष्ट करते हैं कि अज्ञेय की लड़ाई फ़ासीवादी शक्तियों से थी और इस कार्य के लिए अगर ब्रिटिश सरकार का साथ भी देना पड़े तो वह तैयार थे. क्रांतिकारी जीवन और सैन्य अनुभवों ने अज्ञेय की रचनात्मकता पर गहरा प्रभाव डाला.

अज्ञेय. (फोटो साभार: इसी किताब से)

अज्ञेय से जुड़े कई विवादों को भी मुकुल संबोधित करते हैं. चाहे वह हिंदी मार्क्सवादी-प्रगतिवादी धड़े के साथ अज्ञेय के सैद्धांतिक मतभेद हों (एक तरह शिवदान सिंह चौहान, नामवर सिंह से विरोध और दूसरी तरफ गजानन माधव मुक्तिबोध से आजन्म तुलना का प्रश्न) या कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम (जिसे सीआईए द्वारा अनुदान दिया जाता था) से जुड़े विवाद- जहां उन पर सीआईए का एजेंट होने का आरोप लगाया गया (जिससे स्वयं जय प्रकाश नारायण को भी जूझना पड़ा था) या किसी पार्टी विशेष की राजनीति से सरोकार नहीं रखने की अज्ञेय की विचारधारा के विरोधाभास, जब वो अंतिम दशकों में दक्षिणपंथ की राजनीतिक मान्यताओं के तरफ झुकते दिखते हैं.

इसी प्रकार, पुरस्कारों के प्रति, विशेषकर राज्य द्वारा दिए गए सम्मानों के प्रति उनका सैद्धांतिक विरोध भी बाद में उतने मुखर रूप में वह खुद पर लागू करते नहीं दिखते. अज्ञेय के व्यक्तित्व के ऐसे कई विरोधाभासों को मुकुल सामने लाते हैं, जहां अधिकांशतः जीवनीकार ने अपनी तटस्थता बनाए रखी है, पर कहीं-कहीं वह अज्ञेय के वक्ता के रूप में भी नजर आते हैं- संभवतः एक अंदरूनी द्वंद्व कि कितने हद तक अज्ञेय के व्यक्तित्व को तर्कसंगत, वैध ठहराया जाए.

पर देखा जाए तो ऐसा लगता है, मानो मुकुल स्वयं अपने 'विषय' के लार्जर देन लाइफ जीवन को लेकर उत्सुक हैं, और इसलिए पूरी रचना इस जिज्ञासा का समाधान ढूंढने का प्रयास है.

अज्ञेय ने साहित्य, पत्रकारिता, संस्कृति के क्षेत्र में साहित्यकार और एक बुद्धिजीवी होने की दृष्टि से जितने भी कार्य किए, उन सब का विस्तृत विवरण मुकुल ने दिया है. किताब के शुरुआती खंडों में यह विवरण बोझिल नहीं लगते पर अंतिम खंड आते-आते विवरण इतने शुष्क हो जाते हैं कि लगता है जीवन दृष्टि को उभारने के बजाय अज्ञेय के कार्यों के सूक्ष्म से सूक्ष्म ब्योरों को सिलेसिलेवार रूप से इकट्ठा कर दिया गया है.

पर, लेखक की भी संभवतः अपनी मजबूरी रही हो जब, उनके पास प्रारंभिक स्रोतों का इतना भंडार था (अज्ञेय के पत्र-निजी दस्तावजों से भरे 20 बक्से, कुछ कार्टन और दो अलमारियां) तो किस पहलू को छोड़ना है, और किसे डालना, यह चुनाव करना सबसे दुरूह रहा होगा. पर तथ्यों की अधिकता के बाद भी मुकुल के लिखने की शैली वस्तुतः इतनी रोचक है कि परदे पर फिल्म के दृश्य जिस तरह गुजरते हैं, उसी तरह नायक (कइयों के खलनायक?) अज्ञेय की कहानी हमारे सामने चलती रहती है.

अज्ञेय जो स्वयं यह मानते थे कि उनका जीवन एक आम साहित्यिकार की तरह या यूं कहें कि सामान्य पारंपरिक जीवन के ढर्रे पर नहीं बैठता था, उस व्यक्तित्व को लेखक ने उसकी पूरी विचित्रता में दिखलाया है.

अज्ञेय के जीवन में स्त्रियों की भूमिका को लेकर, प्रेम को लेकर अज्ञेय के नजरिये को बहुत हद तक मुकुल ने उभारा है. चाहे वह 'शेखर एक जीवनी' की शशि हो, या 'नदी के द्वीप' की रेखा, वह सब अज्ञेय के अपने यथार्थ से निर्मित पात्र थे.

बुआ की लड़की इंदुमती से अज्ञेय का एक अनाम संबंध (जिसका पीछा बहुत दूर तक मुकुल करते हैं), तो कृपा सेन से अज्ञेय की प्रगाढ़ता, जिसे अज्ञेय विवाह में नहीं बदल पाते, या जीवन के अंतिम दशकों में अपने से 30 साल छोटी इला के साथ रहने का निर्णय- यह सब अज्ञेय के जीवन में प्रेम के अलग-अलग पड़ाव हैं.

पहली पत्नी संतोष से शादी का निर्णय अगर एक बड़ी भूल थी तो, उम्र में सत्रह साल छोटी कपिला मलिक (आगे चलकर कपिला वात्स्यायन) से किया गया दूसरा विवाह रचनात्मक जीवन की नई आवश्यकता. पाठक को भले ही यह सब जानकर हैरानी का सामना करना पड़ता हो, पर लेखक अज्ञेय के निर्णयों के मानसिक कारणों की पड़ताल में जुटा दिखता है- उस पड़ताल में वह यही पाता है कि हर बार प्रेम, शादी के भंवर से मुक्त हो जाने की नैतिक ज़िम्मेदारी अज्ञेय बिना किसी अपराधबोध के उन स्त्रियों पर डालते हुए खुद धूल झाड़कर आगे बढ़ जाते हैं.

लेखक इन स्त्रियों से सहानुभूति रखकर भी अज्ञेय पर कड़े प्रश्न उठाने का साहस नहीं दिखाता. मानो अज्ञेय के निर्णयों को सब चुपचाप एक कड़वे घूंट की तरह स्वीकार करने के लिए बाध्य दिखते हैं- चाहे फिर वो अज्ञेय के जीवन की स्त्रियां हो या स्वयं जीवनीकार. शक्ति और प्रभाव के विशेषाधिकार से लैस व्यक्ति के हर कार्य को मौन सहमति किस प्रकार मिली हुई थी, इस पर केवल आश्चर्य ही किया जा सकता है.

बहरहाल, लेखक के अध्ययन की प्रामाणिकता और विस्तार पर कोई सवाल नहीं उठाया जा सकता. अज्ञेय पर अब तक हुए सभी रचनात्मक कामों के गहरे अध्ययन के बाद ही यह किताब लिखी गई है जिसका प्रमाण है किताब के अंत में 200 से भी अधिक पृष्ठों में समाहित संदर्भ सूची और टिप्पणिया. जिस बारीकी से इन स्रोतों का जीवनी के लिए उपयोग किया गया है, उसे देखकर मुकुल की कड़ी मेहनत की सराहना किए बिना नहीं रहा जा सकता.

पर निस्संदेह ऐसी मेहनत का आधार अज्ञेय के लिए पैशन ही हो सकता है. पर चूंकि यह अज्ञेय को केंद्र में रखकर लिखी गई किताब है इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि यह सिर्फ अज्ञेय का पक्ष सबसे सबल रूप में रख रही है. जिस तरह मुकुल किताब में इस बात की संभावना देते हैं कि हिंदी पत्रकारिता-प्रकाशन संस्थाओं के इतिहास पर शोध होना चाहिए ताकि अज्ञेय और उन जैसे कई संपादकों के योगदान का आकलन किया जा सकेगा. उसी तरह अज्ञेय के प्रतिपक्ष रचने वालों पर भी इतना ही विस्तृत शोध न केवल एक नए व्यक्तित्व को सतह पर लाएगा बल्कि उससे साहित्य की वैचारिक गतिशीलता का एक अलग इतिहास लिखा जा सकेगा.
और एक और अहम बात जो इस जीवनी को पढ़कर लगती है वह यह है कि अज्ञेय के विशेषाधिकारों से भरी हुई ज़िंदगी- जहां सुविधाओं, साधनों और मौकों की कोई कमी नहीं थी, पर तो महाकाव्य लिख दिया गया, ऐसा महाकाव्य क्या औरों पर (जिनके पास विशेषाधिकार नहीं रहे) लिखा जा सकेगा- क्या उनके जीवन की भी महानता या न्यूनता तय की जा सकेगी- वह भी विशेषाधिकार वाली भाषा अंग्रेजी में?
अक्षय मुकुल की साल 2015 में प्रकाशित पहली किताब 'गीता प्रेस एंड द मेकिंग ऑफ हिंदू इंडिया' ने हिंदू राष्ट्रवाद के अध्ययन में एक नया अध्याय जोड़ा था. धार्मिक पत्रिकाओं की भूमिका एक व्यापक सांप्रदायिक हिंदू जनमत तैयार करने में किस प्रकार महत्वपूर्ण रही, मुकुल ने अपनी पहली किताब में दिखलाया था. संभव है, अज्ञेय की यह विस्तृत जीवनी हिंदी और बाकी भाषाओं के रचनाकारों पर भी इस तरह के विस्तृत शोध के लिए नए रास्ते खोले.

(अदिति भारद्वाज दिल्ली विश्वविद्यालय में शोधार्थी हैं.)

गीतांजलि श्री को बुकर मिलना हिंदी भाषा के लिए बड़ी बात क्यों?

गीतांजलि श्री हिंदी की पहली ऐसी लेखिका हैं जिन्हें अंतर्राष्ट्रीय बुकर पुरस्कार मिला है. यह पुरस्कार उनके उपन्यास **'रेत समाधि'** के अंग्रेज़ी अनुवाद 'टूंब ऑफ़ सैंड' के लिए दिया गया. इसका अनुवाद प्रसिद्ध अनुवादक डेज़ी रॉकवाल ने किया है.

हिंदी की दुनिया के लिए क्यों बड़ा है यह सम्मान?

यह पहला मौक़ा है जब कोई हिंदी रचना बुकर के लिए पहले लॉन्गलिस्टेड, फिर शॉर्टलिस्टेड और फिर बुकर से सम्मानित हुई हो. हिंदी के अधिकांश साहित्यकारों का मानना है कि राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित 'रेत समाधि' ने 'टूंब ऑफ़ सैंड' तक की अपनी यात्रा में हिंदी के फलक को विस्तृत करने का काम किया है.

वरिष्ठ आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी बीबीसी से कहा, "यह हिंदी के लिए बहुत बड़ी घटना है. हिंदी भाषा की जो रचनाधर्मिता है, यह उसका उदाहरण हैं. पूरे देश को इस पर गर्व होना चाहिए और हो रहा है. इस पुरस्कार के बाद जितने रचनाकार हैं उन्हें एक बल मिलेगा, एक ऊर्जा मिलेगी और अपनी वास्तविक शक्ति के प्रति वे आश्वस्त होंगे. सम्मान किसी रचना को कालजयी और महान तो बनाता ही है लेकिन उससे ज़्यादा उसे महान पाठक बनाते हैं. यह हिंदी की पठनीय रचना तो थी ही, अब सम्मानित भी है."

वो कहते हैं कि हिंदी के रचनाकारों को हमेशा ही लगता रहा है कि उन्हें अंतरराष्ट्रीय स्तर पर उचित सम्मान नहीं मिला. कबीर, सूर, मीरा, तुलसी से लेकर अज्ञेय, निराला, मुक्तिबोध जैसे लेखक विश्वस्तरीय हैं लेकिन इन्हें अंतरराष्ट्रीय स्तर पर कोई ऐसा सम्मान नहीं मिला. यह पहला ऐसा ऐतिहासिक अवसर है जब हमारी भाषा इस तरह सम्मानित हुई है.

जानेमाने कवि, आलोचक अशोक वाजपेई भी ऐसा ही मानते हैं, वो कहते हैं "हिंदी को ऐसी अंतरराष्ट्रीय मान्यता पहले कभी नहीं मिली. कृष्ण बलदेव वैद, कृष्णा सोबती, अज्ञेय आदि अंतरराष्ट्रीय स्तर पर ख्याति प्राप्त हैं लेकिन हमारे जीवित रहते किसी को यह पुरस्कार मिलते देखने बहुत बड़ी बात है."

गीतांजलि श्री को 'इंटरनेशनल बुकर प्राइज़' मिलने की तुलना मार्केज़ के उपन्यास से क्यों?

लेकिन उपन्यासकार मैत्रेयी पुष्पा का मानना है कि यह सच है, जो हुआ है वो अब तक नहीं हुआ था लेकिन हमें नहीं भूलना चाहिए कि यह मूल कृति की जगह अनूदित कृति को दिया गया पुरस्कार है.

वो कहती हैं, "अगर अंग्रेज़ी में अनुवाद न हुआ होता तो क्या 'रेत समाधि' की उतनी ही चर्चा होती जितनी आज हो रही है. जहां पुरस्कार मिला वो अंग्रेज़ी का माहौल है क्योंकि यह पुरस्कार अंग्रेज़ी अनुवाद पर ही निर्भर करता है. लेकिन इन सबके बावजूद यह हिंदी के लिए बड़ी घटना माना जा रहा है क्योंकि यहां अंग्रेज़ी का वर्चस्व काम कर रहा है."

हालांकि वरिष्ठ कथाकार चित्रा मुद्गल कहती हैं, "हमें अनुवाद बनाम मूल कृति के विवाद में नहीं पड़ना चाहिए. यह हिंदी और भारतीय भाषाओं के लिए गौरवशाली क्षण है और मैं इसे पूरी तरह हिंदी का सम्मान मानती हूं क्योंकि कृति पहले आती है और अनुवाद बाद में."

वो कहती हैं कि यह इतना गौरवान्वित करने वाला क्षण है, लग रहा है जैसे गीतांजलि के बहाने हम सभी सम्मानित हो रहे हैं.

गीतांजलि श्री और उनका रचना संसार

गीतांजलि श्री पिछले तीन दशक से लेखन की दुनिया में सक्रिय हैं. उनका पहला उपन्यास 'माई' और फिर 'हमारा शहर उस बरस' 1990 के दशक में प्रकाशित हुए थे. फिर 'तिरोहित' आया और फिर आया 'खाली जगह'.

उनके कई कहानी संग्रह भी प्रकाशित हैं. वो स्त्री मन में, समाज के भीतर, समाज की परतों में बहुत धीरे-धीरे दाखिल होती हैं और बहुत संभलकर उन्हें खोलती और समझती हैं.

हिंदी कवयित्री अनामिका ने बीबीसी को बताया, "गीतांजलि की सबसे बड़ी ताक़त है कि वो 'माई' जैसे उपन्यास में ग्रामीण और कस्बाई जैसे परिवेश की कश्मकश सामने रखती हैं फिर 'तिरोहित' में मनोवैज्ञानिक स्तर पर उतरती हैं, 'हमारा शहर उस बरस' में बाबरी के माध्यम से राजनीतिक तनावों पर डॉक्यूमेंट्री फ़िल्म की तरह पाठ तैयार करती हैं और 'रेत समाधि' में वृद्ध स्त्री के ज़रिये बुढ़ापे का ठस्सा और युग का प्रतिनिधित्व करवाती हैं. कह सकते हैं कि गीतांजलि के कथानक की स्त्रियां पूरे हिंदुस्तान की स्त्रियों की अव्यक्त इच्छाओं का दस्तावेज़ हैं."

वैसे रेत समाधि के बारे में जब मैंने बीबीसी की ओर से गीतांजलि श्री से बात की थी तो मैंने उनसे कहा था कि आपके इस उपन्यास में सब कुछ है. जैसे स्त्री है, स्त्रियों का मन है, पुरुष है, थर्ड जेंडर है, प्रेम है, नाते हैं, समय है, समय को बांधने वाली छड़ी है, अविभाजित भारत है, विभाजन के बाद की तस्वीर है, जीवन का अंतिम चरण है, उस चरण में अनिच्छा से लेकर इच्छा का संचार है, मनोविज्ञान है, सरहद है, कौवे हैं, हास्य है, बहुत लंबे वाक्य हैं, बहुत छोटे वाक्य हैं, जीवन है, मृत्यु है और विमर्श है जो बहुत गहरा है, जो 'बातों का सच' है. जीवन की पूरी कहानी है.

गीतांजलि श्री का मानना है कि जो भी हम महसूस करते हैं वो सब एक कहानी है. यह आपकी सांस की तरह स्वाभाविक है.

उन पर कृष्णा सोबती और निर्मल वर्मा की छाया की बात कही जाती है जिसे वो सकारात्मक तरह से लेती हैं लेकिन उनका हमेशा मानना रहा है कि किसी से प्रेरित होने के बाद अपना अलग स्वर बनाना बहुत ज़रूरी है. शायद उन्होंने बनाया भी है.

जब उन्हें बुकर मिला तो मंच से गीतांजलि श्री ने हिंदी की समृद्ध साहित्यिक परंपरा की बात ज़ोर देकर कही. उन्होंने कहा कि जब किसी भाषा का साहित्य दूसरी भाषा तक जाता है तो जीवन का व्याकरण समृद्ध हो जाता है.

इस समृद्ध व्याकरण के पीछे डेज़ी रॉकवेल हैं. वो मानती हैं कि डेज़ी रॉकवेल के बिना यह सफर पूरा नहीं सकता था, जो सच भी है. उन्होंने बुकर समारोह में हिंदी अनुवादक डेज़ी रॉकवेल के साथ-साथ अपने उस फ्रेंच अनुवादक मित्र का भी धन्यवाद दिया जिसने सबसे पहले रेत समाधि का फ्रेंच अनुवाद किया था.

क्या बदलेगी इससे हिंदी की दुनिया?

हिंदी साहित्यिक दुनिया से जुड़े कई लोग मानते हैं कि हिंदी साहित्यिक दुनिया में बदलाव की बात होती है, फिर खो जाती है. यह सिलसिला चलता रहता है लेकिन जो नहीं होता वो है अनुवादकों पर विचार. आमतौर पर हिंदी में अनुवादकों के प्रति रवैया बहुत अच्छा नहीं है. उम्मीद है कि बुकर के बाद शायद कुछ बदलाव दिखे और शायद युवाओं को हिंदी साहित्य आकर्षित कर सके.

राजकमल प्रकाशन के सम्पादकीय निदेशक सत्यानन्द निरुपम कहते हैं कि इस परिघटना से हिंदी की युवा और युवतर पीढ़ी अपनी भाषा की साहित्यिक समृद्धि से नए सिरे से परिचित होगी.

अनुवाद के मुद्दे पर उन्होंने कहा, "अनुवाद के नाम पर केवल पुरस्कार देने भर से अनुवादक की गरिमा और अनुवाद की गुणवत्ता नहीं बढ़ेगी बल्कि अनुवादक को लेखक के बराबर समझने से स्थिति में बदलाव आएगा. इसमें हिंदी मीडिया और समाज को साथ आना होगा."

वहीं चित्रा मुद्गल भी मानती हैं कि जिस तरह से गीतांजलि श्री के साथ डेज़ी रॉकवेल का नाम जुड़ गया है और बुकर में दोनों को बराबर का हक़ मिला है, ऐसे ही कदम भारत में अकादमी और प्रकाशकों को उठाने चाहिएँ जिसमें बराबरी का सम्मान हो, फिर चाहे कवर पर अनुवादक का नाम हो या बेहतर पारिश्रमिक.
इन सबके बीच ऐसे बहुत से कमेंट्स पढ़ने में आ रहे हैं जहाँ 1913 में रबीन्द्रनाथ टैगोर की गीतांजलि के बाद लगभग 110 साल बाद गीतांजलि श्री को इस तरह से ख्याति मिलने की बात कही जा रही है. यह थोड़ा अतिशयोक्ति लग सकता है लेकिन जब-जब कहीं पहला मौक़ा आता है, ऐसी बातें उठती हैं. भारतीय भाषाओं के साहित्य में भी ऐसे मौक़े कम ही आए जब उत्सव मनता दिखा हो, फिर हिंदी में तो यह पहला मौक़ा है.
गीतांजलि श्री ने पहले भी कहा था और बुकर के बाद भी कहा कि असल बात तो तब है जब हम अपने आसपास हिंदी की उन रचनाओं को देखें जो वाकई इस लायक रहीं लेकिन हमने उन पर कभी ग़ौर नहीं किया. अगर हम ऐसा कर पाते हैं तो मेरा यहां तक पहुंचना सार्थक रहेगा.

****

मन्नू भंडारी का लेखन और हम लेखिकाओं पर उनका असर

मन्नू भंडारी के लेखन की बोधगम्यता उनके व्यक्तित्व की सहजता है.

उनके लेखन और व्यवहार में कोई फाँक नहीं है. 90 वर्ष की उम्र में उनके निधन के बाद समूचा साहित्य जगत और उनका बड़ा पाठक वर्ग शोक में डूब गया है. वो लंबे समय से बीमार चल रही थीं और उनका लेखन भी लगभग छूट चुका था. फिर भी वे हमेशा स्त्री लेखन की मज़बूत कड़ी बनी रहीं.

उनके निधन से साहित्य जगत में जो शून्य आया है, उसकी भरपाई असंभव है. वे उस दौर में लेखन कर रही थीं, जब स्त्रियाँ कम लिख रही थीं. उनकी संख्या उँगलियों पर गिनी जा सकती है.

उस समय भारतीय समाज संक्रमण काल से गुजर रहा था. मध्यवर्गीय परिवारों में विखंडन शुरू हो चुका था और स्त्रियाँ अपनी अस्मिता को लेकर मुखर हो रही थीं.

मन्नू जी ऐसे दौर में एक सुधारवादी नज़रिया लेकर कथा जगत में आती हैं. उसी दौर में स्त्रियाँ घरों से बाहर निकलीं और कामकाज़ी बनीं. उनका जीवन बदला और सोच भी बदली. इस यथार्थ और बदलाव को मन्नू जी कई कोणों से देख-समझ रही थीं.
उन्होंने कामकाज़ी महिलाओं के जीवन-प्रसंगों, उनकी समस्याओं को केंद्र में रखकर कई कहानियाँ लिखीं. सादा शिल्प, परिवेश पर पैनी निगाह और कथ्य की सहजता उन्हें हरेक दौर में प्रासंगिक बनाती रहीं.
मन्नू भंडारी नई कहानी आंदोलन का हिस्सा रही हैं, जिसकी शुरुआत कमलेश्वर, मोहन राकेश, राजेंद्र यादव और भीष्म साहनी जैसे लेखकों ने की थी. मन्नू भंडारी उन लेखिकाओं में से रही हैं, जिन्होंने नए दौर के बनते भारत की महिलाओं के संघर्ष और चुनौतियों को रचती रहीं. उनके दौर की तमाम लेखिकाओं पर इसका असर देखने को मिला.
मन्नू भंडारी के साथ लंबे समय से साथ रहीं लेखिका सुधा अरोड़ा बताती हैं, "मन्नू जी के जीवन की प्रतिकूल स्थितियों से लड़ने की उनकी ताक़त और एक निर्णय लेकर उस पर अडिग रहने की उनकी ज़िद, उनके जीवन को एक समाज वैज्ञानिक के नज़रिए से विश्लेषित करने की माँग करता है, जो आने वाली सदियों तक बीस के दशक में जन्मी औरतों के समाज, परिवेश और मूल्यों की पड़ताल के लिए एक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता रहेगा."

चर्चित लेखिका उषा किरण ख़ान मन्नू भंडारी के योगदान पर बताती हैं, "मन्नू भंडारी ने हिंदी कथा साहित्य को विश्वसनीय ऊँचाई दी. आधुनिक होती संवेदना से पगी हुई सहज भाषा, उनकी मौलिकता रही. मन्नू भंडारी ने सतत स्त्री पक्ष में खडे होने को चुना. स्त्री महानगर की हो या कस्बे की बडे संयत भाव से कलम पर आ विराजती. कथाओं में कभी कमज़ोर न होने दिया; बल्कि रास्ता भी सुझाया."

उषाकिरण ख़ान हिंदी साहित्य में मन्नू भंडारी के योगदान को रेखांकित करते हुए बताती हैं, "उन्होंने कोमल कथाकार का तमगा एक झटके से तोड़ डाला. महाभोज जैसी कृति लिखा, जिसमें राजनीति के क्रूर क्रियाकलापों को खोल कर रख दिया."

वहीं लेखक के तौर पर उनकी सफलता पर चर्चित कवयित्री अनामिका कहती हैं, "मन्नू जी की एक बड़ी सफलता यह है कि अब तक जो 'त्रिशंकु' बेचारगी से आबद्ध माना जाता था, एक बंकिम विक्षेप से उसे एक सोची-समझी रणनीति से जोड़कर यहाँ उन्होंने खड़ा कर दिया है."
मौजूदा समय के चर्चित कथाकारों में शुमार मनीषा कुलश्रेष्ठ उन्हें याद करते हुए कहती हैं, "हिंदी कहानी में नया तेवर और नए स्वाद के साथ साठ के दशक में जब मन्नू जी का पदार्पण हुआ, उसी समय उन्हें हिंदी के कथा जगत और पाठकों ने बड़े आराम से पहचान लिया था. संवेदनशील, सरल, बहुत संतुलित, कसा हुआ लेखन मन्नू जी के लेखन की पहचान थीं. शब्दों को लेकर वह मितव्ययी रहीं. आज के दौर में जब लेखक अपने लिखे वाक्य पर कैंची चलाते मोहग्रस्त रहता है, वहीं मन्नू जी ने अद्भुत आत्मसंयम के साथ 'यही सच है' जैसी प्रेम के द्वंद्व की कहानी लिखी, जो प्रेम कहानियों में मिसाल बनी रहेगी."

वहीं प्रसिद्ध आलोचिका रोहिणी अग्रवाल उन्हें अपनी तरह की पहली कहानीकार मानती हैं. उन्होंने कहा, "मन्नू भंडारी इस मायने में हिंदी की प्रारंभिक कहानीकार मानी जाएंगी कि वह पुरुष के उत्पीड़न की शिकार स्त्री की बेबसी को चित्रित करने की जगह, ऐसी स्त्री को परिदृश्य पर लेकर आईं जो तमाम नेकनीयती और सदाशयता के बावजूद अपने ही अंतर्विरोधों और कपटपूर्ण आचरण से अपने चारों ओर मकड़जाल बुनने लगती है."
हंस कथा सम्मान से सम्मानित युवा लेखिका योगिता यादव ने कहती हैं, "लेखक वह अद्भुत शख़्सियत है, जिसका रचा किसी के मन को बांधने, रोकने या उसे प्रेरित करने की क्षमता रखता है. हमारी प्रिय लेखिका मन्नू भंडारी इस हुनर की महारथी रहीं. मैं मन्नू जी को हमेशा 'आपका बंटी' के लिए याद करती हूं. उनके उपन्यास का वह पहला दृश्य, जिसमें एक बच्चे ने टेबल का सारा सामान फैला दिया, वह मेरे भीतर की स्त्री और मौजूदा समय की स्वच्छंदता को चुनौती देता है. स्त्री-पुरुष के संसार, उनके लाभ-हानि, प्रेम-प्रपंचों के बीच कोई तीसरा भी है, जिस पर उनके निर्णयों का असर पड़ता है."

योगिता यादव मन्नू भंडारी के लेखन से पड़ने वाले असर पर बताती हैं, "मेरे समय की स्त्री इतनी आत्मनिर्भर है कि वह अपने लिए कोई भी फ़ैसला ले सकती है. पर 'आपका बंटी' का बंटी मेरा पल्लू पकड़ कर रोक लेता है. वह मुझे कुछ और संयमशील, कुछ और धैर्यवान बनने के लिए प्रेरित करता है. क्योंकि हमें अपनी अगली पीढ़ी के लिए भी कुछ बचाकर रखना है. यह मन्नू जी के अलावा कौन कह सकता था."

बतौर लेखिका मन्नू जी के योगदान पर सुधा अरोड़ा बताती हैं, "मन्नू जी ने परिमाण में बहुत ज़्यादा नहीं लिखा, पर जो लिखा उसमें ज़िंदगी का यथार्थ इतनी सहजता, आत्मीयता और बारीकी से झलकता है कि वह पाठकों को छू लेता है. वह अपनी कहानियों में पात्रों के भीतरी कक्ष के हर संवेदनशील कोने को बेहद मार्मिकता और प्रामाणिकता से खंगालती हैं."

****

लेखक तो कई लेकिन आज का प्रेमचंद कौन?

प्रेमचंद को हिंदी का सबसे बड़ा साहित्यकार माना जाता है. भारत की आज़ादी के पहले देश के यथार्थ का जैसा चित्रण प्रेमचंद के साहित्य में मिलता है वैसा किसी अन्य लेखक के साहित्य में नहीं मिलता.

औपनिवेशिक शासन के प्रभाव स्वरूप भारत के ग्रामीण जीवन में जो बदलाव आए उसका प्रेमचंद ने आम लोगों की भाषा में गोदान, गबन, निर्मला, कर्मभूमि, सेवासदन, कायाकल्प, प्रतिज्ञा जैसे उपन्यासों और कफ़न, पूस की रात, नमक का दारोगा, बड़े घर की बेटी, घासवाली, ईदगाह जैसी कई कहानियों में यथार्थ चित्रण किया.
तत्कालीन ग्रामीण समाज की ग़रीबी, जहालत, शोषण, उत्पीड़न, वंचना, भेदभाव, धार्मिक विसंगति, महिलाओं की बदहाली जैसी सच्चाइयां और अंग्रेज़ी शासन के शोषण का असली चेहरा प्रेमचंद की लेखनी का संस्पर्श पाकर जीवंत हो उठे.

कालजयी साहित्य
प्रेमचंद के समय में और उसके बाद जैनेंद्र, अज्ञेय, फणीश्वरनाथ रेणु, मोहन राकेश, धर्मवीर भारती, यशपाल जैसे हिंदी के कई बड़े लेखक हुए लेकिन लोकप्रियता और प्रभाव दोनों ही मानदंडों पर प्रेमचंद के क़द के क़रीब कोई नहीं पहुंच सका.

लेकिन इसकी वजह क्या है. हिंदी के प्रसिद्ध आलोचक मैनेजर पांडेय कहते हैं, प्रेमचंद जितने बड़े लेखक थे, उतने बड़े लेखक हमेशा पैदा नहीं होते. ये लगभग वैसा ही है कि अंग्रेज़ी साहित्य में दूसरा शेक्सपियर आज तक पैदा नहीं हुआ. प्रेमचंद ने जिन समस्याओं पर कहानियों और उपन्यासों का लेखन किया था वो सभी समस्याएं आज भी मौजूद हैं और उनमें से कुछ तो प्रेमचंद के ज़माने से अधिक भीषण रूप में आज मौजूद हैं.
नई समस्याएं

लेकिन इसकी वजह क्या है कि समस्याएं तो प्रेमचंद के दौर से ज्यादा जटिल और व्यापक रूप में मौजूद हैं लेकिन लेखक उन्हें शब्दों में उतार नहीं पा रहे.

हिंदी के प्रख्यात आलोचक और साहित्यकार पुरुषोत्तम अग्रवाल इसकी वजह बताते हुए कहते हैं, जिस तरह का कथालेखन इस समय हिंदी में हो रहा है, ऐसा लगता है जैसे किसी विचार को प्रसारित करने के लिए किया जा रहा है.
वो कहते हैं कि लेखक का जैसा गहरा रिश्ता समाज से होना चाहिए वैसा आज नहीं है. लेखक को जिस तरह अपनी परंपरा, अपने आज और अपने भावी कल के बीच का पुल होना चाहिए वैसा पुल वो नहीं बन पा रहा.
इसे और स्पष्ट करते हुए प्रोफेसर अग्रवाल जुजे सारामागो के उपन्यास 'लिस्बन की घेरेबंदी का इतिहास' की पंक्तियां याद करते हुए कहते हैं, वहां तीन प्रेतात्माएं थीं. एक उसकी जो हुआ. एक उसकी जो हो सकता था लेकिन नहीं हुआ और एक उसकी जो होगा. ये तीन प्रेतात्माएं थीं लेकिन आपस में बात नहीं कर रही थीं. जब ये तीनों प्रेतात्माएं आपस में बात करती हैं तब महान साहित्य उत्पन्न होता है.
आज प्रेमचंद जैसी प्रतिभा वाला लेखक, समाज के बड़े हिस्से को छूने वाला लेखक क्यों नहीं बन पा रहा, इसका जो संकेत प्रोफ़ेसर अग्रवाल ने दिया उसे आज के लोकप्रिय साहित्यकार उदय प्रकाश समझाते हुए कहते हैं, "आज का लेखक आत्मचेतस है, अपनी सफलता के बारे में तो सोचता है लेकिन उसके पास प्रेमचंद जैसी विश्वदृष्टि का अभाव है."
ग़ैर हिंदी भाषियों के लिए हिंदी मतलब का आज भी प्रेमचंद ही क्यों है?

इसका जवाब कुछ समय पहले दिल्ली पुस्तक मेले में मिले एक सज्जन अशोक राय ने कुछ यूं दिया, "हिंदी में आज जो कुछ लिखा जा रहा है वो हमें कनेक्ट नहीं करता. हमारी ज़िंदगी को नहीं छूता. आज लोग चेतन भगत

को पढ़ रहे हैं. मूल अंग्रेज़ी में और हिंदी अनुवाद में भी. आज की ज़िंदगी के बारे में कोई चेतन भगत की तरह भी लिखे ना तो लोग पढ़ेंगे. रचना में मनोरंजन हो, कुछ ज्ञान हो, कुछ आज की सच्चाई हो. हिंदी में मुझे ऐसा कुछ दिख नहीं रहा है."

आज लेखकों की भीड़ है. प्रकाशक कहते हैं कई लेखकों की रचनाओं के संस्करण पर संस्करण छापने पड़ रहे हैं. लेकिन पाठक का कोश सूना है. उसे आज भी तलाश है एक प्रेमचंद की, कम से कम प्रेमचंद जैसे की जो भूमंडलीकरण और बाज़ारीकरण के दौर में भारतीय जीवन में आए बदलाव और स्थाई-सी हो चुकी समस्याओं के द्वंद्व और उससे उबरने की छटपटाहट को शब्दों में बयां कर सके.

कौन सी संस्कृति है, जिसकी रक्षा के लिए सांप्रदायिकता ज़ोर बांध रही है: मुंशी प्रेमचंद

'साम्प्रदायिकता और संस्कृति' शीर्षक से यह आलेख प्रेमचंद ने जनवरी 1934 में लिखा था. पढ़िए.

साम्प्रदायिकता और संस्कृति

साम्प्रदायिकता सदैव संस्कृति की दुहाई दिया करती है. उसे अपने असली रूप में निकलने में शायद लज्जा आती है, इसलिए वह उस गधे की भांति, जो सिंह की खाल ओढ़कर जंगल में जानवरों पर रौब जमाता फिरता था, संस्कृति का खोल ओढ़कर आती है.

हिन्दू अपनी संस्कृति को क़यामत तक सुरक्षित रखना चाहता है, मुसलमान अपनी संस्कृति को. दोनों ही अभी तक अपनी-अपनी संस्कृति को अछूती समझ रहे हैं, यह भूल गये हैं कि अब न कहीं हिन्दू संस्कृति है, न मुस्लिम संस्कृति और न कोई अन्य संस्कृति. अब संसार में केवल एक संस्कृति है, और वह है आर्थिक संस्कृति, मगर आज भी हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति का रोना रोये चले जाते हैं.

हालांकि संस्कृति का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं. आर्य संस्कृति है, ईरानी संस्कृति है, अरब संस्कृति है. हिन्दू मूर्तिपूजक हैं, तो क्या मुसलमान कब्रपूजक और स्थान पूजक नहीं हैं. ताज़िये को शर्बत और शीरीनी कौन चढ़ाता है, मस्जिद को खुदा का घर कौन समझता है.

अगर मुसलमानों में एक सम्प्रदाय ऐसा है, जो बड़े से बड़े पैगम्बरों के सामने सिर झुकाना भी कुफ्र समझता है, तो हिन्दुओं में भी एक ऐसा है, जो देवताओं को पत्थर के टुकड़े और नदियों को पानी की धारा और धर्मग्रन्थों को गपोड़े समझता है. यहां तो हमें दोनों संस्कृतियों में कोई अन्तर नहीं दिखता.

तो क्या भाषा और पहनावे का अंतर है?

तो क्या भाषा का अन्तर है? बिल्कुल नहीं. मुसलमान उर्दू को अपनी मिल्ली भाषा कह लें, मगर मद्रासी मुसलमान के लिए उर्दू वैसी ही अपरिचित वस्तु है जैसे मद्रासी हिन्दू के लिए संस्कृत. हिन्दू या मुसलमान जिस प्रान्त में रहते हैं सर्वसाधारण की भाषा बोलते हैं, चाहे वह उर्दू हो या हिन्दी, बंगला हो या मराठी.

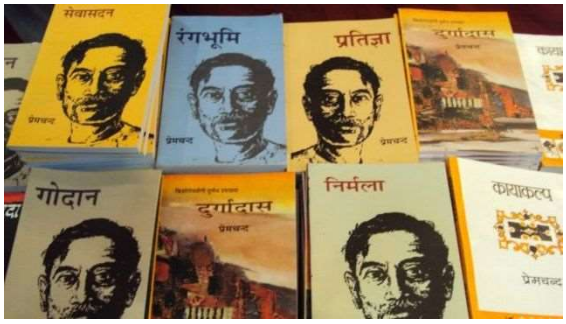

बंगाली मुसलमान उसी तरह उर्दू नहीं बोल सकता और न समझ सकता है, जिस तरह बंगाली हिन्दू. दोनों एक ही भाषा बोलते हैं. सीमा प्रान्त का हिन्दू उसी तरह पश्तो बोलता है, जैसे वहां का मुसलमान.

फिर क्या पहनावे में अन्तर है? सीमा प्रान्त के हिन्दू और मुसलमान स्त्रियों की तरह कुरता और ओढ़नी पहनते-ओढ़ते हैं. हिन्दू पुरुष भी मुसलमानों की तरह कुलाह और पगड़ी बांधता है.

अक्सर दोनों ही दाढ़ी भी रखते हैं. बंगाल में जाइये, वहां हिन्दू और मुसलमान स्त्रियां दोनों ही साड़ी पहनती हैं, हिन्दू और मुसलमान पुरुष दोनों कुरता और धोती पहनते हैं. तहमद की प्रथा बहुत हाल में चली है, जब से साम्प्रदायिकता ने जोर पकड़ा है.

वह कौन सी संस्कृति है?

खान-पान को लीजिए. अगर मुसलमान मांस खाते हैं तो हिन्दू भी अस्सी फ़ीसदी मांस खाते हैं. ऊंचे दरजे के हिन्दू भी शराब पीते हैं, ऊंचे दरजे के मुसलमान भी. नीचे दरजे के हिन्दू भी शराब पीते है, नीचे दरजे के मुसलमान भी.

मध्यवर्ग के हिन्दू या तो बहुत कम शराब पीते हैं, या भंग के गोले चढ़ाते हैं, जिसका नेता हमारा पण्डा-पुजारी क्लास है. मध्यवर्ग के मुसलमान भी बहुत कम शराब पीते है. हां, कुछ लोग अफ़ीम की पीनक अवश्य लेते हैं, मगर इस पीनकबाज़ी में हिन्दू भाई मुसलमानों से पीछे नहीं हैं.

हां, मुसलमान गाय की कुर्बानी करते हैं और उनका मांस खाते हैं, लेकिन हिन्दुओं में भी ऐसी जातियां मौजूद हैं, जो गाय का मांस खाती हैं, यहां तक कि मृतक मांस भी नहीं छोड़तीं, हालांकि बधिक और मृतक मांस में विशेष अन्तर नहीं है. संसार में हिन्दू ही एक जाति है, जो गो-मांस को अखाद्य या अपवित्र समझती है. तो क्या इसलिए हिन्दुओं को समस्त विश्व से धर्म-संग्राम छेड़ देना चाहिए?

संगीत और चित्रकला भी संस्कृति का एक अंग है, लेकिन यहां भी हम कोई सांस्कृतिक भेद नहीं पाते. वही राग-रागनियां दोनों गाते हैं. फिर हमारी समझ में नहीं आता कि वह कौन सी संस्कृति है, जिसकी रक्षा के लिए साम्प्रदायिकता इतना जोर बांध रही है.

वास्तव में संस्कृति की पुकार केवल ढोंग है, निरा पाखण्ड. शीतल छाया में बैठे विहार करते हैं. यह सीधे-सादे आदमियों को साम्प्रदायिकता की ओर घसीट लाने का केवल एक मन्त्र है और कुछ नहीं.

****

कविता बेआवाज़ को आवाज़ देती है, अनदेखे को दिखाती है, अनसुने को सुनाती है

अशोक वाजपेयी: कविता याद रखती है, भुलाने के विरुद्ध हमें आगाह करती है. जब हर दिन तरह-तरह के डर बढ़ाए-पोसे जा रहे हैं, तब कविता हमें निडर और निर्भय होने के लिए पुकारती है. यह समय हमें लगातार अकेला और निहत्था करने का है: कविता हमें अकेले होने से न घबराने का ढाढ़स बंधाती है.

जहां तक हमारी जानकारी है, ऐसा हिन्दी में पहली बार हुआ. यह भी अनुमान है कि ऐसा किसी और भारतीय भाषा में कभी नहीं हुआ. 30 युवा हिन्दी लेखकों ने दो दिन रज़ा और नर्मदा की पुण्यनगरी मंडला में, कृष्णासोबती-शिवनाथ निधि और रज़ा फाउंडेशन के वार्षिक आयोजन 'युवा-2022' में भारत के छह हिन्दीतर मूर्धन्य कवियों

शंख घोष (बांग्ला), अयप्पा पणिक्कर (मलयालम), हरभजन सिंह (पंजाबी), अख़्तरउल ईमान (उर्दू), अरुण कोलटकर (मराठी) और रमाकांत रथ (उड़िया) पर पूरी तैयारी से, उनके काव्य को हिन्दी अनुवाद में पढ़कर, गंभीरता से विचार और विश्लेषण किया. कुछ वरिष्ठ लेखक पर्यवेक्षक के रूप में शामिल हुए.

सबसे उत्साहजनक बात यह थी कि सभी प्रतिभागी कविताओं को ध्यान से पढ़कर आए थे: इतने सारे लेखक हिन्दीतर कवियों का अनुवाद में पढ़कर आएं यह प्रीतिकर था. कइयों ने अनुवाद में पढ़ने के कारण अपना अनुभव और जानकारी किसी हद तक सीमित होने की बात का ज़िक्र भी किया.

पर जो बात थोड़ी खली वह यह थी कि हालांकि ज़्यादातर प्रतिभागी कवि या कथाकार हैं, उनकी आलोचना में सर्जनात्मक ताप और नवाचार का, कुल मिलाकर, अभाव दीख पड़ा. मैंने उन्हें यह याद दिलाया कि हिन्दी में सृजनशील लेखकों द्वारा जो आलोचना लिखी गई है वह अज्ञेय, मुक्तिबोध, निर्मल वर्मा, विजय देव नारायण साही आदि के यहां हमेशा नवाचारी रही है और ऐसे अनेक पद, शब्द-समुच्चय, अवधारणाएं, उक्तियां आदि हैं जो इन्हीं से आई हैं और बहुत व्याप्त हैं.

युवा लेखक अनेक सामान्यीकरणों का बड़ी उदारता से उपयोग करते हैं जबकि अवधारणाओं की व्यापक दुर्व्याख्या के इस समय में परंपरा, आधुनिकता, यथार्थ, पश्चिमी प्रभाव, समय, आत्म सरोकार, समाज, आम आदमी, समयबोध, सरलता, जटिलता, प्रासंगिकता आदि शब्द और पद सूक्ष्म विश्लेषण और नई सत्यनिष्ठ व्याख्या की मांग करते हैं. इन लेखकों में स्वयं उनके नवाचारी सृजन का ताप, चमक, लपट इतनी कम क्यों है, जब वे आलोचना लिखते हैं, यह समझ में आना मुश्किल है. जो कुछ अबूझ या रहस्यमय लगे उसे चलताऊ ढंग से अमूर्त या अमूर्तन कह देना बौद्धिक असावधानी है. ऐसा भी लगा कि इस संभावना पर गहराई से विचार नहीं किया जा रहा है कि निजता से, निराशा से महत्वपूर्ण सृजन संभव है- हुआ ही है.

ऐसा नहीं है कुछ युवा बंधुओं ने इस तरह की कोशिश नहीं की. मैंने इस सिलसिले में जो कुछ नई अभिव्यक्ति नोट की उनकी एक छोटी-सी सूची यह है: 'बिगाड़ के डर से ईमान की बात न कहने वालों के हुजूम', 'ऐन्द्रिक गौचरता', 'होने के आधिपत्य', 'कविता ज़िंदगी का लिखत ही तो है', 'कल्पना और रोमांस के लिए प्रयुक्त औजारों से यथार्थ और दुख की पोटली खोलना', 'शब्दों की मटियारी महक', 'सामाजिक बसाहट का वितान', 'रोष में भी एक क़िस्म की उदासी', 'शब्द-श्रृंगार उसका अधिकार है', 'अनिमंत्रित आवेग या ग़ैरज़रूरी आवेश के बिना', 'अनेक अर्थछटाओं का एक सतरंगा इन्द्रधनुष', 'अपने आतर अवचेतन की गिरहें खोलते हुए सामूहिक अवचेतन तक उतरने चले जाते हैं', 'ऐसा निर्मम मार्मिक एवं विरल बिंब', 'घुसपैठ विचारों का सौदागर'.

कई लेखकों ने कुछ हिन्दी कवियों से इन कवियों का कुछ साम्य भी खोजा. हमने विचार-विमर्श के लिए जो छह कवि चुने, उनसे अलग भी कवि हो सकते थे. पर हर भाषा से एक ही कवि लेने की बाध्यता सी थी. अन्यथा, उदाहरण के लिए, अकेली मराठी से ही विन्दा करन्दीकर, दिलीप चित्रे, नामदेव ढसाल, नारायण सुर्वे में से भी कोई हो सकता था.

कविता की पुकार

'साहित्य आज तक' नामक आयोजन में हमारे सत्र का विषय तो था 'कविता की पुकार' जिसमें अरुण कमल और अनामिका शामिल थे. पर पहला प्रश्न उठाया गया सत्ता और कविता के संबंध को लेकर. मैंने यह कहा कि सत्ता और कविता का संबंध हमेशा तनाव का होता है. ऐसे समय में, जब सत्ता हिंसक-क्रूर आतंककारी और लोकतंत्र-विरोधी हो जाए जैसी कि वह, इस समय दुर्भाग्य से, होती लगती है तो वह विरोध का समय हो जाता है, अन्यथा वह असहमति और प्रश्नांकन का तो बना रहता है.

पिछले सौ से अधिक वर्षों का साहित्य का इतिहास बताता है कि वह औपनिवेशिक सत्ता, लोकतांत्रिक सत्ता के विरोध में ही रहा है. इस दौरान सत्ता से समरस या उसके पक्ष में अगर कुछ साहित्य रचा भी गया है तो उसे तब भी और आज तक महत्वपूर्ण नहीं माना गया है. विरोध या असहमति, प्रश्नांकन और आलोचना का अधिकार साहित्य स्वयं आत्मालोचक होकर अर्जित करता है. यह साहित्य का स्वभाव है: महादेवी के शब्दों में 'शापमय वर' है.

हमारा समय कुछ अधिक ही चीख़-पुकार का है और इसमें कविता की पुकार अनसुनी जा सकती है: अक्सर जाती है. राजनीति, धर्म, बाज़ार और मीडिया, लगभग चौबीसों घंटे, चीख़-पुकार रहे हैं कोई एजेंडा, कोई आस्था, कोई चीज़, कोई अफ़वाह बेचने के लिए. कविता के पास बेचने को कुछ भी नहीं है. वह तो सिर्फ़ हमारी कई बार निष्क्रिय हो गई मानवीयता को पुकारती है- उसकी जटिलता, कठिनाई, अदम्यता की याद दिलाती है.

कबीर ने कहा था: 'ताते अनचिन्हार मैं चीन्हा'. वैसे, कविता सिर्फ़ पुकारती भर नहीं है- वह बुदबुदाती, कानाफूसी करती, चीख़ती, रोती, ललकारती, हकलाती आदि है. कविता की पुकार में हम अपनी पुकार सुन सकते हैं. कविता उन्हें आवाज़ देती है जिनके पास आवाज़ नहीं है जैसे चीज़ें, वंचित समुदाय और लोग, प्रकृति आदि.

कविता बेआवाज़ को आवाज़ देती है, अनदेखे को दिखाती है, अनसुने को सुनाती है, अबूझ को बूझती है. वह सोचने के लिए, चेतावनी देने के लिए, चौकन्ना करने के लिए, अंत:करण को जगाने के लिए, दूसरों को अपनाने के लिए, बदलाव लाने और विकल्प सोचने-समझने के लिए पुकारती है.

कविता याद रखती है, भुलाने के विरुद्ध हमें आगाह करती है, याद दिलाती है और याद को नष्ट या अपदस्थ होने से बचाती है. जब हर दिन तरह-तरह के डर बढ़ाए-पोसे जा रहे हैं, तरह-तरह से हमें डराया जा रहा है, तब कविता हमें निडर और निर्भय होने के लिए पुकारती है. यह समय हमें लगातार अकेला और निहत्था करने का है: कविता हमें अकेले होने से न घबराने का ढाढ़स बंधाती है. अधीर समय में वह धीरज का मुक़ाम बनती है.

यह सवाल तो पिछले दिनों बहुत तीख़ेपन से उठता रहा है कि हमारे समय में कविता क्या करती, क्या कर सकती है? राजनीति जब हत्या-हिंसा-घृणा-अलगाव-भेदभाव-अन्याय का पोषण कर रही है, राज पर सब कुछ एकाग्र कर नीति को लगातार त्याग रही है, धर्म जब अपने अध्यात्म उदात्तता, उदारता, बहुलता से दूर जाते हुए खूंख़ार और हिंसक हो रहे हैं, बाज़ार जब हर चीज़ को बिकाऊ बनाने पर उतारू है और समाज को अपदस्थ कर रहा है, मीडिया जब झूठ, घृणा, अपराध, हिंसा, अफ़वाहों के प्रचार-प्रसार और सत्ता के महिमामंडन में पूरी बेशर्मी से व्यस्त हैं, तब कविता राज को नीति की याद, धर्म को अध्यात्म की सुध, बाज़ार को ज़िम्मेदारी की चेतावनी, मीडिया को प्रश्नवाचकता, स्वाभिमान और स्वतंत्रता पर लौटने की सलाह देती है.

वह कहती है 'जो अनीति कछु भाखौ भाई, तो मोहि बरजहु भय बिसराई (तुलसीदास द्वारा राम से कहलायी उक्ति), 'शक्ति की करो मौलिक कल्पना' (निराला), 'अभी कुछ और है जो कहा नहीं गया' (अज्ञेय), 'मर गया देश, अरे जीवित रह गए तुम' (मुक्तिबोध), 'इस क़दर कायर हूं कि उत्तर प्रदेश हूं' (धूमिल), 'कोसल में विचारों की कमी है' (श्रीकांत वर्मा).

यह पुकार हमेशा दस्तक है, आवाज़ है, उद्वेलन है, सत्यापन है कि हम मनुष्य हैं और अब भी बेहतर दुनिया सोच-बना सकते हैं.

हमारी एकता हमारी बहुलता में है, किसी भाषिक या धार्मिक एकरूपता में नहीं

अशोक वाजपेयी: भाषाओं की विविधता और उनमें रचना और विचार, ज्ञान और अनुभव की जो विपुलता और सक्रियता है उसे उजागर करें तो हर भारतीय को यह अभिमान सहज हो सकता है कि वह एक बहुभाषिक, बहुधार्मिक राष्ट्र का नागरिक है जिसके मुकाबले भाषाओं और बोलियों की संख्या कहीं और नहीं है.

(इलस्ट्रेशन साभार: ईटी गवर्नमेंट डॉट कॉम)

ऐसे थोड़े विचित्र नाम की लवली प्रोफ़ेशनल यूनीवर्सिटी का परिसर इतना छात्रबहुल और सक्रिय होगा ऐसा सोचा नहीं था. वहां मुकेश कुमार के निमंत्रण पर हिन्दी दिवस पर दास्तानगो महमूद फारूकी और साहित्यकार असगर वज़ाहत के साथ जाना हुआ. जिस सभागार में आयोजन था वह बहुत बड़ा और छात्रों से ठसाठस भरा था. जो छात्र संचालन कर रहे थे वे अटपटी हिन्दी में हिन्दी का वैसा ही महिमामण्डन कर रहे थे जैसा कि हर कहीं ऐसे अवसर पर होता है. ऐसे माहौल में कुछ कड़वी सचाई कहना मुझे ज़रूरी लगा.

पहली तो यही कि हिन्दी राष्ट्र भाषा नहीं है- उसे संविधान ने राजभाषा भर बनवाया है जो कि वह आज तक ठीक से हो भी नहीं पाई है. वह भारत में सबसे अधिक बोली-बरती जाने वाली भाषा ज़रूर है पर अगर वह राष्ट्रभाषा है तो बांग्ला, तमिल, मलयालम, मराठी, असमिया आदि सभी भाषाएं भी राष्ट्रभाषाएं हैं: एक राष्ट्र की कई राष्ट्रभाषाएं हों यह भारत जैसे विविध और विशाल राष्ट्र के लिए उचित और स्वाभाविक है.

यह अनदेखा नहीं जाना चाहिए कि अगर भारत की एक राष्ट्रभाषा होगी तो फिर एक राष्ट्रधर्म की बाध्यता भी होगी. हमारे संविधान ने इन दोनों ही अवधारणाओं को शुरू में ही भारत के अनुकूल नहीं पाया था. हमारी एकता हमारी बहुलता में ही बद्धमूल है, किसी भाषिक या धार्मिक एकरूपता में नहीं.

तकनीकी अनुशासनों में दीक्षित छात्र अक्सर और बहुसंख्यक रूप से अपनी मातृभाषाओं से दूर फिंक जाते हैं. उन्हें अनिवार्यता अपनी शिक्षा और करिअर अंग्रेज़ी में ही पाने-बनाने पड़ते हैं. उन्हें अपने परिवार से बाहर जो बड़ी दुनिया है उसमें रहने-बरतने का कोई पाठ नहीं सिखाया जाता. यह दुनिया अपनी कठोर-निर्मम सचाइयों में साहित्य में ही प्रगट होती है और इन छात्रों को अगर व्यापक दुनिया में कुछ करना-समझना है तो ज़रूरी है कि साहित्य और कलाओं के माध्यम से दुनिया से अपना रिश्ता बनाएं, उससे संवाद कर सकने की क्षमता अर्जित करें. सिर्फ़ टेक्नोलॉजी और प्रबंधन की दुनिया में महदूद होना अपनी शिक्षा, मानवीयता और नागरिकता को सीमित करने जैसा है.

ऐसे विश्वविद्यालयों में लेखकों-कलाकारों को कुछ प्रवास पर बुलाना चाहिए ताकि छात्र उनके संपर्क में आकर रचनात्मकता के कुछ अनजाने पहलू जान-समझ सकें. मुकेश जी ने उचित ही कहा कि हिन्दी दिवस को सर्वभाषा दिवस के रूप में मनाना चाहिए.

भाषाओं की विविधता और उनमें रचना और विचार, ज्ञान और अनुभव की जो विपुलता और सक्रियता है उसे उजागर करें तो हर भारतीय को यह अभिमान सहज हो सकता है कि वह एक बहुभाषिक और बहुधार्मिक राष्ट्र का नागरिक है जिसके मुकाबले भाषाओं और बोलियों की संख्या कहीं और नहीं है. यह हमारी अद्वितीयता है और इसे युवाओं को समझाना-सिखाना ज़रूरी है.

विश्व कविता

आम तौर पर जब हम विश्व कविता पद का इस्तेमाल करते हैं तो अभिप्राय उस सारी कविता से होता है जो संसार की विभिन्न भाषाओं में किसी समय, बिना एक-दूसरे से परिचय या संवाद के लिखी जा रही होती है. उसमें अपार विविधता होती है: विषय, अंतर्वस्तु, शिल्प, स्थानीयता, अनुभव आदि में. उसमें कभी-कभार कुछ साझी प्रवृत्तियां भर उभरती हैं. वह तरह-तरह की राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्थाओं के अंतर्गत लिखी जाती है.

आम तौर पर उसे मनुष्य के विभिन्न भाषाओं में तरह-तरह से सत्यापित होने से भी जोड़ा जाता है: हम पहचानते हैं कि इतने रंग-रूपों, विन्यासों और विडंबनाओं में न्यस्त होकर भी हम मनुष्य हैं और तरह-तरह की कविता इसका इज़हार करती है.

अपनी नई पुस्तक 'मुक्तिबोध की लालटेन' पर एक सार्वजनिक चर्चा के दौरान आलोचक और बुद्धिजीवी अपूर्वानंद एक पते की बात कही. प्रसंग था यह उल्लेख कि मुक्तिबोध की क्लासिक का दर्ज़ा पा चुकी लंबी कविता 'अंधेरे में' में वर्णित सचाई जो आज से लगभग साठ साल पहले भारत का अतियथार्थ लगती है, आज सीधा आज का यथार्थ लगती है.

इस पर अपूर्वानंद ने कहा कि यह कविता अकेले भारतीय संदर्भ की कविता नहीं है: वह विश्व कविता है. आशय यह था कि कुछ कविताएं अपने वितान और विन्यास में, मानवीय रूप से, इतनी प्रासंगिक हो जाती है कि उन्हें विश्व कविता का दर्ज़ा मिल जाता है.

इस प्रसंग में यह याद आता है कि एक ज़माने में अंग्रेज़ी कवि टीएस इलियट की लंबी कविता 'द वेस्टलैंड' को विश्व कविता माना गया था. यह बात रिकॉर्ड पर लाने की बात है कि 'अंधेरे में' कविता के आरंभिक प्रारूप को सागर में मुक्तिबोध से सुनकर मैंने उन्हें 1960 में जो पत्र लिखा था उसमें इस कविता को 'द वेस्टलैण्ड' कविता के समकक्ष मानने का आग्रह किया था. यह एक तरुण का शायद अपरिपक्व आकलन था. पर आज वह सच होता नज़र आता है.

विश्व कविता के बारे में इस संदर्भ में सोचने पर लगता है कि रिल्के की 'दुओनो एलिजीज़', डब्ल्यू बी. यीट्स की कुछ कविताएं, पाब्लो नेरूदा की कुछ कविताएं, आक्तावियो पाज़ और ईब बोनफ़ुआ की कुछ कविताएं, एलेन गिंसबर्ग की लंबी कविता 'हाउल' आदि कुछ और विश्व कविताएं हैं. ज़ाहिर है कि यह सूची ख़ारी नाकाफ़ी और अधूरी है. उसमें आग्रह लंबी कविताओं पर है जबकि कई विश्व स्तर पर महान छोटी या मझले आकार की कविताएं भी विश्व कविता में शामिल होना चाहिए.

कभी फ़ुर्सत होगी तो अपने हिसाब से ऐसी एक सूची बनाना अच्छा लगेगा. ऐसी सूचियां हमेशा विवादास्पद होती हैं तो वह भी होगी: विवाद से बचने का मुझे अभ्यास भी नहीं है.

कला-निरक्षर

पहली बार 1960 से 1965 तक दिल्ली में था: पहले छात्र के रूप में, फिर थोड़े समय के लिए अध्यापन में. एक छोटे शहर से महानगर में आने के कारण उन पांच बरसों में मैंने अपने को कला-साक्षर बनाने का काम लगभग ज़िद पर किया. उन दौरान दिल्ली में शायद ही कोई कला-प्रदर्शनी, नाट्य प्रस्तुति, शास्त्रीय संगीत सभा, शास्त्रीय नृत्य समारोह, विचार-गोष्ठी आदि हुई हो, जिसे मैंने सुना या देखा न हो. दिल्ली की यह कला-विपुलता न सिर्फ़ बरक़रार है, वह कई तरह से बढ़ी ही है.

दूसरी बार 1992 के मध्य से दिल्ली में फिर हूं और कोशिश करता हूं कि निजी कला-साक्षरता के अपने अभियान को जारी रखूं. अब हर जगह हो पाना यातायात की कठिनाइयों के कारण संभव नहीं हो पाता. फिर भी हर सप्ताह काफ़ी समय इन गतिविधियों में शामिल होने में बिताता हूं. अक्सर पहले निर्मल वर्मा, कृष्ण बलदेव वैद आदि वरिष्ठ लेखक भी कहीं न कहीं रसास्वादन के लिए आए मिल जाते थे. लेकिन अब वे नहीं हैं.

युवा लेखकों में, जिनमें से अधिकांश मेरी ही तरह किसी छोटे शहर या कस्बे से दिल्ली आए हैं, कला-साक्षर होने की उत्सुकता नहीं पाता हूं. इस तरह के बहुत से आयोजन तो मैं ही करता, कराता हूं. पर उनमें युवा लेखकों की उपस्थिति नगण्य होती है.

हिन्दी अंचल में पहले ही साहित्य और कलाओं के बीच, अन्य भाषाओं की तुलना में, दूरी अधिक रही है. युवा उसे कम करने के बजाय लगता है बढ़ा रहे हैं, अपनी उदासीनता और अरुचि से. यह दुखद है और इसके फलितार्थ और परिणतियां दोनों और दुखद होंगी. हिन्दी में ऐसी अनेक पीढ़ियां हो जाएंगी जो शायद कला-निरक्षर होंगी; हिन्दी संस्कृति और विपन्न हो जाएगी.

साहित्य हमारे समय में हो रहे अन्यायों की शिनाख़्त करता है और उनसे संघर्ष की प्रेरणा देता है

अशोक वाजपेयी: **अच्छा साहित्य हमें हमेशा वहां ले जाता है जहां भाषा पहले न गई हो: वह हमारी अनुभूति और अभिव्यक्ति के भूगोल को विस्तृत करता है. साहित्य हमें अधिकार और शक्ति के सभी प्रतिष्ठानों से, फिर वे राज्यपरक हों या धर्म, प्रश्न पूछने की हिम्मत देता है.**

नागपुर स्थित विदर्भ साहित्य अंक अपनी स्थापना की एक शताब्दी पूरी कर चुका है और उस सिलसिले में वहां एक शाम को दो-ढाई घंटे चले सार्वजनिक संवाद के लिए जाना हुआ. मैंने शुरुआत में कहा कि नागपुर एक ऐसा शहर है जहां मराठी और हिन्दी के बीच लगातार स्वाभाविक आवाजाही होती है: पहले वह मुक्तिबोध का शहर था और अब मराठी नाटककार महेश एलकुंचवार का शहर है.

वह ऐसा शहर भी है जहां खाकी के प्रकोप और कुछ किलोमीटर दूर पर बसे सेवाग्राम में खादी के प्रकल्प के बीच एक लगभग महाकाव्यात्मक द्वंद्व होता और हो रहा है. इस बहाने साहित्य से मिलने वाले कुछ सबकों का ज़िक्र करना उचित होगा.

साहित्य हमें संसार से ब्योरों में, अंतर्विरोधों-विडंबनाओं आदि से घिरे संसार से अनुराग करना सिखाता है: हम संसार को उसके सहारे बेहतर समझते-सराहते-सहते हैं. साहित्य हममें यह एहसास भी गहरा और तीव्र करता है कि हमारा काम दूसरों के बिना संसार में चल नहीं सकता.

वह हमें बताता है कि 'हम' और 'वे' का युग्म अवास्तविक है: हम ही वे हैं और वे ही हम हैं. साहित्य हमारे समय और समाज में हो रहे अन्यायों और अत्याचारों की शिनाख़्त करता है और उनसे संघर्ष करने की प्रेरणा देता है. वह हर समय और समाज में वैकल्पिक सचाई और संसार की कल्पना करता और विकल्पों की खोज में हमें शामिल करता है.

साहित्य, जब-तब, हमें यह भी जताता है कि संसार बनाने-बिगाड़ने में हमारी भी भूमिका है और हम अपनी नैतिक ज़िम्मेदारी से बच नहीं सकते. वह हमें समय के साथ समयातीत में और संसार के साथ ब्रह्मांड में भी अवस्थित करता है. साहित्य हमें सिखाता है कि हम निरे यथार्थ में महदूद नहीं है और कल्पना और स्वप्न भी रचते-गढ़ते हैं.

अच्छा साहित्य हमें हमेशा वहां ले जाता है जहां भाषा पहले न गई हो: वह हमारी अनुभूति और अभिव्यक्ति के भूगोल को विस्तृत करता है. साहित्य हमें अधिकार और शक्ति के सभी प्रतिष्ठानों से, फिर वे राज्यपरक हों या धर्म और धनपरक, प्रश्न पूछने की हिम्मत देता है.

हर समय संसार में सत्य की परमता और बहुलता में द्वंद्व होता आया है. इस संदर्भ में साहित्य की एक ज़रूरी शिक्षा यह है कि संसार में कोई एक परम सत्य नहीं है, सत्य की बहुलता है और कोई भी सत्य परम नहीं है: यह भी कि सत्य पहले से दिए हुए नहीं हैं- हम ही अपने व्यवहार और चिंतन अपनी कल्पना और स्वप्नशीलता से, अपने विचार और संघर्ष से उन्हें रचते-पाते हैं.

साहित्य से हमें यह भी पता चलता है कि सत्य पर किसी व्यक्ति, समूह या सत्ता का एकाधिकार न होता है, न होना चाहिए. साहित्य हमारी मानवीयता को अधिक खुली, अधिक ग्रहणशील, अधिक साझेदार बनाता है. एक ऐसे

समय में जब समाज में अधिनायकतावाद का वर्चस्व हो रहा है, साहित्य हमें आगाह करता है और साधारण की महिमा और गरिमा को केंद्रीय करता है.

घटती सामुदायिकता

एक समय था जब हिन्दी में कुछ लोकप्रिय पत्रिकाएं थीं जैसे 'कहानी', 'धर्मयुग', 'साप्ताहिक हिंदुस्तान', 'दिनमान', 'सारिका' आदि. इनमें से कुछ शुद्ध साहित्यिक पत्रिकाएं नहीं थीं पर उनके माध्यम से सामान्य पाठक साहित्य और कलाओं का कुछ संस्पर्श पा लेते थे. इन बड़ी पत्रिकाओं के बरक़्स समानान्तर ढंग से छोटी पत्रिकाएं निकलती थीं, जिनसे नई प्रतिभाएं सामने आती रहती हैं. पहले क़िस्म की पत्रिकाएं अधिकांशतः बड़े औद्योगिक या मीडिया घरानों से निकलती थीं और धीरे-धीरे बंद हो गईं. लेकिन यह ग़ौरतलब है कि छोटी पत्रिकाएँ निकलती रही हैं और उनमें से कई सार्थक ढंग से दीर्घजीवी भी रहीं जैसे 'पहल'. साहित्य के नये विमर्श, नई प्रतिभाएँ, नये प्रश्न, नई बहसें, नये पाठक सभी इन पत्रिकाओं से ही आये. इनकी इस तरह साहित्य को, साहित्य-बोध को सजीव और सजग रखने की भूमिका की क़तई अनदेखी नहीं होना चाहिये. यह भी नोट करने की बात है कि पिछले पचास वर्षों में महत्वपूर्ण हिन्दी लेखकों में से अधिकांश छोटी पत्रिकाओं से ही सामने आये हैं. बड़ी लोकप्रिय पत्रिकाओं का होना एक बड़ी कमी है पर उस कारण साहित्य या लेखक पिछड़ नहीं गये हैं.

सामुदायिकता का एक रूप शहरों-कस्बों में होने वाली साहित्यिक गोष्ठियां भी हैं. ये गोष्ठियां सृजन और विचार दोनों के लिए बहुत उपयुक्त और आत्मीय जगहें रही हैं जिनमें अच्छे-बुरे हर तरह के साहित्य के लिए अवसर होता था. वहां लेखकों के बीच ईर्ष्या, मोह-मत्सर, मित्रता और शत्रुता, समझ और संवेदना आदि विकसित होते, बढ़ते-झरते रहते थे.

उनके लिए बहुत तामझाम की ज़रूरत नहीं होती थी. अक्सर तो एक प्याला चाय सबके लिए काफ़ी होती थी. मुझे सागर में हुई एक गोष्ठी याद है: मेरी उभरते जीवन की थी. उसमें हम दस-पंद्रह कवि ही थे. अध्यक्षता एक बुजुर्ग कवि कर रहे थे. एक कवि जब बहुत भाव प्रवण होकर कविता पढ़ रहा था तभी चाय आ गई. उसके प्यालों की खनक की ओर अध्यक्ष का ध्यान चला गया. तो वह कवि बहुत नाराज़ हुआ और बोला कि मैं कविता सुना रहा हूं और आप चाय की तरफ़ ध्यान दे रहे हैं. इस पर अध्यक्ष ने कहा कि कविता अच्छी है पर चाय बेहतर है. दुनिया में कविता से बेहतर बहुत सी चीजें मानी-समझी-बताई जाएंगी यह पाठ मैंने उस कच्ची उमर में उस गोष्ठी से ही सीखा था और लगभग सत्तर बरस साहित्य में बिताने के बाद भी मुझे वह याद है- बीच-बीच में याद आता रहा है. ऐसी गोष्ठियों में आलोचनात्मक दृष्टियां बहुत कम सक्रिय होती थीं. पर पुस्तकों और साहित्य से मुंह फेरे हिन्दी समाज में लेखकों का मनोबल बनाए या बढ़ाने में मददगार होती थीं.

इधर सोशल मीडिया पर कई नए समूह बने हैं जो ज़्यादातर परस्पर प्रशंसा पर आधारित हैं. उनमें रचना और प्रस्तुति और प्रशंसा तभी तात्कालिक, तुरंता हैं. उनमें जो हड़बड़ी है वह सार्थक कम ही है. रचना के लिए आवश्यक श्रम और धैर्य की भी कभी दीख पड़ती है. पर सामुदायिकता का, फिर भी, यह एक नया रूप है. उसमें शायद आत्मीयता कम, आत्मरति अधिक है.

पड़ोसी चित्त

भारत में सक्रिय एक अंतरराष्ट्रीय केंद्र के अंतर्गत एक समिति में इस बात पर एक अंतरंग चर्चा हो रही थी कि जापानी सौंदर्यशास्त्र, जापानी दर्शन, जापानी साहित्य और कलाओं की विशेषज्ञता रखने वाले कौन से विद्वान हमारे यहां हैं. बहुत मुश्किल से और ख़ासी माथापच्ची करने के बाद बहुत कम नाम सूझे और जो सूझे उनकी विशेषज्ञता कितनी गहरी है इस बारे में आश्वस्ति नहीं थी.

यह हालत तब है जब जापान से धार्मिक स्तर पर, पारंपरिक तत्व-चिंतन आदि कई स्तरों पर हमारे घनिष्ठ संबंध रहे हैं. जापान तो थोड़ा दूर है. पर चीन तो हमारा पड़ोसी है जो हमें दशकों से सामरिक स्तर पर, हमारी सरहदों पर हमें तंग करता, हमारी ज़मीन पर कब्ज़ा करता, उसे हड़पता रहा है. उसके बारे में हमारी क्या विशेषज्ञता है? चीनी चित्त के बारे में हमारी समझ किस स्तर की है. वहां जो साम्यवाद है वह कैसे पूंजीवादी प्रक्रियाओं का उपयोग कर विकसित हुआ है और उसकी साम्राज्यवादी आकांक्षा का वैचारिक आधार क्या है इसके बारे में हम भारतीय कितना कम जानते हैं. लगता तो यह है कि एक अर्थ में हम इतने आत्मकेंद्रित रहे है कि हमने गंभीरता

और ज़िम्मेदारी से पड़ोसी चित्तों को समझने की बहुत कम कोशिश की है. हमसे मिलते-जुलते बांग्लादेश, नेपाल, श्रीलंका आदि के बारे में हमारी जिज्ञासा बहुत सीमित और विशेषज्ञता बहुत क्षीण है.

मुझे याद आता है कि दशकों पहले जापान से दो विशेषज्ञ भारत भवन अपने एक पारंपरिक कलाओं के अंतरराष्ट्रीय समारोह में मध्य प्रदेश से कोई संभावित समूह खोजने आए थे. उन्हें हमने कुछ जानकारी, कुछ दस्तावेज़, कुछ प्रस्ताव दिए. कुल एक महीने बाद एक विशेषज्ञ दल फिर जापान से आया. नए लोग थे. उनसे जब चर्चा होने लगी तो मैंने पाया कि वे कुछ लोककलाओं की शैलियों के पक्षों के नाम ले रहे हैं.

मैं चकित हुआ तो पता चला कि कुल एक महीने में उन्होंने हमारे हिन्दी में दिए गए प्रकाशनों के जापानी अनुवाद कर लिए थे और उन अनुवादों को साथ लेकर आए थे. हमारे कई विश्वविद्यालयों में कुछ देशों पर केंद्रित विभाग हैं पर उनमें कोई ऐसी प्रभावशाली विशेषज्ञता विकसित हुई है इसका मुझे पता नहीं. मुझे यह भी नहीं पता कि, उदाहरण के लिए, हिन्दी या दूसरी भारतीय भाषाओं में जापानी कला-परंपरा, जापानी सौंदर्यशास्त्र, जापानी काव्य-परंपरा, चीनी काव्यशास्त्र, चीनी सौंदर्यदर्शन आदि पर कोई प्रामाणिक पुस्तकें हैं.

चीनी-जापानी राजनय, शस्त्र-सुरक्षा आदि पर कुछ अच्छी सामाग्री जुटाई गई होगी पर जापानी और चीनी सभ्यता की सभ्यता-समीक्षा हमने बहुत कम की है जबकि इन सभ्यताओं में भारतीय सभ्यता की कुछ भूमिका रही है. हमारी पारंपरिक स्मृति अपने बारे में और दूसरी सभ्यताओं के बारे में लगातार छीज रही है.

****

कलाएं हमें अधिक मानवीय, संवेदनशील और सहिष्णु बनाती हैं

अशोक वाजपेयी: **हिन्दी अंचल की बढ़ती धर्मांधता, सांप्रदायिकता और हिंसा की मानसिकता आदि का एक कारण इस अंचल की मातृभाषा और कलाओं से ख़ुद को वंचित रहने की वृत्ति है. स्वयं को कला से दूर कर हम असभ्य राजनीति, असभ्य माहौल और असभ्य सार्वजनिक जीवन में रहने को अभिशप्त हैं.**

'हंस' पत्रिका ने अपने संपादक राजेंद्र यादव की स्मृति में दिल्ली में 'स्त्री सृजन का सारा आकाश' विषय पर एक बड़ा लेखक समारोह किया. जैसे कि दलित विमर्श वैसे ही स्त्री विमर्श हिन्दी में थोड़ी देर से आया: अन्यत्र और अनेक कलाओं में वह पहले जगह बना चुका था.

पर, दूसरी ओर यह भी सही है कि आज हिन्दी साहित्य में स्त्रियां, सदियों तक चुप रहने, चुप होने के लिए विवश किए जाने के बाद निर्भीकता और साहस, संवेदना और नवाचार से बोल रही हैं: उनकी उपस्थिति और सक्रियता, उनकी बेबाकी और जोखिम उठाने की वृत्ति हिन्दी साहित्य के अपने लोकतंत्र का विस्तार कर रही हैं और उसका सत्यापन भी.

इस बात को भी याद करना ज़रूरी है कि आधुनिक समय में महादेवी से लेकर कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा, मैत्रेयी पुष्पा, मृणाल पांडे से लेकर अलका सरावगी, गीतांजलि श्री तक ने साहित्य में निर्भीकता, गहरी प्रश्नवाचकता, नैतिक चुनौतियां, बखान की नई शैलियां आदि विकसित की हैं.

इस समय स्त्रियों द्वारा किया जा रहा सृजन और आलोचना जो जगह बना रही है उसके लिए उन्होंने कोई रू-रियायत नहीं मांगी है और न ही वह उन्हें अनुग्रह के रूप में मिल रही है. वह जगह उन्हें समाजशास्त्रीय कारणों से भी नहीं मिल रही है. उस जगह पर वे अपनी मानवीयता और साहित्यिक मूल्यवत्ता के आधार पर ही काबिज हो रही हैं.

हिन्दी में अब तक प्रगट अनुभवों, भावनाओं-स्मृतियों-संवेदनाओं-बिम्बों-छबियों-अंतर्ध्वनियों के भूगोल में विस्तार हो रहा है. सच तो यह है कि बिना स्त्री-सृजन के अब तक का अधिकांश साहित्य समग्रता का दावा कर ही नहीं सकता. साहित्य और कलाओं में स्त्रियों का अभ्युदय, उनकी व्याप्ति और सक्रियता स्वयं भारतीय लोकतंत्र, संविधान और आधुनिकता का सत्यापन है, विस्तार भी.

यह ग़ौर करने की बात है कि यह स्त्री मुखरता और सृजनशीलता, एक तरह से, लोकतंत्र और आधुनिकता के कारण संभव हुई है. यह विडंबना है कि ठीक इस मुक़ाम पर जब स्त्री-सृजन लोकतंत्र के विस्तार और सत्यापन के रूप में प्रगट हो रहा है, स्वयं व्यापक लोकतंत्र को लगभग हर दिन संकुचित किया जा रहा है.

यह भी नज़रअंदाज़ नहीं करना चाहिए कि स्त्री मात्र के साथ राजनीति, धर्म, मीडिया आदि ने विश्वासघात किया है: स्त्रियों के लिए संसद में 33 प्रतिशत स्थान आरक्षित करने का मामला दशकों के लंबित है. धर्म पारंपरिक रूप से स्त्री विरोधी रहकर उसको कमतर मनुष्य आंकते रहे हैं. मीडिया अधिकांशतः स्त्री की समस्याओं के प्रति उदासीन रहा है और विज्ञापन आदि में उसे सस्ता और बिकाऊ बनाता रहा है.

स्त्रियों को साहित्य का कृतज्ञ होना चाहिए कि उसने उन्हें सम्मान, आदर और जगह दी है और अपने परिसर में अब बिना किसी बाधा के दाख़िल होने दिया है. सदियों तक भूमिस्थ और भूमि पर ही सीमित होने के बाद अब अगर स्त्रियां सारा आकाश अपनी आकांक्षा में शामिल कर रही हैं तो यह उचित और न्याय-सम्मत है.

जीवन और कला

कुछ बरसों बाद ग्वालियर में स्थित आईटीएम विश्वविद्यालय, वहां रज़ा शती के अंतर्गत आयोजित एक प्रदर्शनी के सिलसिले में, जाना हुआ. इस बीच उसका परिसर और विस्तृत और कला-संपन्न हो गया है: उसमें एक स्कूल भी खुला हुआ है जहां इतनी मौलिक कलाकृतियां लगी हैं कि वह साथ-साथ एक सुघर संग्रहालय भी है.

यह अनूठा विश्वविद्यालय जहां के परिसर में खुले आसमान के नीचे न सिर्फ़ भारत बल्कि संसार भर के मूर्तिकारों के बड़े-बड़े शिल्प लगे हैं. मुख्य रूप से टेकनोलॉजी और प्रबंधन के संस्थान के रूप में शुरू हुए इस अद्वितीय संस्थान में कबीर, लियोनार्दो द विंची, उस्ताद अलाउद्दीन ख़ां, राममनोहर लोहिया आदि के नाम पर परिसर और सभागार आदि हैं.

मुझे याद नहीं आता कि इतनी कलावस्तुएं भारत के किसी विश्वविद्यालय में तो दूर किसी कला-संस्थान में प्रदर्शित हों. यह सब उसके संस्थापक रमाशंकर सिंह की लोहिया-दीक्षित कला-दृष्टि के कारण संभव हुआ है.

ऐसे कलाप्रवण परिवेश में जीवन और कला पर बोलने का सुयोग मिला. जीवन सबके पास है, पर कला सबके पास नहीं है. कला के बिना जीवन संभव है पर जीवन के बिना कला संभव नहीं है. जीवन कला से अधिक विशाल-विपुल, जटिल-व्यापक, असमाप्य और अनंत है. जीवन की अपार, अबूझ, कई बार असह्य और सुंदर बहुलता है. यही जीवन कलाएं भी उत्पन्न प्रेरित, प्रोत्साहित, संरक्षित और प्रसारित करता है. जीवन कला का मुख्य उपजीव्य है.

ज़्यादातर कलाकार, संगीत-नृत्य-रंगमंच-ललित कलाओं के मध्यवर्ग से आते हैं. हस्तशिल्प और आदिवासी-लोक कलाओं के कलाकार आर्थिक रूप से वंचित तबके से आते हैं. हमारी शिक्षा-व्यवस्था ज़्यादातर सांस्कृतिक दृष्टि से साक्षर बनाने के बजाय सांस्कृतिक निरक्षरता फैलाती है.

अचरज नहीं कि इस समय भारत का मध्यवर्ग या तो कलाशून्य है या कला-विमुख और विरोधी. हमारे नए निज़ाम ने कलाओं को विशाल तमाशों में बदल दिया है और मध्यवर्ग उन पर लहाहोट होता रहता है.

कलाएं हमें जताती हैं कि सारी सुंदरता दी हुई नहीं है: मनुष्य प्रकृति से अलग खुद कुछ सुंदरता रच सकता है, शब्दों से, रंग-रेखाओं से, स्वरों, मिट्टी-पत्थर-लकड़ी, मुद्राओं और शरीर से. जब हम कलाओं के साथ होते हैं तो कुछ अधिक देखते, अधिक सुनते, अधिक महसूस करते, अधिक सोचते हैं.

कलाएं संसार की अदम्य और अपार बहुलता की अभिव्यक्ति और सत्यापन हैं- वे हमें एकसेपन और एकरसता से मुक्त रखती हैं. वे हमें यथास्थिति को स्वीकार करने की विवशता से मुक्त कर प्रश्नवाची बनाती हैं. कलाओं में हम 'हम' भर नहीं रहते 'दूसरे' भी हो जाते हैं- हमारी संवेदना और सहानुभूति का भूगोल विस्तृत हो जाता है. वे हमें दूसरे समयों, दूसरे भूगोलों, दूसरी संस्कृतियों में दूसरों के साथ होने में मदद करती हैं. उनके संस्पर्श से हम अपने आप से, अपने समय और समाज से अधिक नज़दीक हो जाते हैं. वे हमें हर्ष-उल्लास, दुख-निराशा, जिज्ञासा-प्रश्नवाचकता, उम्मीद और सपनों की बड़ी बिरादरियों में शामिल करती हैं.

यह देखना दिलचस्प होगा कि कलाएं, जिसके अधिकांश कलाकार मध्यवर्ग से ही आते हैं, इस वर्ग में कितनी जगह बना पाई हैं. ख़ासकर हिन्दी अंचल में यह वर्ग लगातार अपनी मातृभाषा से दूर जाता, उसके साथ विश्वासघात करता वर्ग है. यही नहीं, वह कलाओं से भी दूर जाता वर्ग है.

यह आकस्मिक नहीं है कि पहले लगभग पचास वर्षों में हिन्दी मध्यवर्ग ने कलाओं के क्षेत्र में भारत के अन्यभाषी मध्यवर्गों की तुलना में सबसे कम योगदान किया है. बंगाल, महाराष्ट्र, केरल, कर्नाटक, तमिलनाडु में कलाओं को उनके मध्यवर्ग ने जगह भी दी है और अन्य प्रकार के समर्थन भी.

कम से कम मेरे मन में, इसी हिन्दी का लेखक और कलाप्रेमी होने के नाते, यह स्पष्ट है कि हिन्दी अंचल की बढ़ती धर्मांधता, सांप्रदायिकता, हिंसा और हत्या की मानसिकता आदि का एक कारण इस अंचल की मातृभाषा और कलाओं से अपने को वंचित रहने की वृत्ति है. कलाएं हमें अधिक मानवीय, संवेदनशील और सहिष्णु बनाती हैं. उनसे अपने को दूर कर हम असभ्य राजनीति, असभ्य माहौल और असभ्य सार्वजनिक जीवन में रहने को अभिशप्त हैं.

धूमिल: हिंदी कविता का एंग्री यंगमैन

क्या आजादी सिर्फ तीन थके हुए रंगों का नाम है, जिन्हें एक पहिया ढोता है या इसका कोई मतलब होता है?

जनता के प्रायः सारे जरूरी सवालों पर मौन साधे रहने वाली संसद पर अपने खास तरह के तंजों के लिए हिंदी कविता के एंग्री यंगमैन नाम से मशहूर सुदामा पांडे 'धूमिल' ने अब से चार दशक पहले यह सवाल पूछा, तो कौन कह सकता है कि उनके दिलोदिमाग में नए पुराने सामंतों, थैलीशाहों और धर्मांधों द्वारा प्रायोजित देश के लोकतंत्र की सांसत कर डालने वाली उन कारस्तानियों के अंदेशे नहीं थे, जिनके आज हम भुक्तभोगी हैं?

जलते हुए जनतंत्र के साथ आम आदमी की विवशता और उच्च मध्यवर्गों के आपराधिक चरित्रों को तभी पहचान लेने वाले धूमिल का जन्म नौ नवंबर, 1936 को उत्तर प्रदेश के वाराणसी जिले के खेवली गांव में माता रसवंती देवी के गर्भ से हुआ था.

अभी वे ठीक से होश भी नहीं संभाल पाए थे कि उनके सिर से पिता शिवनायक पांडेय का साया उठ गया और वाराणसी के एक इंटर कालेज में चल रही उनकी पढ़ाई छूट गयी.

इतना ही नहीं, 13 साल के होते-होते उनकी शादी कर दी गई और अपनी जिम्मेदारियां निभाने के लिए उन्हें एक लकड़ी व्यापारी के यहां नौकरी शुरू करनी पड़ी. बाद में उन्होंने एक औद्योगिक प्रशिक्षण केंद्र से बिजली संबंधी कामों का डिप्लोमा किया और उसी में अनुदेशक नियुक्त हो गये.

नौकरी मिली तो उसके चक्कर में उन्हें सीतापुर, बलिया और सहारनपुर आदि की हिजरत भी करनी पड़ी, लेकिन उनका मन बनारस में रमता था या फिर खेवली में, जिससे अपना जुड़ाव उन्होंने खत्म नहीं होने दिया था.

उनका रहन-सहन इतना साधारण था कि ब्रेन ट्यूमर के शिकार होकर 10 फरवरी, 1975 को वे अचानक मौत से हारे तो उनके परिजनों तक ने रेडियो पर उनके निधन की खबर सुनने के बाद ही जाना कि वे कितने बड़े कवि थे.

बनारस के मणिकर्णिका घाट पर उनकी अंत्येष्टि के समय सिर्फ कुंवरनारायण और श्रीलाल शुक्ल पहुंचे थे. अपने आत्मकथ्यों में वे अपनी जिस मृत्यु को अनिश्चित लेकिन दिन में सैकड़ों बार संभव बताते थे, वह उस दिन आयी ही कुछ ऐसे दबे पांव थी!

वरिष्ठ कथाकार काशीनाथ सिंह बताते हैं कि औपचारिक उच्च शिक्षा से महरूम धूमिल बाद में कविता सीखने व समझने की बेचैनी से ऐसे 'पीड़ित' हुए कि जीवन भर विद्यार्थी बने रहे. उन्होंने अपने पड़ोसी नागानंद और कई शब्दकोशों की मदद से अंग्रेजी भी सीखी, ताकि उसकी कविताएं भी पढ़ व समझ सकें.

अलबत्ता, विधिवत अध्ययन की कमी को उन्होंने इस रूप में जीवन भर झेला कि वामपंथी होने के बावजूद न स्त्रियों को लेकर मर्दवादी सोच से मुक्त हो पाए और न गांवों व शहरों के बीच पक्षधरता के चुनाव में सम्यक वर्गीय दृष्टि अपना पाए.

अशोक वाजपेयी का संग्रह 'शहर अब भी संभावना है' आया तो उन्होंने यह कहकर उसकी आलोचना की कि शहर तो एक फ्रंट है, वह संभावना कैसे हो सकता है? लेकिन इसका एक लाभ भी हुआ. 'अनौपचारिक जानकारियों' ने उनका बनी-बनाई वाम धारणाओं की कैद से निकलना आसान किये रखा और वे सच्चे अर्थों में किसान जीवन के दुःखों व संघर्षों के प्रवक्ता और सामंती संस्कारों से लड़ने वाले लोकतंत्र के योद्धा कवि बनकर निखर सके.

खाये-पिये और अघाये लोगों की 'क्रांतिकारी' बौद्धिक जुगालियों में गहरा अविश्वास व्यक्त करने में उन्होंने 'सामान्यीकरण' और 'दिशाहीन अंधे गुस्से की पैरोकारी' जैसे गंभीर आरोप भी झेले लेकिन पूछते रहे कि 'मुश्किलों व संघर्षों से असंग' लोग क्रांतिकारी कैसे हो सकते हैं?

उनका विश्वास था कि 'चंद टुच्ची सुविधाओं के लालची/अपराधियों के संयुक्त परिवार' के लोग एक दिन खत्म हो जायेंगे और इसी विश्वास के बल से उन्होंने 'अराजक' होना कुबूल करके भी निष्ठा का तुक विष्ठा से नहीं भिड़ाया. कविताओं में वर्जित प्रदेशों की खोज करने और छलिया व्यवस्था द्वारा पोषित हर परम्परा, सभ्यता, सुरुचि, शालीनता और भद्रता की ऐसी-तैसी करने को आक्रामक धूमिल ने अपना छायावादी अर्थध्वनि वाला उपनाम क्यों रखा, इसकी भी एक दिलचस्प अंतर्कथा है.

बनारस में उनके समकालीन एक और कवि थे- सुदामा तिवारी. वे अभी भी हैं और सांड बनारसी उपनाम से हास्य कविताएं लिखते हैं. धूमिल नहीं चाहते थे कि नाम की समानता के कारण दोनों की पहचान में कन्फ्यूजन हो. इसलिए उन्होंने अपने लिए उपनाम की तलाश शुरू की और चूंकि कविता के संस्कार उन्हें छायावाद के आधारस्तंभों में से एक जयशंकर 'प्रसाद' के घराने से मिले थे, जिससे उनके पुश्तैनी रिश्ते थे, अतएव तलाश 'धूमिल' पर ही खत्म हुई.

धूमिल ने अपनी छोटी-सी उम्र में ही हिंदी आलोचना का परंपरा से कहानियों की ओर चला आ रहा मुंह घुमाकर कविताओं की ओर कर लेने में सफलता पा ली थी.

यह और बात है कि उनकी पहली प्रकाशित रचना एक कहानी ही थी, जो अपने समय की बहुचर्चित पत्रिका 'कल्पना' में छपी थी. वे बनारस में साहित्यकारों के स्वाभिमान के प्रतीक माने जाते थे और जिसमें भी ओछापन देखते उसके खिलाफ हो जाते.

कुछ लोग आरोप लगाते हैं कि वे नामवर सिंह के लठैत की तरह काम करते थे. इसमें कम से कम इतना सही है कि वे नामवर के खिलाफ कुछ भी सुनना पसंद नहीं करते थे. लेकिन उनके स्वभाव के मद्देनजर इससे भी ज्यादा सच्ची बात यह है कि जिस भी पल उन्हें लगता कि नामवर उन्हें इस्तेमाल कर रहे हैं, वे उन्हें छोड़ देते.

धूमिल के जीवित रहते 1972 में उनका सिर्फ एक कविता संग्रह प्रकाशित हो पाया था- संसद से सड़क तक. 'कल सुनना मुझे' उनके निधन के कई बरस बाद छपा और उस पर 1979 का प्रतिष्ठित साहित्य अकादमी पुरस्कार उन्हें मरणोपरांत दिया गया. बाद में उनके बेटे रत्नशंकर की कोशिशों से उनका एक और संग्रह छपा- सुदामा पांडे का प्रजातंत्र.

उनकी इस लोकप्रिय कविता को याद करें...

एक आदमी रोटी बेलता है
एक आदमी रोटी खाता है
एक तीसरा आदमी भी है
जो न रोटी बेलता है, न रोटी खाता है
वह सिर्फ रोटी से खेलता है
मैं पूछता हूं
यह तीसरा आदमी कौन है
और मेरे देश की संसद मौन है...

तो अब, जब संसद का मौन कई और दशक लम्बा हो गया है, यह तथ्य और साफ हो गया है कि भारत की विकल्प और विपक्ष दोनों से विरहित जनविरोधी राजनीति का असली प्रतिपक्ष धूमिल की कविताओं में ही बसता है.

आलोचक प्रियदर्शन ठीक ही कहते हैं कि मुक्तिबोध और रघुवीर सहाय के बाद धूमिल हमारे जटिल समय के ताले खोलनेे वाली तीसरी बड़ी आवाज हैं. जो बम मुक्तिबोध के भीतर कहीं दबा पड़ा है और रघुवीर सहाय के यहां टिकटिक करता नजर आता है, धूमिल की कविता तक आते-आते जैसे फट पड़ता है. कुछ इस तरह कि उसकी किरचें हमारी आत्माओं तक पर पड़ती हैं.

यकीनन, धूमिल को एक बार फिर नए सिरे से समझे जाने की जरूरत है. यह याद रखते हुए कि कुछ शक्तियों को उनसे कवि व कविता दोनों से बहुत असुविधा है. 2006 में भारतीय जनता पार्टी ने उनकी 'मोचीराम' कविता को एनसीईआरटी की एक कक्षा की पाठ्यपुस्तक में शामिल किये जाने को लेकर आसमान सिर पर उठा लिया था और उसे बदलवा कर ही दम लिया था.

****

क्या हिन्दी ने बंद कर ली है अपनी ख़िड़कियाँ?

आमतौर पर हिन्दी वालों की इसी बात की चिंता रहती है कि क्या हिन्दी अंग्रेज़ी का मुक़ाबला कर पाएगी. लेकिन भारत की ही कई दूसरी भाषाओं के सामने यह सवाल ज़्यादा बड़ा है कि क्या वो हिन्दी के सामने अपना अस्तित्व बचा पाएंगी.

कुछ साल पहले की बात है, दिल्ली के गाँधी शांति प्रतिष्ठान में एक गोष्ठी थी. उपस्थित विद्वानों की चिंता का विषय था हिन्दी कैसे करे अंग्रेज़ी का मुक़ाबला.

जब सभी विद्वान बोल चुके तो एक ख्यात पंजाबी लेखक की बोलने की बारी आई. उन्होंने अपनी बात की शुरुआत ही यह कहते हुए की कि आप लोग मुझे माफ़ करें लेकिन पंजाबी को तो अंग्रेज़ी से ज़्यादा हिन्दी से ख़तरा है!

हिन्दी प्रदेशों की तमाम भाषाओं जिन्हें बोलचाल में बोली कह दिया जाता है, उनको भी रंज है कि हिन्दी उन्हें नष्ट कर रही है. हिन्दी प्रदेश के बाहर की भाषाओं को शिकायत है कि हिन्दी उनके साथ दोयम दर्जे का बरताव करती है.

ऐसे में यह सवाल उठाना समीचीन होगा कि क्या हिन्दी ने अन्य भारतीय भाषाओं की तरफ़ खुलने वाली संवाद की खिड़की बंद कर ली है ? क्या भारत की सम्पर्क भाषा बनने की महत्वाकांक्षी अभिलाषा को पूरा करने में ख़ुद हिन्दी का दोहरा रवैया बाधक है?

साहित्य अकादमी पुरस्कार विजेता गुजराती के वरिष्ठ लेखक सितांशु यशश्चन्द्र कहते हैं, "गांधी जी जब थे तब अलग-अलग भारतीय भाषाओं के लेखक जितना आपस में मिलते थे और हिन्दी में जितना आते थे उससे तो अभी कम है. मुंशी प्रेमचंद और मुंशी कन्हैयालाल दोनों मिलकर हंस सामयिक चलाते थे और बहुत सा अनुवाद होता था."

भाषाओं के बीच का अबोला बेहद घातक हो सकता है. भाषाएँ संस्कृति और विचार का वाहक होती हैं. अन्य भाषाओं से दूर रहने का परिणाम होगा अपनी ही संस्कृति और विचार का संकुचित होते जाना.मुण्डारी और हिन्दी के युवा लेखक अनुज लुगुन कहते हैं, "एक व्यापक धरातल पर भाषाओं का आपस में सम्पर्क नहीं हो रहा है. आदिवासी भाषाओं में बड़े पैमाने पर साहित्य रचे गए लेकिन हिन्दी में उनकी उपस्थिति नहीं रही है. जैसे मुण्डारी में मेनेस राम ओड़ेया ने बिल्कुल शुरुआती दौर में पाँच खण्डों में बड़ा उपन्यास लिखा जिसकी जानकारी हिन्दी पट्टी को नहीं है."

आदिवासी समाज का गद्य

अनुज लुगुन मानते हैं कि आदिवासियों के साहित्य के हिन्दी अनुवाद से उस समाज के दृष्टिकोण को समझने में मदद मिलेगी.

लेखक अनुज लुगुन कहते हैं, "अगर हम आदिवासियों के गद्य की पड़ताल करते तो समझ पाते कि आदिवासी समाज उस पूरे परिदृश्य को उस समय कैसे देख रहा था यह समझ पाते."

हिन्दी वाले अक्सर ही हिन्दी के विकास में ग़ैर-हिन्दी प्रदेशों के लोगों के योगदान की बात करते हैं.

साहित्य अकादमी पुरस्कार विजेता बांग्ला लेखक सुबोध सरकार भी मानते हैं कि हिन्दी के विकास में दूसरी भाषाओं के विद्वानों की बड़ी भूमिका रही है.

सुबोध सरकार कहते हैं, "पश्चिम बंगाल के विद्वान सुनिति कुमार चटर्जी हिन्दी का सबसे प्रारंभिक व्याकरण लिखने वाले में थे."

लेकिन हिन्दी वाले इस तर्क का हमेशा ही अपने पक्ष में प्रयोग करते हैं. शायद ही कभी इस पर चर्चा होती है कि हिन्दी वालों ने दूसरी भाषाओं के विकास के लिए कितना और क्या किया है ?

कहीं ऐसा तो नहीं कि भारत में हिन्दी की भूमिका को लेकर कुछ ज़्यादा ही मंसूबे बांधे जाते हैं. ख़ासकर तब जब अंग्रेज़ी वैश्विक भाषा के रूप में अपनी जगह मजबूत करती जा रही है.

बांग्ला लेखक सुबोध सरकार कहते हैं, "हम अंग्रेजी के बिना रह सकते हैं लेकिन हिन्दी के बिना नहीं रह सकते. अंग्रेजी तो बड़े लोगों की भाषा है, ग़रीबों की भाषा है हिन्दी. ग़रीब की भाषा ही असली भाषा है. बड़े लोगों की भाषा कोई भाषा नहीं है."

कौन सी हिन्दी?

टी विजय कुमार कहते हैं कि अगर आप हिन्दी की बात करेंगे तो मैं पूछूँगा कि कौन सी हिन्दी ?

लेकिन हिन्दी की इस भूमिका के बारे में पूछने पर उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद में अंग्रेज़ी के प्रोफ़ेसर टी विजय कुमार कहते हैं, "मुझे लगता है कि हिन्दी बेल्ट की जो हिन्दी है वो आर्टिफिशियल ज़बान है. अगर आप हिन्दी को सम्पर्क भाषा बनाने की बात करेंगे तो मेरा सवाल होगा कि कौन सी हिन्दी."

वहीं संताली लेखक श्यामचरन टुटु कहते हैं, "भारत में हिन्दी ज़रूरी है लेकिन भारत से बाहर जो हो रहा है उसे जानने के लिए अंग्रेज़ी ज़रूरी है.

लेकिन हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के आपसी संबंध के बारे में हिन्दी के लेखकों की क्या राय है?

हिन्दी के वरिष्ठ कवि केदारनाथ सिंह नहीं मानते कि हिन्दी अन्य भारतीय भाषाओं से दूर जा रही है.

केदारनाथ कहते हैं, "***भारत की कोई ऐसी भाषा नहीं है जो हिन्दी जितनी दूसरी भाषाओं के प्रति उत्सुक हो. मैं कह सकता हूँ कि आधुनिक भारतीय साहित्य कामचलाऊ इतिहास केवल हिन्दी अनुवाद के आधार पर लिखा जा सकता है."***

दक्षिण भारत और हिन्दी

साहित्य अकादमी की महत्तर सदस्यता से सम्मानित भारतीय लेखक

लेकिन केदारनाथ यह जोड़ना नहीं भूलते, "बांग्ला, मराठी, पंजाबी और एक हद तक उड़िया से ठीक अनुवाद हो रहा है लेकिन दक्षिण भारत की भाषाओं से सही साहित्यिक हिन्दी में अनुवाद नहीं हो रहा है."

साहित्य अकादमी के वर्तमान अध्यक्ष विश्वनाथ प्रसाद तिवारी भी केदारनाथ सिंह से सहमत हैं.
विश्वनाथ प्रसाद तिवारी कहते हैं, "आंकड़े बताते हैं भारतीय भाषाओं से सबसे ज़्यादा अनुवाद हिन्दी में होते हैं उसके बाद मलयालम और उड़िया में. ये भाषाएँ बहुत संवेदनशील भाषाएँ हैं. ये भाषाएँ दूसरी भाषाओं से बहुत ज़ल्दी अनुवाद करती हैं."
लेकिन दक्षिण भारत की भाषाओं से हिन्दी के तुलनात्मक रूप से दूर होने का कोई हल भी है ?
इस सवाल पर केदारनाथ सिंह कहते हैं, "त्रिभाषा फॉर्मूला को हिन्दी वालों ने ठीक से लागू नहीं किया. अभी उत्तर प्रदेश में कुछ कॉलेजों में कुछ समय पहले शुरू हुआ है कि हम त्रिभाषा परिभाषा के तहत केवल दक्षिण भारत की भाषाओं को रखेंगे लेकिन यह केवल एक शुरुआत है."
हमने जिन लेखकों से बात की उनमें से ज़्यादातर को हिन्दी से एक शिकायत ज़रूर थी कि हिन्दी में 'राष्ट्रभाषा' की दावेदारी का दंभ है.
सितांशु यशश्चन्द्र कहते हैं, "हिन्दी को गर्व से नहीं, स्नेह से दूसरी भाषाओं के पास जाना चाहिए. हिन्दी को 'राष्ट्रभाषा' की दावेदारी का अहंकार छोड़ना होगा."

****

रघुवीर सहाय: कुछ न कुछ होगा, अगर मैं बोलूंगा...

जन्मदिन विशेष: रघुवीर सहाय की कविता राजनीतिक स्वर लिए हुए वहां जाती है, जहां वे स्वतंत्रता के स्वप्नों के रोज़ टूटते जाने का दंश दिखलाते हैं. पर लोकतंत्र में आस्था रखने वाला कवि यह मानता है कि सरकार जैसी भी हो, अकेला कारगर साधन भीड़ के हाथ में है.
हिंदी कविता के मुक्त आकाश में हर विचारधारा और हर विषयवस्तु ने खुलकर अपना रूप प्राप्त किया है. इसलिए यह आश्चर्य नहीं है कि कभी छायावाद की-सी अतिशय भावुकता से भरी पीढ़ी कविताओं के माध्यम से अपना मन खोल सकी तो वहीं मार्क्सवादी सामाजिकता से डूबी हुई कविताएं प्रगतिशील साहित्य के नाम पर अपना मुक़ाम पा सकीं.

इन सबके बाद एक वर्ग वह भी आया जिसने कविता को एक प्रयोग मानकर पुराने सभी बासी पड़ गए उपमानों को खारिज करने का घोष किया तो वहीं नेहरू युग के साथ-साथ विकसित हुई नई कविता ने लघुमानव को साहित्य का सूत्रधार बनाया.

हिंदी कविता के इस आधुनिक विकास यात्रा में कवि रघुवीर सहाय को अगर ढूंढना हुआ तो हम पाएंगे कि वह, जैसा कि आलोचक परमानंद श्रीवास्तव कहते हैं 'प्रयोगवाद और नई कविता की संधि' पर कहीं खड़े हैं और बड़ी मजबूती से खड़े हैं. यह संधि राजनीतिक फलक पर साठ के दशक के उत्तरार्ध में- यानी नेहरू युग की समाप्ति और लोहिया की मृत्यु पर- देखी जा सकती है .

सहाय उस पीढ़ी के प्रतिनिधि कवि हैं जिन्होंने राष्ट्र निर्माण के स्वप्नों को चुकते देखा था. 'दिल्ली मेरा परदेस' की भूमिका में 1957-67 के पूरे दौर को वे 'एक विश्वास के बार-बार झकझोरे जाने का दौर' बताते हैं- जो कि वह दौर है जो 1947 से 1957, माने स्वतंत्रता के शुरुआती दस वर्षों, जो सहाय के शब्दों में राष्ट्रनिर्माण के उत्साह का वर्ष थे, का उत्तराधिकारी था.

यहां अब युवा भारत के प्रति वह मोह नहीं दिखता जो पहले कि कविताओं में दिखाई पड़ता है. नेहरू के देहांत के तीन वर्षों के अंदर राममनोहर लोहिया का भी अंत हो जाना और इस तरह समाजवादी राजनीति के अवसर के

अवसान से लोकतंत्र पर आने वाले संकट की आशंका सहाय के कवि-मन को घेरती है, जिसकी सबसे सुंदर अभिव्यक्ति वह अपने काव्य संग्रह 'आत्महत्या के विरुद्ध' में करते हैं.

'अधिनायक' कविता में वह लिखते हैं:

राष्ट्रगीत में भला कौन वह
भारत-भाग्य-विधाता है
फटा सुथन्ना पहने जिसका
गुन हरचरना गाता है.

संयुक्त प्रांत के लखनऊ में 9 दिसंबर 1926 को जन्मे रघुवीर सहाय सामान्य मध्यवर्गीय परिवार से थे, जहां एक साथ सरकारी, आर्यसमाजी और कांग्रेसी प्रभाव में वो पलते-बढ़ते रहे. स्वयं को औसत दर्जे का विद्यार्थी मानने वाले सहाय, साहित्य लेखन में अपनी रुचि के संदर्भ में कहते हैं: 'यह मैं नहीं कह सकता कि कला के लिए अपनी रुचि मैंने किसी एक व्यक्ति से पाई, मगर यह शायद सच हो कि पिताजी की सादगी से मैंने कला की प्रेरणा ली हो.'

सहाय के लेखक जीवन की शुरुआत साल 1947 में हुई, जब एक बार उन्होंने हरिवंश राय बच्चन की कविताएं पढ़ीं और बकौल सहाय 'उनकी वेदना से मेरा कंठ फूटा... तभी से लिखना आरंभ किया. पंत और निराला का अगर असर हुआ तो बहुत टेढ़े तरीके से. अन्य आधुनिक कवियों में अज्ञेय और शमशेर बहादुर ने -जिनकी बौद्धिक आत्मानुभूति और बोधगम्य दुरूहता किसी हद तक एक ही-सा प्रभाव डालती हैं- मुझे अपनी आगामी रचनाओं के लिए काफी तैयार किया.'

रघुवीर सहाय ने सक्रिय जीवन जिया- हलचलों से भरा. अपने लेखन के आरंभिक वर्षों से अंतिम समय तक वे निरंतर रचना के मोर्चों पर सक्रिय रहे. साहित्य और पत्रकारिता की शुरुआत उन्होंने लखनऊ में की. लखनऊ से निकलने वाले 'नवजीवन' दैनिक पत्र से पत्रकारिता की शुरुआत हुई. 1946-51 तक वे रेडियो से जुड़े, जहां पर कविताओं के अलावा बच्चों के लिए अनेक कहानियों का भी प्रसारण किया.

तार सप्तक के दूसरे संस्करण के लिए अज्ञेय ने साल 1949 में पहले-पहल उनसे कविताएं मांगीं. 'बसंत', 'पहला पानी' जैसी कविताएं इस संकलन का हिस्सा बनीं. 'प्रतीक' का सहायक संपादक बनाकर अज्ञेय ने ही उन्हें दिल्ली बुलवाया और अज्ञेय के साथ शुरू हुई यह साहित्यिक-बौद्धिक साझेदारी आगे भी बनी रही जब, वर्ष 1959 में अज्ञेय ने अंग्रेज़ी का त्रैमासिक वाक् निकाला.
आकाशवाणी से लंबे समय तक जुड़े रहने वाले रघुवीर सहाय ने संवाददाता की लंबी पारी खत्म करने के बाद, नवभारत टाइम्स और फिर हिंदी के प्रसिद्ध पत्र दिनमान का संपादन भी 1970 से 1983 तक किया. इसके बाद स्वतंत्र रूप से अपने जीवन के अंतिम दिनों तक वह साहित्य लेखन या फ्रीलांसिंग करते रहे.
मीडिया और संचार माध्यमों की निहायत ही व्यस्त और भाग-दौड़ से भरी ज़िंदगी के बीच ही उन्होंने प्रचुर साहित्य भी लिखा. लगातार ही उनकी कविताएं प्रकाशित होती रहीं और उस दौर के साहित्यिक विमर्श और आलोचना के केंद्र में बनी रहीं. अपनी रचनाशीलता के 45 वर्षों में सहाय ने विभिन्न विधाओं में उत्कृष्ट साहित्य रचा जो प्रकाशित और अप्रकाशित सभी रूप में 'रघुवीर सहाय रचनावली' के छह खंडों में संकलित है.
कुछ प्रमुख कविता संग्रह सीढ़ियों पर धूप में (1960), आत्महत्या के विरुद्ध (1967), हंसो-हंसो जल्दी हंसो (1975), लोग भूल गए हैं (1982), कुछ पते कुछ चिट्ठियां (1989), प्रतिनिधि कविताएं (1994), एक समय था (1995) हैं. इसके अलावा, रास्ता इधर से है (1972) , जो आदमी हम बना रहे हैं (1982) सहाय के प्रमुख कहानी संग्रह हैं.
कविता या कवि-कर्म समाज को बदलने का एक उपकरण हो सकता है, सहाय इस विश्वास के साथ यथार्थ की अवधारणा को समझते थे. अपने एक साक्षात्कार में उन्होंने कहा भी कि 'कविता लिखने के कर्म में ही निहित है

कि दोतरफ़ा (स्वयं और लोगों का) बदलाव होगा. इस आधार पर यथार्थ की यह परिभाषा कर सकते हैं कि वह जो बदलने के लिए हमें प्रेरित करे, यथार्थ है. इसके अतिरिक्त यथार्थ का अगर कोई अर्थ निकलता है तो वह हमारे काम का नहीं है.'
नई कविता के बाद की युवा विद्रोही कविता का मुहावरा बनाने वालों में रघुवीर सहाय अग्रणी हैं. उनका काव्य संग्रह 'आत्महत्या के विरुद्ध' काव्यात्मक सृजनशीलता के स्तर पर एक नई कवि-दृष्टि और साहस का परिचायक है. यह साहस किसी भी किस्म की रोमांटिक गंभीरता को ध्वस्त कर नई अर्थ-छवियों को जन्म देता है. शब्दों के इस खेल से, इस कौतुक से सहाय लगभग सूर्यकांत त्रिपाठी निराला की सरोज स्मृति की तरह ही करुणा और हास्य को मिलाकर जीवन की त्रासद विडंबनाओं को काव्य में ढालते हैं.

रघुवीर सहाय सामाजिक यथार्थ को प्रस्तुत करने के पक्षधर थे पर समाज को समझने की उनकी दृष्टि वैज्ञानिक थी. मार्क्सवाद को कविता पर जबरदस्ती गिलाफ की तरह चढ़ाए जाने के वो सख्त खिलाफ थे. इसके बजाय वह मानते थे कि कविता में अगर जान और माने लाने हैं तो अपनी मध्यवर्गीय बौद्धिक चेतना को जागरूक रखना पड़ेगा और बराबर जागरूक रहकर एक दृष्टिकोण बनाना होगा.
अपनी कविताओं को इसलिए वह साधारण बोल-चाल की भाषा में ही लिखते हैं ताकि वह जन-जीवन से अपना सरोकार जोड़ सके. पर वह मानते हैं कि इस कारण 'कहीं-कहीं भाषा की फ़िजूलखर्ची उन्हें करनी पड़ी है.' कविता के लिए सबसे जरूरी जो तत्व सहाय मानते हैं, वह शिल्प से अधिक विचार वस्तु ही थी. और विचार वस्तु से उनका तात्पर्य वे वास्तविकताएं थीं, जिनसे एक कवि प्रेरणा लेता है.
दूसरा सप्तक में कविताओं से पूर्व अपने वक्तव्य में इसी संदर्भ में वह लिखते हैं:
'विचारवस्तु का कविता में खून की तरह दौड़ते रहना कविता को जीवन और शक्ति देता है, और यह तभी संभव है जब हमारी कविता की जड़ें यथार्थ में हों.'

आत्महत्या के विरुद्ध, जिसमें रघुवीर सहाय की 1957-67 के बीच की लिखी कविताएं संकलित हैं, न केवल स्वयं सहाय की प्रतिनिधि रचना है, बल्कि इस पूरे दशक की भी सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक-साहित्यिक व्याख्या है.
स्वतंत्रता के बाद जिस लोकतंत्र का वादा सत्ता पर आसीन राजनेताओं ने अपनी जनता से किया था, उसी लोकतंत्र की सच्चाई उधेड़ते हुए सहाय इस संकलन के वक्तव्य में लिखते हैं, 'लोकतंत्र- मोटे, बहुत मोटे तौर पर लोकतंत्र ने हमें इंसान की शानदार ज़िंदगी और कुत्ते की मौत के बीच चांप लिया है.'पर इस स्थिति में एक संवेदनशील साहित्यिक होने की क्या भूमिका होनी चाहिए, इस पर भी वह ग़ौर करते हैं:

'इस स्थिति में सबसे आसान यह पड़ता है कि व्यक्ति-स्वातंत्र्य की अभी तक बची सुविधा का फ़ायदा उठाकर मैं, अपने लिए बचे रहने की निजी, बिल्कुल अहस्तांतरीय रियायत ले लूं. उससे कुछ मुश्किल यह है कि मैं यह रियायत अस्वीकार करूं और उनके आसरे जिंदा रहूं जो इंसान के लिए दूसरे हथियारों से लड़ते हैं- साहित्येतर हथियारों से.
सबसे मुश्किल और एक ही सही रास्ता है कि मैं सब सेनाओं में लड़ूं -किसी में ढाल सहित, किसी में निष्कवच होकर-मगर अपने को अंत में मरने सिर्फ अपने मोर्चे पर दूं-अपनी भाषा के, शिल्प के और उस दोतरफ़ा ज़िम्मेदारी के मोर्चे पर जिसे साहित्य कहते हैं.'

सहाय की कविता राजनीतिक स्वर लिए हुए वहां जाती है, जहां वह स्वतंत्रता के स्वप्नों के दिन-ब-दिन टूटते जाने का दंश दिखलाते हैं. पर लोकतंत्र में आस्था रखने वाला कवि यह मानता है कि विराट भीड़ों के समाज को बदलने का आज सिर्फ एक साधन है: वह है उस सत्ता का उपयोग जो समुदाय का एक-एक व्यक्ति अलग-अलग निर्णयों से कुछ हाथों में देता है. सरकार जो राज्य की प्रतिनिधि है, जो समाज की प्रतिनिधि है, वह जैसी भी हो सकती है- अधूरी, टूटी, नकली मिलावटी, मूर्ख- अकेला कारगर साधन भीड़ के हाथ में है.

और इस साधन के अधिकाधिक सही इस्तेमाल के लिए लड़ाई ही उनकी कविता का प्रमुख स्वर थी. और इसलिए जनता के प्रति ही अपनी संवेदना वह कुछ इन शब्दों में व्यक्त करते हैं:

'एक मेरी मुश्किल है जनता
जिससे मुझे नफरत है सच्ची और निस्संग
जिस पर कि मेरा क्रोध बार-बार न्योछावर होता है.'

इसी कड़ी में, मनुष्य को बचाने में निरंतर अधिकाधिक असमर्थ होते समाज की सबसे परिपक्व अनुकृति उनकी 'रामदास' शीर्षक कविता है, जो 1974 में- यानी आपातकाल के एक साल पहले लिखी गई थी. यह कविता निरंकुश समाज व्यवस्था की निरंकुशता, असहृदयता को दिखलाने वाली उत्कृष्ट रचना है. यहां सब तमाशबीन हैं उस घोषित हत्या के, जो निर्धारित थी, जिसका सभी को पता था. पर कोई भी इसके विरुद्ध आवाज़ उठाने वाला नहीं है.

रामदास, प्रतीक सिर्फ व्यक्ति का ही नहीं, बल्कि संभवतः उस अवधारणा का भी है, जिसे हम लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता, सहिष्णुता, सद्भावना जैसी शब्दावली में ढाल सकते हैं.

'हंसो हंसो जल्दी हंसो' संग्रह में संकलित यह कविता आज के सामाजिक संदर्भों के लिए भी उतनी ही या उससे ज्यादा प्रासंगिक है, जहां हमें कवि यह बारम्बार आगाह करते हुए नजर आते हैं कि तमाशबीनों में तब्दील होते हुए लोगों की स्वयं की भी नियति किसी भी दिन रामदास की तरह हो सकती है, जिसे दिनदहाड़े सड़क के बीचों-बीच निहत्था मारा जा सकता है.
'निकल गली से तब हत्यारा
आया उसने नाम पुकारा
हाथ तौलकर चाकू मारा
छूटा लोहू का फव्वारा
कहा नहीं था उसने आखिर उसकी हत्या होगी.'
और इसलिए वह चाहते हैं कि हम बोलना सीख जाएं- अन्याय , अव्यवस्था, गरीबी, भुखमरी, विषमता के विरुद्ध. आत्महत्या के विरुद्ध कविता में वह लिखते हैं:
'कुछ-न-कुछ होगा अगर मैं बोलूंगा
न टूटे, न टूटे तिलिस्म सत्ता का
मेरे अंदर एक कायर टूटेगा
मेरे मन टूट एक बार सही तरह.'
यह बोलना ही शायद अपने जीवित रहने की निशानी है, क्योंकि 'हर दिन मनुष्य से एक दर्ज़ा नीचे रहने का दर्द' अपने आस-पास फैली विषमता को अस्वीकारने का प्रोत्साहन है, जो रघुवीर सहाय अपनी रचनाओं के माध्यम से हमें देते हैं. व्यक्ति की वैचारिक स्वतंत्रता के संकट को बहुत पहले से सहाय अपनी रचनाओं में उठाते हैं, और गुजरते दौर के साथ उनका यह आग्रह बढ़ता जाता है.
अपनी एक कविता 'स्वाधीन व्यक्ति' में वह लिखते हैं:
'बहुत दिन हुए तब मैंने कहा था लिखूंगा नहीं
किसी के आदेश से
आज भी कहता हूं
किंतु आज पहले से कुछ और अधिक बार
बिना कहे रहता हूं
क्योंकि आज भाषा ही मेरी एक मुश्किल नहीं रही.'

Civil Services 24x7 Update ! Upgrade ! Innovate !

और वैचारिक स्वतंत्रता को मूलभूत मानने का उनका आग्रह अपने समय और समाज में पल रही जनता से इसलिए ज्यादा है क्योंकि यह जनता ही है जो भेड़ों में तब्दील हो जाने का खतरा रखती है. जिनसे राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक स्वार्थसिद्धि के लिए कुछ भी करवाया जा सकता है. और जो इस प्रकार भेड़ बन जाने के बरअक्स स्वतंत्र रहने का खतरा उठाते हैं वह व्यवस्था की, समाज की आंखों की किरकिरी बन जाते हैं.

इस विडंबना को ही ध्यान में रखते हुए 1966 में रघुवीर सहाय यह पंक्तियां लिखते हैं: 'स्वाधीन इस देश में चौंकते हैं लोग/एक स्वाधीन व्यक्ति से.'

रघुवीर सहाय का साहित्य पढ़कर यह अवश्य लगता है कि- सत्ता का हृदय परिवर्तन हो जाएगा और एक समतामूलक समाज, शोषण विहीन समाज बन सकेगा- ऐसी गलतफहमी के वह शिकार नहीं थे. पर वह यह ज़रूर मानते थे कि लोग न्याय और बराबरी के जन्मजात आदर्श को नहीं भूलते: इतिहास के किसी दौर में कुछ लोग अवश्य इन्हें भूल जाते हैं पर इन्हें याद कराने के लिए उनसे कहीं बड़ी संख्या में मनुष्य जीवित रहते हैं. उनकी कविताएं इन्हीं मनुष्यों को ढूंढने का, ढूंढकर जगाए रखने का आवश्यक काम करती है.

(लेखक दिल्ली विश्वविद्यालय में शोधार्थी हैं.) **अदिति भारद्वाज**

******

हिंदी को दूसरों पर थोपना ग़लतः केदारनाथ सिंह

जनकवि माने जाने वाले कवि के लिए ज्ञानपीठ जैसे पुरस्कार क्या मायने रखते हैं?

जनकवि तो बहुत बड़ा शब्द है और जनता तक कितना मैं पहुँच पाया हूँ यह नहीं जानता. जनकवि कहलाने लायक हिंदी में कई कवि हो चुके हैं. कई सम्मानित हुए, कई नहीं हुए.

लेकिन जो कुछ मैं लिखता पढ़ता रहा हूं उसमें गांव की स्मृतियों का ही सहारा लिया है, क्योंकि मैं गांव से आया हुआ हूं और ग्रामीण परिवेश की स्मृतियों को संजोए हुए मैं दिल्ली जैसे महानगर में रह रहा हूं.

मेरी जड़ें ही मेरी ताक़त है. मेरी जनता, मेरी भूमि, मेरा परिवेश और उससे संचित स्मृतियां ही मेरी पूंजी है. मैं अपने साहित्य में इन्हीं का प्रयोग करता रहा हूँ और बचे खुचे जीवन में भी जो कुछ कर पाऊंगा उन्हीं के बिना पर कर पाऊँगा.

ज्ञानपीठ पुरस्कार, पूरी भारतीय परंपरा की ओर से आने वाला बड़ा पुरस्कार है और इसे मैं कृतज्ञ भाव से स्वीकार करता हूं.

एक ऐसे वक़्त में आपको ज्ञानपीठ पुरस्कार देने की घोषणा हुई है जब देश के अन्य हिस्सों में हिंदी को बढ़ावा देने को लेकर विवाद चल रहा है. तमिलनाडु ने यह आरोप लगाया है कि हिंदी उनके ऊपर थोपी जा रही है, आपको क्या लगता है?

यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है. मैं मानता हूं कि देश की सारी भाषाएं राष्ट्र भाषा हैं. हमारे संविधान के निर्माताओं ने बड़ी बुद्धिमानी से काम लिया था. उन्होंने हिंदी को राष्ट्र भाषा नहीं कहा, उन्होंने इसे राज भाषा कहा और यह कहते हुए उन्होंने कहीं न कहीं इस बात की संभावना छोड़ दी कि भारत की हिंदी, उर्दू, बांग्ला, तमिल, गुजराती समेत सारी भाषाएं राष्ट्र भाषा हैं. ***फ़िल्म गीतकार गुलज़ार और कवि केदारनाथ सिंह(दाएँ)***

ये सभी राष्ट्र की भाषा हैं इसलिए ये राष्ट्र भाषा हैं. मैं इसे इसी रूप में मानता हूँ.
हिंदी या अन्य किसी भाषा को दूसरों पर लादने का सवाल नहीं पैदा होता. यह उचित नहीं है और सारी भाषाओं का साहित्य मेरा साहित्य है.
मैं विश्वविद्यालय में तुलनात्मक साहित्य और भारतीय साहित्य पढ़ाता रहा हूं. मैं मानता हूं कि पूरा भारतीय साहित्य एक है.
राधाकृष्णन ने भारतीय साहित्य की एक परिभाषा दी थी, साहित्य अकादमी का आदर्श वाक्य है और उसे मैं अपने आदर्श वाक्य के रूप में स्वीकार करता हूं. उन्होंने कहा था, "भारतीय साहित्य एक है जो अनेक भाषाओं में लिखा जाता है."मैं भाषाओं की अनेकता को स्वीकार करता हूं. बड़ी भाषा और छोटी भाषा का सवाल नहीं है. हिंदी सारी भारतीय भाषाओं की बहन है इसलिए छोटी बहन, बड़ी बहन का सवाल पैदा नहीं होता.

हिंदी को लेकर एक और सवाल उठता रहा है कि यह न तो बाज़ार की भाषा बन पाई और न जनसंवाद की भाषा बन पाई तो इस दौर में हिंदी को जनसंवाद या रोज़गार मूलक भाषा बनाने में साहित्य की क्या भूमिका हो सकती है?

हिंदी बाज़ार की भाषा है. मैं इसे ज़ोर देकर इसलिए कहना चाहता हूं कि कुछ दिन पहले मेरे पास देश की एक बहुत बड़ी विज्ञापन संस्था में काम करने वाली एक महिला कर्मचारी आईं.
यह संस्था अपने सारे विज्ञापन अंग्रेज़ी में बनाती रही है. उन्होंने कहा कि हमारे यहाँ एक समस्या पैदा हो गई है. हम बाज़ार के लिए विज्ञापन तैयार करते हैं और ज़्यादातर अंग्रेज़ी में तैयार करते हैं.
मुश्किल यह है कि वृहत्तर भारत में सिर्फ अंग्रेज़ी से काम नहीं चलेगा. बड़े शहरों में तो काम चल जाएगा, लेकिन देश अन्य छोटे शहरों और कस्बों तक पहुंचने के लिए हिंदी की ज़रूरत है.
उन्होंने बताया कि अंग्रेज़ी और हिंदी में तैयार होने वाले सारे विज्ञापनों का पूरा अनुपात बदल गया है. पहले 80 प्रतिशत विज्ञापन अंग्रेज़ी में बनते थे अब वे घट कर 50 प्रतिशत पर आ गए हैं. जबकि हिंदी के विज्ञापन 20 प्रतिशत तक ही होते थे, लेकिन वे बढ़कर अब 50 प्रतिशत हो गए हैं.
बाज़ार में तो हिंदी पहुँच चुकी है और छोटे शहरों व कस्बों में वो अपनी जगह बना चुकी है. जहां तक महानगरों का सवाल है, वह एक बड़ा बाज़ार है- जिसे वैश्विक बाज़ार भी कह सकते हैं.

यह तथ्य है कि हिंदी वहां अपनी जगह नहीं बना पाई है. वहां उसे कड़ी प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ रहा है. यहाँ अंग्रेज़ी से काम चल जाता है क्योंकि यहां हिंदी की कोई अनिवार्यता नहीं है जैसे चीन या जापान की भाषा. वहां की भाषाएं बाज़ार की अनिवार्यता हैं.

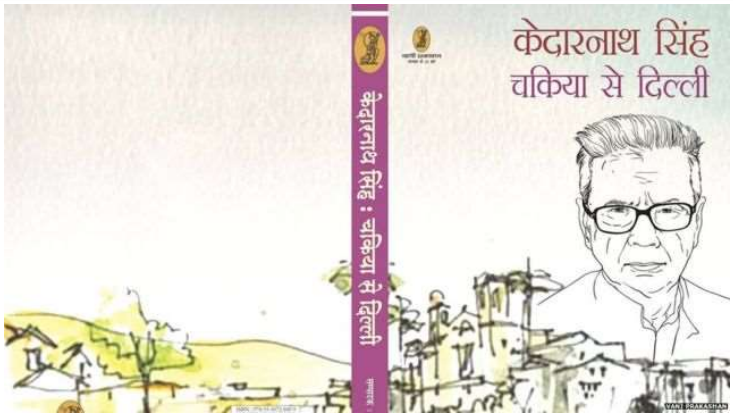

इसे मैं एक भाषिक असंतुलन कहूंगा. मैं समझता हूं कि यह एक ऐसी स्थिति है कि यह लंबे समय तक चलती रहेगी. इसका हम कुछ नहीं कर सकते, लेकिन इतना ज़रूर है कि एक बड़े पैमाने पर हिंदी अपनी जगह बना चुकी है.
आपके नए काव्य संग्रह सृष्टि की रचना में एक कविता है- विज्ञान के अंधेरे में अच्छी नींद आती है. क्या विज्ञान के प्रति हिंदी में जो नैराश्य भाव है वह बरकरार रहेगा या हिंदी विज्ञान को आत्मसात कर पाएगी या वह वैज्ञानिक लेखन की भाषा बन पाएगी?

देखिए, 'विज्ञान के अंधेरे...' का आशय विज्ञान के विरुद्ध नहीं है. यह एक सामान्य अनुभव है. जैसे सोते समय आप बत्ती बुझा देते हैं और अंधेरे में अच्छी नींद आती है. इसका सामान्यीकरण मत कीजिए.
यह विज्ञान की स्वीकृति के पक्ष में है. इस कविता में ट्रेन और वायुयान के महत्व को स्वीकार करते हुए अंत में यह पंक्ति आती है.
विज्ञान की भाषा बनने का जहाँ तक सवाल है, वह एक बड़ा सवाल है. हिंदी अभी तक विज्ञान की भाषा नहीं बन पाई है. इसका एक बड़ा कारण है कि शिक्षा के बड़े संस्थान- विश्वविद्यालयों और कॉलेजों में विज्ञान की पढ़ाई आज भी अंग्रेज़ी में होती है.
अभी भाषिक विकल्प की तलाश नहीं की गई है. इसे मैं बहुत सुखद स्थिति नहीं मानता हूं. अगर भारतीय भाषाओं का इस्लेमाल हो सके और उन्हें इसके सक्षम बनाया जा सके तो यह संभव हो सकता है, लेकिन ऐसा हो नहीं रहा है. हमारे शिक्षा जगत का ढर्रा अंग्रेज़ी के अनुकूल बैठता है. इसके लिए विश्वविद्यालयों और कॉलेजों को प्रयास करना होगा.

दुबई में हिंदी के बगैर काम नहीं चलता

सुहैल मोहम्मद अल-ज़रूनी का सम्बन्ध प्रसिद्ध अरब व्यवसायी परिवार अल-ज़रूनी से है जो दुबई के शाही खानदान के बहुत क़रीब है.
दुबई एक तरह से ज़बानों की खिचड़ी बन कर रह गया है. स्थानीय अरबों की संख्या 20 से 25 प्रतिशत है. बाक़ी सब विदेशी हैं, जिनमें भारतीयों की संख्या 28 लाख है. ऐसे में अरबों को अपनी ज़बान को खो देने का डर नहीं लगता?
अल-ज़रूनी कहते हैं, "नहीं, हर जगह अरबी है. अरबी प्रथम भाषा है. आप स्कूल और कॉलेज में चले जाएँ, सरकारी दफ्तरों में चले जाएँ इंग्लिश जितनी भी बोली जाए मगर अरबी नंबर वन है. हम अरबों की खूबी ये है कि हम जहाँ जाते हैं अपनी संस्कृति नहीं भूलते, अपनी ज़बान और लिबास नहीं भूलते."
हिंदी और उर्दू को बढ़ावा देने वाले भारतीय मूल के पुश्किन आग़ा कहते हैं कि इस देश में हिंदी के बग़ैर काम नहीं चलता.
उनके मुताबिक, "हिंदी और उर्दू यहाँ बहुत पहले से बोली जाती है. कई स्थानीय अरब हिंदी बोलते हैं. अल-ज़रूनी जैसे लोग हिन्दी और उर्दू साहित्य में भी दिलचस्पी रखते हैं. हम यहाँ कामयाब कवि सम्मेलन कराते हैं."
आने वाली नस्ल भी हिंदी सीखे
अल-ज़रूनी को इस बात से मायूसी होती है कि भारत के लोग हिंदी के बजाय अंग्रेजी बोलना पसंद करते हैं.

वो कहते हैं, "मैं ऐसे लोगों से निवेदन करूंगा कि अगर मैं अमीरात का अरब होकर हिंदी-उर्दू बोल लेता हूँ तो आपका ये फ़र्ज़ बनता है कि आप अपने बच्चों को अपनी भाषा सिखाएं."

अल-ज़रूनी चाहते हैं कि अरबों की आने वाली नस्ल भी उन्हीं की तरह हिंदी बोले. वो कहते हैं कि अरबों की नई पीढ़ी हिंदी समझती है, लेकिन बोलती नहीं.

उसका कारण ये है कि अब बॉलीवुड की फ़िल्में अरबी में डब की जाती हैं जिससे हिंदी समझने की ज़रूरत नहीं और दूसरा कारण ये है कि नई नस्ल अब पश्चिमी देशों में पढ़ने जाती है जहां से वो अंग्रेजी सीख कर आती है.

****

नामवर सिंह: हिंदी के 'नामवर' यानी हिंदी के प्रकाश स्तंभ

यह हिंदी के प्रतिमानों की विदाई का त्रासद समय है. सोलह महीनों के छोटे से अंतराल में कुंवर नारायण, केदारनाथ सिंह, विष्णु खरे, कृष्णा सोबती और अब नामवर सिंह के निधन से जो जगहें खाली हुई हैं वे हमेशा खाली ही रहेंगी.

इनमें से कई लोग नब्बे वर्ष के परिपक्व और कई उपलब्धियां देख चुके जीवन को पार कर चुके थे, लेकिन उनका न होना प्रकाश स्तंभों के बुझने की तरह है.

आधुनिक कविता की व्यावहारिक आलोचना की सबसे अधिक लोकप्रिय किताब 'कविता के नए प्रतिमान' लिखने वाले डॉ. नामवर सिंह कई दशकों तक खुद हिंदी साहित्य के प्रतिमान बने रहे. वे हिंदी के उन चंद कृति व्यक्तित्वों में थे जिनके पास न सिर्फ हिंदी, बल्कि भारतीय भाषाओं के साहित्य की एक विहंगम और समग्र दृष्टि थी और इसीलिए दूसरी भाषाओं में हिंदी के जिस व्यक्ति को सबसे पहले याद किया जाता रहा, वे नामवर सिंह ही हैं.

एक तरह से वे हिंदी के ब्रांड एम्बेसेडर थे. प्रगतिशील-प्रतिबद्ध साहित्य का एजेंडा तय करने का काम हो या 'आलोचना' के संपादक के तौर पर साहित्यिक वैचारिकता का पक्ष या जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय (जेएनयू) में प्रोफ़ेसरी, सबमें उनका कोई सानी नहीं था.

उनका साहित्य पढ़ाने का तरीका शुष्क और किताबी नहीं, बल्कि इतना सम्प्रेषनीय और प्रभावशाली होता था कि उनके ही नहीं, दूसरी कक्षाओं के छात्र और प्राध्यापक भी उन्हें सुनने आ जाते थे. जेएनएयू के हिंदी विभाग की धाक काफी समय तक बनी रहने का श्रेय नामवरजी को ही जाता है जिन्होंने विभाग की बुनियाद भी रखी थी.
छपना यानी 'साहित्य में स्वीकृति की मुहर'

एक लम्बे समय तक नामवर सिंह को अध्ययन और अध्यवसाय का पर्याय माना जाता रहा. जेएनयू से पहले उन्हें बहुत से लोगों ने दिल्ली के तिमारपुर इलाके में एक कमरे के घर में देखा होगा जहां दीवार पर लातिन अमेरिकी छापामार क्रांतिकारी चे ग्वारा की काली-सफ़ेद तस्वीर लटकती थी और वे एक तख्त पर किताबों से घिरे हुए किसी एकांत साधक की तरह रहते थे.
कई लोग यह मानते हैं कि उस दौर का गहन अध्ययन जीवन भर उनके काम आता रहा. उनके संपादन में 'आलोचना' का बहुत सम्मान था और उसमें किसी की रचना का प्रकाशित होने का अर्थ था: साहित्य में स्वीकृति की मुहर.

उन दिनों जब इन पंक्तियों का लेखक दिल्ली आया तो साहित्य अकादेमी के तत्कालीन उपसचिव और नयी कविता के एक प्रमुख कवि भारत भूषन अग्रवाल ने कहा, "अरे, आप अपनी कवितायें मुझे दीजिये. मैं उन्हें 'आलोचना' में छपवाऊंगा!" दिलचस्प यह था कि तब तक इस लेखक की कवितायें 'आलोचना' के नए अंक में प्रकाशित हो गयी थीं.

जिस तरह निराला अपना जन्मदिन अपनी प्रिय ऋतु वसंत की पंचमी को मनाते थे वैसे ही नामवर सिंह का जन्मदिन पहली मई को मनाया जाता रहा. यह मजदूर दिवस की तारीख है और संयोग से स्कूल में नामांकन के समय उनके जन्म की यही तारीख लिखवाई गयी थी.

बाद में वे वास्तविक तारीख 26 जुलाई को जन्मदिन मनाने लगे. युवावस्था में उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्यापन किया और कम्युनिस्ट पार्टी के उम्मीदवार के तौर पर लोकसभा चुनाव के मैदान में उतरे और हार

गए, जिसके नतीजे में उन्हें विश्वविद्यालय की नौकरी से हटना पड़ा. फिर दिल्ली आकर उन्होंने कुछ समय पार्टी के मुखपत्र 'जनयुग' का संपादन किया.

सागर और वहां से इस्तीफ़ा देने को विवश किये जाने के बाद जोधपुर विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग का प्रमुख बनना नामवर सिंह के जीवन का एक अहम मोड़ था.

पाठ्यक्रम में प्रगतिशील साहित्य को शामिल करने आदि कुछ मुद्दों के कारण उन्हें वहां से भी मुक्त होना पड़ा. फिर उन्हें जेएनयू में हिंदी विभाग की बुनियाद रखने का ज़िम्मा मिला और वे वर्षों तक उसके अध्यक्ष रहे. उसके बाद की कहानी उनकी दुनियावी कामयाबी की मिसाल है.
'कविता के नए प्रतिमान'
'कविता के नए प्रतिमान' का प्रकाशन (1968) किसी परिघटना से कम नहीं था जिसने समकालीन हिंदी कविता की आलोचना में एक प्रस्थापना-परिवर्तन किया. उससे पहले तक आधुनिक, छायावादोत्तर कविता को प्रगतिशील नज़रिए से पढ़ने-परखने की व्यवस्थित दृष्टि का अभाव था और अकादमिक क्षेत्र में डॉ. नगेन्द्र की रस-सिद्धांतवादी मान्यताओं का बोलबाला था.

ये मान्यताएं नयी काव्य संवेदना को देख पाने में असमर्थ थीं इसलिए उसे खारिज करती थीं. 'कविता के नए प्रतिमान' ने नगेन्द्र की रूमानी आलोचना का ज़बरदस्त खंडन किया और आधुनिक काव्य भूमियों की पड़ताल के लिए पुराने औजारों को निरर्थक मानते हुए 'नए' प्रतिमानों की ज़रूरत रेखांकित की.

इस पद का ज़िक्र हालांकि सबसे पहले कवि-आलोचक विजयदेव नारायण साही ने लक्ष्मीकांत वर्मा की पुस्तक 'नयी कविता के प्रतिमान' के सन्दर्भ में करते हुए कहा था कि अब 'नयी' कविता के प्रतिमानों का नहीं, बल्कि कविता के 'नए' प्रतिमानों की ज़रुरत है. लेकिन नामवर सिंह ने साही के भाववाद से हटकर उन्हें एक सुव्यवस्थित शक्ल देकर समाज-सापेक्ष पड़ताल का हिस्सा बनाया.

साही परिमल ग्रुप के पुरोधा थे जिसके प्रगतिशील लेखकों से गहरे मतभेद थे. एक तरह से नामवर सिंह ने परिमलीय नयेपन को प्रगतिशील अंतर्वस्तु देने का काम किया.

वह विश्व राजनीति में पूंजीवादी और समाजवादी ब्लॉक के बीच शीतयुद्ध का दौर था जिसकी छाया से साहित्य भी अछूता नहीं रहा. हिंदी के शीतयुद्ध में एक तरफ परिमलीय लेखक और हीरानन्द सच्चिदानंद वात्स्यायन अज्ञेय थे तो दूसरी तरफ प्रगतिशील साहित्य का मोर्चा था, जिसकी बागडोर तमाम आपसी मतभेदों के बावजूद डॉ. रामविलास शर्मा और डॉ. नामवर सिंह के हाथों में रही.
'कविता के नए प्रतिमान' इसी दौर की कृति हैं जिसने डॉ. नगेन्द्र के साथ-साथ अज्ञेय के साहित्यिक आभामंडल को ढहाने का काम किया. नामवर जी ने अज्ञेय के नव-छायावाद के बरक्स रघुवीर सहाय की कविता को, और बाद में गजानन माधव मुक्तिबोध को भी केंद्रीयता देते हुए नया विमर्श शुरू किया.

रघुवीर सहाय हालांकि अज्ञेय की पाठशाला से ही निकले थे, लेकिन उनके सरोकार कहीं ज्यादा सामजिक और लोकतांत्रिक नागरिकता से जुड़े थे इसलिए नामवर जी ने कविता की सामाजिकता और लोकतंत्र पर जिस बहस की शुरुआत की वह लम्बे समय तक सार्थक बनी रही.

पत्रकारिता का अनुभव होने के कारण उनकी भाषा अकादमिक जटिलता से मुक्त और ज्यादा सम्प्रेषनीय थी. यह किताब आलोचना को एक रणनीति को सामने रखती थी और बाद में खुद नामवर जी उसे 'पोलिमिकल' यानी दाँव-पेच और उखाड़-पछाड़ से भरी हुई मानने लगे. वर्षों बाद उन्होंने जैसे भूल-सुधार करते हुए अज्ञेय की कविता पर पुनर्विचार किया और उनके समग्र अवदान को भी रेखांकित किया.

नयी कहानी में 'नयी' क्या ?

इससे पहले भी नामवर जी की एक किताब 'कहानी: नयी कहानी' (1964) चर्चित रही जिसमें उन्होंने यह जांचने की कोशिश की कि 'नयी कहानी' आन्दोलन में नया क्या है.

उन्होंने उसके प्रमुख कथाकारों मोहन राकेश, राजेंद्र यादव और कमलेश्वर की त्रयी की कहानियों के बरक्स निर्मल वर्मा की कहानी 'परिंदे' को पहली 'नयी' कहानी के रूप में मान्यता दी.

ज़्यादातर आलोचकों की राय में मोहन राकेश की 'मलबे का मालिक' पहली नयी कहानी थी, लेकिन नामवर जी ने ऐसी कहानियों को 'अधूरा अनुभव' कह कर खारिज किया. दरअसल वाद-विवाद उन्हें शुरू से ही प्रिय था हालांकि उनकी एक और किताब 'वाद विवाद संवाद' बहुत बाद में (1989) में आयी.
नामवर सिंह मानते थे कि "मेरा वास्तविक काम 'दूसरी परंपरा की खोज' में है", जिसका प्रकाशन 1982 में हुआ.
आचार्य रामचंद्र शुक्ल की 'लोकमंगलवादी' सैद्धांतिकी से अलग आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की 'लोकोन्मुखी क्रांतिकारी' संस्कृति-समीक्षा की राह पर चलती इस किताब से उन्होंने जैसे अपने गुरु को श्रद्धांजलि दी.

उन्होंने तुलसीदास की बजाय सूरदास और कबीर की प्रासंगिकता को रेखांकित किया. उसकी भूमिका में नामवर सिंह लिखते हैं: "यह प्रयास परंपरा की खोज का ही है. सम्प्रदाय-निर्माण का नहीं. पण्डितजी स्वयं सम्प्रदाय-निर्माण के विरुद्ध थे. यदि 'सम्प्रदाय का मूल अर्थ है गुरु-परम्परा से प्राप्त आचार-विचारों का संरक्षण', तो पण्डितजी के विचारों के अविकृत संरक्षण के लिए मेरी क्या, 'किसी की भी आवश्यकता नहीं है."

हिंदी भाषा को हमेशा रखा आगे

नामवर सिंह व्यावहारिक आलोचना ही नहीं, कुछ व्यावहारिक विवादों के लिए भी जाने गए. एक लम्बे समय तक हिंदी और उर्दू की प्रगतिशील या तरक्कीपसंद धाराओं में एकजुटता और अंतर्क्रियाएं बनी रहीं. कम्युनिस्ट पार्टी के सांस्कृतिक मंचों प्रगतिशील लेखक संघ, इंडियन पीपुल्स थिएट्रिकल एसोसिएशन (इप्टा) आदि की सांस्कृतिक गतिविधियों में हिंदी-उर्दू लेखकों-रंगकर्मियों का ऐतिहासिक योगदान था जिसकी धमक हिंदी सिनेमा तक में सुनाई दी.
बाद में जब प्रगतिशील लेखक संघ में हिंदी-उर्दू के मसले पर मतभेद शुरू हुए और उर्दू लेखकों ने उपेक्षित किये जाने और उर्दू को उसका 'वाजिब हक' न मिलने की बहस शुरू की तो नामवर जी ने एक लेख 'बासी भात में खुदा का साझा' के ज़रिये हिंदी का पक्ष लिया.
नतीजतन, उर्दू में नामवर के समकक्ष कहे जाने वाले और उन्हीं के साथ जवाहर लाल विश्वविद्यालय के भारतीय भाषा केंद्र में प्रोफेसर डॉ. मोहम्मद हसन से उनकी वैचारिक-व्यक्तिगत दूरियां बढ़ गयीं. हिंदी और उर्दू, दोनों के साहित्य पर आलोचकों का वर्चस्व रहा है और यह हमारे साहित्यों को एक औपनिवेशिक देन है, और उसके दिग्गजों के आपसी मतभेदों ने तरक्कीपसंद अदब में कई भीतरी दरारें पैदा कीं.
'वाचिक' परम्परा
नामवर सिंह आलोचना में एक और 'परम्परा' के लिए भी याद किये जाते हैं और वह है– 'वाचिक' परम्परा. द्विवेदी जी बहुत कुछ लिखने के अलावा उस 'वाचिक' धारा के भी समर्थक थे जिसकी लीक कबीर, नानक, दादू आदि की यायावरी और प्रवचनों से बनी थी. कहानी उनकी निगाह में 'गल्प' थी, गप्प का तत्सम रूप.
नामवर जी ने भी जीवन के उत्तरार्ध में 'वाचिक' शैली में ही काम किया जिसका कुछ उपहास भी हुआ. 'दूसरी परंपरा की खोज' के बाद उनकी करीब एक दर्ज़न किताबें आयीं जिनमें 'आलोचक के मुख से', 'कहना न होगा', 'कविता की ज़मीन और ज़मीन की कविता', 'बात बात में बात' आदि प्रमुख हैं, लेकिन वे ज़्यादातर 'लिखी हुई' नहीं, 'बोली हुई' हैं.

लेकिन यह देखकर आश्चर्य होता है कि करीब तीन दशक तक वे कभी-कभार 'आलोचना' के संपादकीयों को छोड़कर बिना कुछ लिखे, सिर्फ इंटरव्यू, भाषण और व्याख्यान के ज़रिये प्रासंगिक बने रहे. इसकी एक वजह यह भी थी कि उनका गंभीर लेखन जिस तरह बोझिल विद्वता से मुक्त था, वैसे ही उनकी वाचिकता भी सरस थी हालांकि उसमें वह प्रामाणिकता कम थी जो उनके लेखन में पायी जाती है.

उदाहरण की तरह देखा गया नामवर का जीवन

नामवर सिंह के अंतर्विरोधों की चर्चा भी हिंदी में एक प्रिय विषय रहा है. वे 'महाबली' माने गए और उनके 'पतन' पर भी बहुत लिखा गया. नामवर जी वाम-प्रगतिशील साहित्य के एक प्रमुख रणनीतिकार आलोचक थे और अपने जीवन के सबसे जीवंत दौर में हिंदी विमर्शों पर उनका गहरा प्रभाव रहा.

कविता की उनकी पहचान भी अचूक मानी गयी और ज़्यादातर कवि अपनी कविता पर उनकी राय जानने के लिए लालायित रहते थे. हरिवंश राय बच्चन के एक गीत की पंक्ति को कुछ बदल कर कहा जाए तो उनका रोमांच ऐसा था कि 'तुम छू दो, मेरा गान अमर हो जाए'.

यह भी उन्हीं की खूबी थी कि वे अपने समझौतों को एक वैचारिक औचित्य दे सकते थे. उनसे प्रभावित कई लोगों को मलाल रहा कि वे एक खुद एक सत्ताधारी, ताकतवर प्रतिष्ठान बन गए और आजीवन हिन्दुत्ववादी संघ परिवार का तीखा विरोध करने के बावजूद उसके द्वारा संचालित संस्थाओं से दूरी नहीं रख पाए. ऐसे विचलनों के कारण प्रगतिशील लेखक संघ को उन्हें हटाने को विवश होना पड़ा.
पांच दशक से भी ज्यादा समय तक नामवर सिंह हिंदी साहित्य की प्रस्थापनाओं, बहसों और विवादों के केंद्र में रहे. चर्चा 'दूसरा नामवर कौन?' के मुद्दे पर भी हुई और कई आलोचकों-प्राध्यापकों ने नामवर जैसा बनने की कोशिश की, लेकिन उनकी तरह का दर्ज़ा किसी को हासिल नहीं हुआ.
खुद नामवर कहते थे कि 'हर साहित्यिक दौर को अपना आलोचक पैदा करना होता है. मैं जिस पीढ़ी का आलोचक हूँ, उसके बाद की पीढ़ी का आलोचक नहीं हो सकता.'
जिन आलोचकों ने उनसे अलग राह पर चलने, उनकी परंपरा से हटकर चलने की कोशिश की और आलोचना को व्यावहारिकता से कुछ हटकर गहरे सामाजिक सरोकारों से जोड़ने की कोशिश की, वे कुछ हद तक कामयाब रहे.
नामवर जी के व्यक्तित्व और काम पर दर्ज़न भर पुस्तकें और कई पत्रिकाओं के विशेष अंक प्रकाशित हुए: 'नामवर के विमर्श', 'आलोचना के रचना पुरुष, 'नामवर की धरती', 'जेएनयू में नामवर सिंह' 'आलोचक नामवर सिंह', 'पहल' और 'बहुवचन के विशेषांक आदि इसके कुछ उदाहरण हैं.

किसी आलोचक को इतनी प्रशस्तिपूर्ण किताबें कम ही नसीब हो पाती हैं. हिंदी में आलोचना की फिलहाल जो दुर्दशा है, उसमें 'नामवर के बाद कौन?' की बहस भी संभव नहीं लगती.
हाँ, नामवर के होने का अर्थ पर काफी विचार किया गया और अब उनके विदा लेने के बाद शायद नामवर के न होने का अर्थ पर उतने ही गंभीर विचार की दरकार होगी.

******

यशपाल: 'मैं जीने की कामना से, जी सकने के प्रयत्न के लिए लिखता हूं...'

विशेष: यशपाल के लिए साहित्यिकता अपने विचारों को एक बड़े जन-समुदाय तक पहुंचाने का माध्यम थी. पर इस साहित्यिकता का निर्माण विद्रोह और क्रांति की जिस चेतना से हुआ था, वह यशपाल के समस्त लेखन का केंद्रीय भाव रही. यह उनकी क्रांतिकारी चेतना ही थी जो हर यथास्थितिवाद पर प्रश्न खड़ा करती थी.

पंजाब के फ़िरोज़पुर में 3 दिसंबर 1903 को जन्मे यशपाल की पहचान के कई सूत्र हैं. क्रांतिकारी, समाजवादी-मार्क्सवादी विचारक, लेखक, यह सब सूत्र यशपाल से जुड़ते हैं. अगर वह स्वतंत्रता आंदोलन में भगत सिंह, आज़ाद जैसे क्रांतिकारियों के साथ कंधे-से-कंधा मिला कर चलने वाले सहयोगी थे तो वहीं पचास से भी अधिक किताबें-कहानियों,उपन्यासों, निबंधों, आत्मकथा के रूप में लिखने वाले, प्रेमचंद के बाद संभवतः हिंदी के सबसे अधिक नैसर्गिक और गंभीर रचनाकार भी थे.

19वीं शताब्दी के अंत में पंजाब में आर्य समाज आंदोलन की पृष्ठभूमि में यशपाल की वैचारिकता के आविर्भाव को समझा जा सकता है. मां के आर्यसमाजी होने के कारण घर का पूरा संस्कार ही एक ऐसे विचार से निर्मित था जहां वैदिक मूल्यों और शिक्षा पर ज़ोर स्वाभाविक था.

यशपाल की प्रारंभिक शिक्षा भी हरिद्वार में एक आर्य समाजी विद्यालय में ही हुई, जहां गुरुकुल परंपरा पर आधारित शिक्षा से यशपाल की जीवन-जगत संबंधी आधारभूत मूल्यों के बीज पड़े. अपनी आत्मकथा 'सिंहावलोकन' में यशपाल अपने विचारों के निर्माण में अपनी मां की भूमिका स्वीकार करते हैं, जो बच्चों की शिक्षा के लिए प्रतिबद्ध थीं.

महज़ सात वर्ष की अल्पायु में घर छोड़कर गुरुकुल चले जाने की पूरी स्थिति से ही संभवतः यशपाल में उस अनासक्त क्रांतिकारी के बीज डल गए थे, जिसका प्रतिफल आगे चलकर यशपाल के एक प्रखर क्रांतिकारी बनने में दिखता है. गुरुकुल के कठोर अनुशासन और प्रायोगिक अध्ययन-मंथन ने यशपाल के जीवन में परिश्रम, संयम और अध्यवसाय की नींव रख दी थी.

विद्यालयी शिक्षा खत्म होते-होते यशपाल राजनीतिक चेतना से दीप्त एक किशोर के रूप में परिवर्तित हो चुके थे जिसने मार्क्स और लेनिन जैसे विचारकों को गहन अध्ययन किया था.

कांग्रेस के स्वयं सेवक के रूप में यशपाल गांव-गांव घूम कर किसानों को कांग्रेस के कार्यक्रमों को समझाते थे. पर इसी प्रक्रिया में उन्हें यह लगने लगा कि केंद्रीय स्तर पर बैठी कांग्रेस की शीर्ष सत्ता, ज़मीनी समस्याओं से, किसानों की अवस्था से बिलकुल ही बेख़बर है और इसलिए उसके कार्यक्रम भी किसानों की ज़रूरत के हिसाब से नहीं बनाए गए हैं.

पर इस पूरे अभ्यास का फल यह हुआ कि यशपाल को जड़ों से जुड़कर काम करने का उद्देश्य मिल गया और वह भारतीय अर्थव्यवस्था और समाज-व्यवस्था को अधिक गहराई से समझ सके.

प्रारंभ में मां के स्वप्नों के अनुरूप ही यशपाल भी वकालत करना चाहते थे, पर यह वह दौर था, जब कांग्रेस के संवैधानिक तरीकों से मोह-भंग की प्रक्रिया शुरू हो गई थी और क्रांतिकारियों के रूप में उपनिवेशवाद के विरोध का एक नया वर्ग अपनी राजनीतिक जगह बनाने लगा था.

विशेषकर जब यशपाल ने गुरुकुल की शिक्षा खत्म कर उच्च शिक्षा के लिए लाहौर के नेशनल कॉलेज में दाखिला लिया तो कांग्रेस के नरम दल और उनकी रणनीतियों से मतभेद होने की प्रक्रिया और त्वरित ही हुई. इस कॉलेज की स्थापना प्रसिद्ध राष्ट्रवादी नेता लाला लाजपत राय ने की थी और यहीं पर पहले-पहल, यशपाल, भगत सिंह और सुखदेव जैसे क्रांतिकारियों के सानिध्य में आए थे.

यशपाल के राजनीतिक जीवन की सही मायनों में शुरुआत इस स्थान से हुई , जब वे न केवल हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी (एचएसआरए) के सदस्य बने बल्कि क्रांतिकारी उग्रवाद के पीछे काम करने वाली वैचारिकता को भी समझने का प्रयास किया. इस पूरे दौर की चेतना, इसके अनुभवों को यशपाल ने 'सिंहावलोकन' में दर्ज किया है.

एक क्रांतिकारी की भूमिका में यशपाल ने भगत सिंह के साथ कई प्रयोग किए. भगत सिंह के जेल जाने की स्थिति में भी यशपाल और उनके सहयोगियों ने भगत सिंह की योजनाओं के क्रियान्वयन का भार उठाए रखा.

आगे चलकर यशपाल ने चंद्रशेखर आज़ाद के साथ मिलकर वॉयसराय लॉर्ड इरविन पर हमला करने की योजना बनाई थी, जिसमें वॉयसराय की गाड़ी तो क्षतिग्रस्त हो गई थी, पर इरविन बच गए थे.

हत्या के इस षड्यंत्र के आरोप में दोनों ही क्रांतिकारियों की धर-पकड़ शुरू हो गई जिसमें आज़ाद तो इलाहाबाद के अल्फ्रेड पार्क में शहीद हो गए और यशपाल भी अंततः पंजाब में जनवरी 1932 में गिरफ्तार कर लिए गए और उन्हें 14 वर्ष के सश्रम कारावास की सज़ा सुनाई गई.

जेल के अपने इस प्रवास में ही उन्होंने अपना पहला कहानी संग्रह 'पिंजरे की उड़ान' लिखा. यशपाल का यह दीर्घ प्रवास एक और दृष्टि से भी महत्वपूर्ण समझा जा सकता है. वह एक मात्र ऐसे राजनीतिक क़ैदी थे जिनका विवाह जेल परिसर में ही हुआ था.

यशपाल का पत्नी प्रकाशवती से परिचय एचएसआरए के दिनों में ही हो गया था, जब वह भी अपने घर से भागकर संगठन में भर्ती होने आई थीं. क्रांतिकारी कम्यून में प्रेम और विवाह पर कठोर पाबंदियां थी और इसलिए जब यशपाल और प्रकाशवती के प्रेम की चर्चा हुई तो संगठन ने इनके खिलाफ फतवे ज़ारी कर दिए और देखते ही गोली मार देने के आदेश दे दिए.

सिंहावलोकन में यशपाल बताते हैं कि किस प्रकार बड़ी मुश्किल से यशपाल ने इस पूरी स्थिति को संभाला था और इस फतवे को निरस्त करवाया था. जब यशपाल जेल में थे तब एक दिन प्रकाशवती ने जेल के शीर्ष अधिकारी से यशपाल से विवाह करने की अनुमति मांगी और इससे संबंधित किसी भी प्रकार के नियम न होने की स्थिति में अधिकारी ने भी अनुमति न देने की कोई वजह न समझी और इस प्रकार जेल में ही दोनों का विवाह हुआ.

यह घटना उस वक़्त तक के जेल के इतिहास में तो अभूतपूर्व थी ही, आगे आने वाले इतिहास के लिए भी अनोखी ही रह गई क्योंकि इस घटना के बाद ही भारतीय जेलों के मैनुअल में यह नियम डाल दिया गया कि जेल में रहने वाले कैदी का जेल में विवाह नहीं हो सकता.

बहरहाल, जेल में रहते हुए ही यशपाल ने फ्रेंच, रसियन और इटालियन भाषाएं सीखीं और इस प्रकार इन भाषाओं के साहित्य का भी अध्ययन किया जिसने उनके वैचारिक और साहित्यिक मानस के लिए प्रेरणा का काम किया. जेल से यशपाल अंततः 1938 में रिहा हुए और यह यशपाल के राजनीतिक जीवन का भी अंत साबित हुआ. इसके बाद जिस यशपाल को हम जानते हैं वह, भौतिक रूप से क्रांतिकारी यशपाल तो नहीं थे, पर एक क्रांतिकारी की चेतना से युक्त एक लेखक यशपाल थे. इसलिए देखा जाए तो एक लेखक के जीवन की शुरुआत यशपाल ने बाद में की, पर जिस परिमाण में उन्होंने लिखा और जितना गुणवत्तापूर्ण लिखा, वह बहुत कम ही लेखक लिख पाते हैं. यशपाल ने जेल से निकलकर पत्नी प्रकाशवती के साथ 'विप्लव' पत्रिका का प्रकाशन-संपादन किया जिसका सिलसिला जीवनपर्यंत चलता रहा. यशपाल ने भरपूर लिखा और विविध विषयों पर अपनी लेखनी चलाई. विस्तार और घनत्व दोनों ही यशपाल की रचनात्मकता में देखने को मिलते हैं.

एक क्रांतिकारी के रूप में अपने अनुभवों को यशपाल ने अगर दादा कामरेड (1941), देशद्रोही (1943) और पार्टी कामरेड (1946) में ध्वनि दी है तो वहीं इतिहास को भी समसामयिक प्रासंगिकता से जोड़ कर देखने का काम दिव्या (1945) और अमिता (1956) में किया है . यशपाल को उनकी रचना 'मेरी तेरी उसकी बात' (1974) के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार प्रदान किया गया.

यशपाल की साहित्यिकता के पीछे भी एक सोची-समझी वैचारिकता थी जिसका प्रकटन उन्होंने अपने एक लेख में किया है. 'मैं क्यों लिखता हूं?' में यशपाल कहते हैं:

'अपनी चेतना और विश्वास में सदा सप्रयोजन ही लिखता रहा हूं... ... मैं जीने की कामना से, जी सकने के प्रयत्न के लिए लिखता हूं. अपनी अभिव्यक्ति अथवा रचना-प्रवृत्ति को मैं अपने समाज की परिस्थितियों, अनुभूतियों और कामनाओं की सचेत प्रतिक्रिया ही समझता हूं और उन्हें अपनी चेतना और सामर्थ्य के अनुसार अपने सामाजिक हित के प्रयोजन से अभिव्यक्त करता रहता हूं.'

इसलिए यशपाल के लिए साहित्यिकता अपने विचारों को एक बड़े जन-समुदाय तक पहुंचाने का माध्यम थी. पर इस साहित्यिकता का निर्माण विद्रोह और क्रांति की जिस चेतना से हुआ था, वह यशपाल के समस्त लेखन का

केंद्रीय भाव रहा. क्योंकि यह यशपाल की क्रांतिकारी चेतना ही थी जो हर यथास्थितिवाद पर प्रश्न खड़ा करती थी.

इसका सबसे पहला प्रमाण तब मिलता है जब यह देखते हैं कि जिस गुरुकुल कांगड़ी की परंपरा में यशपाल की शिक्षा-दीक्षा हुई थी, उसके कठोर आचरण के अनुशासन, दैहिक संयम और शुचिता के अत्यधिक आग्रह पर-उसके अतिवाद- पर यशपाल ने प्रश्न करते हुए 'धर्म रक्षा' कहानी लिखी थी, जहां यह दिखलाया कि कैसे गुरुकुल का एक शिक्षक जो अपनी दमित इच्छाओं को गुरुकुल के कठोर अनुशासन के कारण अभिव्यक्त नहीं कर पाया, अंततः अपने ही एक संबंधी के साथ जबरन दुष्कर्म करता है.

इस प्रकार दमित चेतनाओं का जो मनोविश्लेषणात्मक आधार फ्रायड ने दिया था, यशपाल अपनी सर्जनात्मकता से उसका यथार्थवादी प्रतिफलन दिखलाते हैं.

यशपाल भले ही कम्युनिस्ट पार्टी से संबद्ध रहे पर वैचारिकता का मतभेद बना रहा. यशपाल की रचना दृष्टि जिस प्रकार से स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करती थी, वह संभवतः उस युग की संवेदनशीलता से कहीं आगे की बात थी और पार्टी से मतभेद के कई बिंदुओं में यह एक अहम मुद्दा था.

यशपाल के उपन्यासों और कहानियों में स्त्री का चित्रण उसके सबसे नैसर्गिक, स्वाभाविक रूप में हुआ है और किसी भी प्रकार की दैवीय आभा से रहित एक मानवी के रूप में स्त्रियां यशपाल के यहां आती हैं. चाहे वह दिव्या हो या अमिता, स्त्रियां यहां अपने मानसिक और दैहिक आवश्यकताओं और अधिकारों के प्रति सजग नज़र आती हैं, जो पितृसत्तात्मकता को चुनौती देता नज़र आता है.

और यह रचना दृष्टि उस समय के स्वतंत्रता आंदोलन में स्वतंत्रता के राष्ट्रवादी प्रश्नों को एक तरह से और विस्तार देता है क्योंकि स्त्रियों की मुक्ति का प्रश्न हर स्तर पर एक उपेक्षित विषय था. ऐसे में यशपाल, जैसा कि आलोचक निखिल गोविंद मानते हैं, जैनेंद्र और अज्ञेय की परंपरा में ही स्त्रियों की यौनिकता (sexuality) को एक टूल की तरह प्रयोग करते हैं जिससे तत्कालीन समाज के पितृवादी राष्ट्रीय-सांस्कृतिक सोच की व्याख्या की जा सके.

यशपाल ही संभवतः एक ऐसे संवेदनशील रचनाकार रहे थे, जिन्होंने विभाजन को आधार बनाकर लिखे गए झूठा-सच जैसे विशद उपन्यास की रचना करते हुए भी स्त्रियों को नज़रअंदाज़ नहीं किया. तारा, बंती जैसे पात्रों के माध्यम से यशपाल ने भारत के विभाजन को अंततः स्त्रियों के ऊपर किए गए अत्याचार के रूप में देखने की दृष्टि बहुत पहले दे दी, जो इतिहास ने एक लंबा अरसा बीत जाने के बाद अनुभव किया.

आलोचक संजीव कुमार इस संबंध में यह स्पष्ट करते हैं कि कैसे विभाजन को स्त्रीवादी दृष्टि से देखने का काम नारीवादी इतिहासकारों जैसे कि उर्वशी बुटालिया, कमला भसीन, ऋतु मेनन ने 1980 के बाद किया पर यशपाल 1958 में ही विभाजन की हिंसा में झोंक दी गई स्त्रियों को कल्पना के माध्यम से ही वास्तविक रूप दे रहे थे.

यशपाल के साहित्य को उसकी वैचारिकता से भी अधिक उसके मानवीय मूल्यों के प्रति जबर्दस्त आस्था के लिए पढ़े जाने की, समझे जाने की आवश्यकता है. उनके लेखकीय अवदान को तो बस समाज के वंचितों और ग़रीबों के प्रति उनकी एकनिष्ठता का बाई-प्रोडक्ट समझना चाहिए, वरना यशपाल एक क्रांतिकारी, एक सर्जक और एक विचारक के रूप में अंततः सामाजिक समस्याओं का, सामाजिक विषमताओं का ही हल ढूंढ रहे थे.

(अदिति भारद्वाज दिल्ली विश्वविद्यालय में शोधार्थी हैं.)

****

महादेवी वर्मा: तू न अपनी छांह को अपने लिए कारा बनाना...

ज़िंदगी की आपाधापी और रोज़मर्रा की व्यस्तता में जिस प्रकार से हमारे तमाम दिन गुज़र जाते हैं, ऐसे में एकबारगी हमें कोई वजह नहीं मिलती कि किसी दिन विशेष को याद भी रखा जाए. पर महादेवी वर्मा, जिनके जन्म के नाम पर आज की तारीख (26 मार्च) दर्ज़ है, भारतीय साहित्य का वह अविस्मरणीय व्यक्तित्व हैं, जिन्हें उनकी 115वीं वर्षगांठ पर याद करना कई दृष्टियों से प्रासंगिक है.

महादेवी की रचनाओं को उम्र के अलग-अलग पड़ावों पर पढ़ते हुए उनके व्यक्तित्व और साहित्य को दी गई उनकी विरासत पर नए पहलू से विचार करने की आवश्यकता महसूस होने लगती है, जो मेरी दृष्टि में किसी भी रचनाकार के प्रासंगिक और कालातीत बने रहने का बड़ा आधार है.

प्रेम और वेदना की अमर गायिका के रूप में प्रचलित कवयित्री की रचनाएं समसामयिक संदर्भों में स्त्री-अधिकारों को भी वाणी देने का कार्य कर सकती है, यह उनकी रचनाओं से ही पता चलता है. ऐसा लगता है कि स्त्री मुक्ति के तमाम संघर्षों में महादेवी की पंक्तियों को नारे की तरह उपयोग किया जा सकता है.

'तू न अपनी छांह को अपने लिए कारा बनाना!

जाग तुझको दूर जाना!'

स्त्रीवादी विमर्श या फेमिनिज़्म आज भले ही महानगरीय जीवन में बहुत ही आम बात लगती है और स्त्रियों के अधिकारों की चर्चा लिविंग रूम की बैठकों और कॉफी हाउसों की बहसों का एक रूटीन अंग लगता हो. आज महिलाओं की सामाजिक स्थिति पर सोच पाना और इसके संदर्भ में सक्रियता दिखाना सहज लगता है, पर क्या हम ये कल्पना कर सकते हैं कि 1920-30 के दशक में वर्तमान महानगरों से कहीं बहुत दूर के कस्बाई इलाकों में कोई स्त्री महिला के अधिकारों की बात को न केवल अपनी लेखनी में उठा रही थी, बल्कि स्वयं अपनी विचारधारा की एक जीवंत तस्वीर थी.

महादेवी वर्मा को उनके व्यक्तित्व की विशिष्टता के लिए ही आधुनिक समय की मीरा कहा गया. जिस तरह से मीरा अपने मध्यकालीन समाज में विद्रोह और प्रतिरोध का प्रतीक थीं, कहीं-न-कहीं, महादेवी स्वयं जीवन भर व्यवस्था और समाज के स्थापित मानदंडों से लगातार संघर्ष करती रहीं और इसी संघर्ष ने उन्हें अपने समय और समाज की मुख्यधारा में सिर झुकाकर भेड़ों की तरह चुपचाप चलने वाली नियति से बचाकर एक मिसाल के रूप में स्थापित कर दिया.

एक संभ्रांत और शिक्षित परिवार से संबंध रखने वाली महादेवी की शादी तकरीबन नौ वर्ष की उम्र में ही कर दी गई थी, जिसकी स्मृति कुछ इन शब्दों में वह दर्ज़ करती हैं:

'बारात आई तो बाहर भागकर हम सबके बीच खड़े होकर बारात देखने लगे. व्रत रखने को कहा गया तो मिठाई कमरे में बैठकर खूब मिठाई खाई. रात को सोते समय नाउन ने गोद में लेकर फेरे दिलवाए होंगे, हमें कुछ ध्यान नहीं है. प्रातः आंख खुली तो कपड़े में गांठ लगी देखी तो उसे खोलकर भाग गए.'

इसे महादेवी का विद्रोही मन ही कहा जाए या अति-संवेदनशील हृदय, अपने पति के साथ वो कभी नहीं रहीं और वैवाहिक जीवन के प्रति उदासीन ही बनी रहीं.

कई अटकलें लगाई जाती हैं कि महादेवी कुरूप थीं और अपने पति को पसंद नहीं थी. कारण जो भी रहा हो, पर हतप्रभ करने वाली बात यह थी कि उस समय में जब समाज में एक स्त्री के विवाहित होते हुए भी यूं पति से अलग रहने को एक अभिशाप की तरह देखा जाता था, वैसे समय में न केवल महादेवी ने यह कदम उठाया बल्कि अपने जीवन को अपने ऊंचे आदर्शों और मूल्यों की कसौटी पर खरा रखते हुए जिया.

'महादेवी का जीवन तो एक संन्यासिनी का ही जीवन बना रहा. उन्होंने जीवन भर श्वेत वस्त्र पहना, तख्त पर सोईं और कभी शीशा नहीं देखा.'

ये तो हुई महादेवी के निजी जीवन के संघर्षों की गाथा जिसने उन्हें बड़े-से-बड़े चट्टानों से टकराने का साहस दिया, अगर दृष्टि उनके बाह्य जीवन या कार्यक्षेत्र की ओर डालें तो यहां भी कुछ बहुत बड़ी उपलब्धियां उनके साथ जुड़ी हुई हैं.

महादेवी का कार्यक्षेत्र लेखन, संपादन और अध्यापन से जुड़ा रहा. छायावादी कविता के विस्तृत आकाश में नीहार (1930), रश्मि (1932), नीरजा (1933), सांध्यगीत (1935), दीपशिखा (1942), अग्निरेखा (1988) जैसे महादेवी के काव्य संग्रह अपनी छायावादी रहस्यात्मक काव्यात्मकता के लिए जितने चर्चित हुए, स्मृति की रेखाएं (1943), पथ के साथी (1956), अतीत के चलचित्र (1961), जैसी गद्य विधाओं के माध्यम से भी हिन्दी साहित्य को आजीवन उन्होंने समृद्ध किया.

इलाहाबाद में प्रयाग महिला विद्यापीठ के विकास में उनका अभिन्न योगदान रहा. महिलाओं की शिक्षा को समर्पित इस प्रकार की किसी संस्था का आना अपने समय में महिला-शिक्षा के क्षेत्र में क्रांतिकारी कदम था. उन्होंने संपादन की दुनिया में महिलाओं की उपस्थिति दर्ज करने में भी अभूतपूर्व भूमिका निभाई, जब 1923 में हिन्दी की महत्वपूर्ण पत्रिका 'चांद' के संपादन का कार्य महादेवी ने संभाला. भारत में महिला कवि सम्मेलनों की नींव रखने का भी श्रेय भी उन्हें ही दिया जाता है. महादेवी की पहल पर ही पहला अखिल भारत वर्षीय कवि सम्मेलन 15 अप्रैल 1933 को प्रयाग महिला विद्यापीठ में संपन्न हुआ.

ऊपर कही गई तमाम उपलब्धियों को सुनकर हमें महादेवी को सिर्फ एक कर्मठ कार्यकर्ता के रूप में समझने की भ्रांति हो सकती है. परंतु क्या महादेवी को सिर्फ उनके किए गए योगदान के लिए ही जानना चाहिए? क्या एक पुरुष प्रधान समाज में किसी महिला द्वारा किए गए काम को बस इसीलिए तारीफ मिलनी चाहिए कि ये सारे काम एक महिला के द्वारा किए गए हैं?

मेरी दृष्टि में इस तरह के तर्क न केवल महादेवी को एक व्यक्ति के तौर पर उनके विचार करने की क्षमता से अलग कर देंगे, बल्कि उन्हें बस उनकी उपलब्धियों के पीछे छुपा देंगे. जबकि सच तो यह है कि आज 2022 में अगर महादेवी वर्मा को याद करने की जरूरत है तो वह 'व्यक्ति' महादेवी के अपने समय और परिवेश से कहीं ज्यादा आगे चलने वाले विचारों की वजह से है.

चाहे वह अपने रचना-संसार के माध्यम से प्रेम की एक प्लेटोनिक परिभाषा गढ़ने का कार्य हो (*जब असीम से हो जाएगा/मेरी लघु सीमा का मेल/देखोगे तुम देव!अमरता/ खेलेगी मिटने का खेल!*) या फिर वेदना और दुख की स्थितियों में भी मानवता को बनाए रखने का उनका प्रस्ताव (*पथ न भूले, एक पग भी/ घर न खोए, लघु विहग भी/स्निग्ध लौ की तूलिका से/आंक सबकी छांह उज्ज्वल*), महादेवी अपने समय की वैचारिकता का एक प्रमुख स्तंभ थीं.

महादेवी के स्त्री-संबंधी विचारों के लिए मेरे खयाल से हर पाठक को 'शृंखला की कड़ियां' पढ़नी चाहिए, क्योंकि 1942 में लिखी गई इस किताब को पढ़ते वक़्त हर पल यह महसूस होता है कि कैसे कोई उस समय, जब हमारा भारतीय समाज स्त्रियों और उनकी अस्मिता के प्रश्नों पर किसी विकसित विचारधारा और सैद्धांतिकी की बात तो दूर, उन पर खुलकर चर्चा भी नहीं कर पाता था, महिलाओं से जुड़े प्रश्नों को उठा रहा था?

कई अर्थों में महादेवी की यह रचना महिला-मुक्ति और महिलाओं के पुरुषों के समान अधिकारों की मांग करने वाला पहला सुनियोजित प्रयास माना जा सकता है. आज हम कामकाजी महिलाओं पर पड़ने वाले दोहरे बोझ की बात करते हैं , पर महादेवी उस दौर में सर्वहारा वर्ग की महिलाओं के संदर्भ में अपनी चिंता व्यक्त करते हुए कहती है:

'श्रमजीवी श्रेणी की स्त्रियों के विषय में तो कुछ विचार करना भी मन को खिन्नता से भर देता है. उन्हें गृह का कार्य और संतान का पालन करके भी बाहर के कामों में पति का हाथ बंटाना पड़ता है. सवेरे 6 बजे गोद में छोटे बालक को तथा भोजन के लिए एक मोटी काली रोटी लेकर मजदूरी के लिए निकली हुई स्त्री जब संध्या के 7 बजे घर लौटती है तो संसार भर का आहत मातृत्व उसके शुष्क ओठों में कराह उठता है. उसे श्रांत शिथिल शरीर से फिर घर का आवश्यक कार्य करते और उसपे कभी-कभी मद्यप पति के निष्ठुर प्रहारों को सहते देख कर करुणा को भी करुणा आए बिना नहीं रहती.'

इसी तरह, मध्यमवर्गीय गृहस्थ महिला की स्थिति पर महादेवी के विचार सुन कर ऐसा लगता है मानों आज भी स्थितियां कमोबेश वही तो हैं, भले ही उनके रूप थोड़े बदले हुए हों, आधुनिकता के संसाधनों से रंगे-छुपे हुए:

‘मध्यम श्रेणी की महिलाओं को गृह के इतर और महत्वपूर्ण दोनों प्रकार के कार्यों से इतना अवकाश ही नहीं मिलता कि वे कभी अपनी स्थिति पर विचार कर सके. जीवन के आरंभिक वर्ष कुछ खेल में, कुछ गृह-कार्यों के सीखने में व्यतीत कर जब से वे केवल शाब्दिक अर्थवाले अपने गृह में चरण रखती हैं , तब से उपेक्षा और अनादर की अजस्र वर्षा में ठिठुरते हुए मृत्यु के अंतिम क्षण गिनती रहती हैं. स्वत्वहीन धनिक महिलाओं को यदि सजे हुए खिलौने बनकर रहने का सौभाग्य प्राप्त है तो साधारण श्रेणी की स्त्रियों को क्रीत दासी का दुर्भाग्य.’

भारतीय समाज की पुरुष-प्रधानता कोई नई बात नहीं है और ज़ाहिर है कि तथाकथित आधुनिकता की आड़ में आज भले हम अपने समाज के बदलने की बात करते हों, या फिर पुरुषों के उदार या प्रगतिशील हो जाने की बात करते हों, पर महादेवी के समय में इस तथाकथित आधुनिकता का प्रवेश भारतीय या यूं कह लें, पूरे दक्षिण-एशियाई समाज में बहुत कम था या था भी तो उसके लाभार्थी समाज के उच्च वर्ग ही रहे होंगे. (हालांकि उच्च वर्गों की महिलाओं के लिए भी समाज की जकड़न बराबर ही थी, हां शिक्षित उच्च वर्गीय पुरुष महिला अधिकारों की ज़बानी हिमायत करते होंगे.) महादेवी भी अपने समय व समाज के संदर्भ में कहती हैं:

‘इस समय हमारे समाज में केवल दो प्रकार की स्त्रियां मिलेंगी- एक वे जिन्हें इनका ज्ञान ही नहीं है कि वे भी एक विस्तृत मानव-समुदाय की सदस्य हैं, और उनका भी एक ऐसा स्वतंत्र व्यक्तित्व है, जिसके विकास से समाज का उत्कर्ष और संकीर्णता से अपकर्ष संभव है; दूसरी वे जो पुरुषों की समता करने के लिए उन्हीं के दृष्टिकोण से संसार को देखने में, उन्हीं के गुणावगुणों का अनुकरण करने में जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति समझती हैं.’

इन पंक्तियों को पढ़कर वाकई उस समय का समाज और उसकी सीमित परिधि का पता लगाया जा सकता है, परंतु अगर हम आज के समाज पर भी मंथन करें तो मन सच में इस प्रश्न से जूझने लगता है कि स्थितियों में परिवर्तन क्या सच में हुआ है और अगर हुआ भी है तो उसके प्रमाण क्यों बहुत नहीं मिलते?

महादेवी के स्त्री-संबंधी विश्लेषणों को जान कर लगता है, मानों हम सिमोन द बोउआर (1908-1986) को पढ़ रहे हों जो लगभग उसी दौर में द सेकेंड सेक्स लिख रहीं थी. सिमोन भी तो स्त्री की मुक्ति को सिर्फ एक विचार की तरह नहीं बल्कि एक सक्रिय आंदोलन की तरह उठाना चाहती थीं- यथार्थ बनाना चाहती थीं.

वह स्त्री और पुरुषों की दैहिक असमानता को सामाजिक असमानता का कारण नहीं बनने देना चाहतीं और वही प्रश्न उठाती हैं जो महादेवी के भी विचार थे: ‘क्यों नारी को हमेशा यह आश्वासन दिया गया हैं कि वे कमज़ोर हैं और उन्हें स्थिर व स्वाभाविक रहने के लिए पुरुषों के मार्गदर्शन पर चलना चाहिए?’

महादेवी भी महिलाओं की शिक्षा को उनके हालात बदलने का सबसे बड़ा शस्त्र मानती हैं, क्योंकि उनकी अज्ञानता ही उन्हें अपनी स्थिति पर विचार करने और अपने अधिकारों की मांग करने से वंचित रखती है. पर साथ ही यह भी बखूबी समझती हैं कि किसी बड़े परिवर्तन को लाने के लिए किसी-किसी को ही बड़े त्याग करने होते हैं, और इसलिए ऐसे लोग अपवाद बन जाते हैं.

ऐसे में वह कुछ एक महिलाओं के सशक्तिकरण की नहीं बल्कि समाज के हर वर्ग की महिलाओं के लिए अपने आस-पास के अपवादों से प्रेरणा ग्रहण करने का आग्रह करती है:

‘संसार के बड़े-से-बड़े, असंभव-से-असंभव परिवर्तन आदि में इने-गिने व्यक्ति ही रहते हैं, शेष असंख्य तो कुछ जानकर और कुछ अनजाने में ही उनके अनुकरणशील बन जाया करते हैं.’

बहरहाल, महादेवी को याद करते हुए खुद उन्हीं की कही गई बात याद आने लगती है कि सच में संसार के बड़े-से-बड़े परिवर्तन में कुछ गिने-चुने व्यक्ति ही तो होते हैं, क्योंकि समाज की भीड़ के साथ उफान खाती नदी के सुरक्षित किनारे पर खड़े होकर तलहटी के मोती नहीं मिलते. कुछ गिने-चुने ही डुबकी लगाने का साहस रखते हैं और महादेवी वर्मा उसी साहस की जीवंत मिसाल थीं.

(अदिति भारद्वाज दिल्ली विश्वविद्यालय में शोधार्थी हैं.)

हिंदी साहित्य को 'पिद्दी फाइटरों' का नहीं जवानों का भरोसा

आलोक धन्वा

किताबों के मेले में बढ़ती युवाओं की भीड़ देखकर अच्छा लगता है. छोटे-बड़े शहरों में जैसे-जैसे किताबों से मोहब्बत की कहानी कम सुनाई देती है, मेले में लोगों और खासकर नौजवानों के उबलते झुंड को देखकर भरोसा होता है कि हिंदी साहित्य ज़िंदा रहेगा. इसे लिखने और पढ़ने वाले कम नहीं बल्कि बढ़ते जाएंगे.

मैं ये मानता हूं कि आज का भारत, नए युवाओं का भारत है. ऐसा भारत जिसमें 65 फीसदी संख्या युवाओं की है. इस भारत को बहुत सकारात्मक तरीके से देखे जाने की कोशिश की जानी चाहिए.

कई लोग ये समझते हैं कि ये किताबें नहीं पढ़ते. कुछ समझते हैं कि ये दिनभर कम्प्यूटर के पास रहते हैं. कुछ ये भी समझते हैं कि इंटरनेट ही इनका घर है. इंटरनेट में ही बस गए हैं ये लोग. मैं इनको इस तरह नहीं देखता. मैं काले और सफेद में इनको नहीं देखता.

मैं मानता हूं कि हमारा जो युवा वर्ग है और उनमें जो शिक्षित वर्ग है उसकी रुचि किताबों को पढ़ने में है. और तमाम पुस्तक मेलों की एक दिलचस्प बात ये है कि ये अलग-अलग तरह के विमर्श का मंच तैयार करते हैं. यहां लगातार बहसें होती हैं. ख़ास बात ये है कि आज की समस्याओं पर बहसें हो रही हैं.

स्तर और मौलिकता का सवाल

बहसों के स्तर को लेकर विभेद हो सकता है. जो स्तर है वो हर जमाने में थोड़ा बढ़ता-घटता है. और यह केवल साहित्य और उससे जुड़ी बहसों के लिए सही नहीं है, यह हर किसी के लिए सही है चाहे वो साहित्य हो या राजनीति.

स्तर के साथ-साथ मौलिकता का भी सवाल है. क्या हिंदी में मौलिक काम हो रहा है. सवाल जायज़ है. ये बात 20वीं सदी में भी उठी थी. क्या चीज है मौलिकता? आधुनिकता से उसका कितना संबंध है? जिसको बिल्कुल ही मौलिक कहा जाता है, उस तरह का तत्व नहीं है अब.

पर क्या पाठक वर्ग छोटा होता जा रहा है...ये सवाल हिंदी के संदर्भ में जायज़ है.

एक बड़ा महान कवि अपनी कविताओं के ज़रिए एक नया पाठक वर्ग तैयार करता है जैसे निराला ने तैयार किया, जो नागार्जुन ने तैयार किया. यशपाल ने किया, अमृत लाल नागर ने किया, फणीश्वरनाथ रेणु ने किया. लेकिन आज जो नए कवि हैं, आज के जो बड़े लेखक हैं, वे उनकी तरह बड़े लेखक नहीं हैं, वे उतने प्रतिभाशाली नहीं है.

घटती गहराई बढ़ती बेचैनी

ऐसे में पाठकों का जो स्तर है वो भी अलग तरह का हो गया है. जो नए लेखक आ रहे हैं वे ज्यादा नहीं पढ़ना चाहते. उनके अंदर बौद्धिक गहराई कम है, लेकिन बौद्धिक गहराई उतनी चिंता की बात नहीं है. वो तो उनकी जीवन यात्रा से बढ़ती जाएगी. सबसे बड़ी चिंता की बात है कि उनकी जिज्ञासा कम हो गई. उनमें और ज्यादा जानने की, समस्या के तह तक जाने की बेचैनी घट गई है.

बेचैनी का कम होना भूमंडलीय स्तर पर हुआ है. इसमें कोई शक नहीं कि अभी का जो युवा है उसमें एक तरह का उपभोक्तावाद आया है. जो बिल्कुल नए लेखक हैं, जो नए कवि हैं, उसमें सिर्फ कवियों की बात नहीं, जो नया वर्ग आया है, कहीं न कहीं उसमें एक उपभोक्तावाद की संस्कृति आई है. बाजारवाद हावी हुआ है.

पर इन सब के बीच क्या हिंदी में क्रांतिकारी और परिवर्तनकारी लेखन हो रहा है. मुझे लगता है हो रहा है.

जब हमारे यहां अज्ञेय लिख रहे थे या जब हमारे यहां निराला लिख रहे थे. हजारी प्रसाद द्विवेदी लिख रहे थे, हजारी प्रसाद जब कबीर को लेकर आए तो उन्होंने एक तरह की क्रांति लाई. कबीर के माध्यम से लोगों को एक नए चिंतन का परिचय मिला, लोगों को एक नई भूमि मिली.

चिंता और पीड़ा का सबब

मेरी चिंता और मेरी पीड़ा का विषय है कि आज विर्मश और साहित्य दुनिया के सरोकार से हटकर निजी हो गया है. मेरी उम्र बढ़ रही है. मैं 60 पार कर गया हूं, जब मैं अपने से बहुत छोटी उम्र के लेखकों को देख रहा हूं तो देखता हूं कि वे आपाधापी कर रहे हैं, तो मुझे पीड़ा पहुंचती है.

एक उथलापन आया है. कहना चाहिए कि एक पिद्दी फ़ाइट है, उसमें कुछ रखा नहीं है, वो कहीं न कहीं व्यक्तिवाद की लड़ाई है या कम जानने की लड़ाई है. अज्ञान की लड़ाई है वो.

दो ज्ञानी जिस तरह से लड़ते हैं उसमें सीखने का मौका मिलता है, जब अज्ञेय और नामवर सिंह एक-दूसरे से असहमत होते थे तो उस असहमति से भी हम शिक्षित होते थे. रामविलास शर्मा और अज्ञेय या फिर राम विलास शर्मा और नामवर सिंह असहमत होते थे तो हमें सीखने का मौका मिलता था.

आज के जो नए कवि असहमत होते हैं तो बहुत ही सतही कारणों से, किसका क्या छप गया. किसकी किताब कितनी ज्यादा बिक सकती है, कौन विदेश जाएगा, किसको कौन सा पुरस्कार मिलेगा, इसका मतलब यह है कि आज के जो नए कवि हैं उनके सामाजिक सरोकारों एवं सामाजिक प्रतिबद्धता में बेहद कमी आई है.

मैं उन पर ये आरोप नहीं लगा रहा हूं, मैं ये मानता हूं कि सामाजिक सरोकार की समझ कम होती जा रही है.

फिर भी मुझे लगता है कि मुझे भरोसा है. उम्मीद है, भारत के युवा लेखकों से, यहां पनप रहे बाज़ारवाद से भी और किताबों के बढ़े मेले से भी. मैं भारत और इसकी संस्कृति को जानता हूं इसीलिए निराश नहीं हूं.

****

राजस्थान के हिंदू बहुल गांव में उर्दू सीखने का जुनून

उर्दू ही क्यों पढ़ना चाहते हैं

सीदड़ा गांव में लगभग 95 फीसदी आबादी अनुसूचित जनजाति (एसटी) वर्ग से है. अनुसूचित जनजाति के लिए भर्तियों में आरक्षण के मुताबिक़ भर्ती की संख्या आरक्षित रहती है.

शुरुआत में जब 1997-98 में गांव के बच्चों ने उर्दू पढ़ने की शुरूआत की. और कुछ साल बाद उर्दू की भर्ती आने पर सरकारी शिक्षक बन गए, तब से ही ग्रामीणों में उर्दू के प्रति रुझान बढ़ने लगा. शिक्षक भर्ती में अनुसूचित जनजाति के लिए उर्दू भाषा के पद आरक्षित होते हैं. एसे में इस वर्ग से उर्दू की सीटों पर अभ्यर्थी नहीं होने से यह खाली रह जाती थीं.

लेकिन, अब उर्दू के ज़रिए सरकारी नौकरी सहजता से प्राप्त करने के प्रति जागरुक हुए युवाओं ने उर्दू में अपना और अपनों का भविष्य तलाश लिया है. उर्दू के शिक्षक गंगाधर मीणा कहते हैं, "उर्दू पढ़ कर एमडीएस यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर हैं, बहुत से स्कूल के शिक्षक हैं. इनसे प्रेरित हो कर युवा और बच्चे उर्दू पढ़ने लगे हैं."

उर्दू पढ़ रहे बच्चों से जब हमने बात की तो अधिकतकर के परिवारों में उर्दू से पढ़े हुए बड़े मौजूद है. कुछ शिक्षक हैं या शिक्षक पद पर भर्ती का इंतज़ार कर रहे हैं.

1997-98 से शुरू हुआ सफ़र

साल 2013-14 तक सीदड़ा के स्कूल में आठवीं कक्षा तक ही पढ़ाई हुआ करती थी. उस दौरान यहां उर्दू विषय से कोई परिचित ही नहीं था.

आठवीं से आगे की पढ़ाई के लिए गांव से बच्चे निवाई जाते थे. गांव के कुछ बच्चों ने निवाई स्कूल से उर्दू की पढ़ाई वैकल्पिक विषय के रूप में शुरू की. यहीं से भविष्य में उर्दू से पहचाने जाने वाले सीदड़ा में उर्दू की शुरूआत हुई.

सीदड़ा के निवासी और पंचायत समिति सदस्य राम किशोर हमें कहते हैं, "साल 1997-98 में आठवीं के बाद आगे की पढ़ाई के लिए निवाई जाते थे. कुछ हमारे साथियों ने वहां उर्दू की पढ़ाई शुरू की. फिर बीएड़ और उसके कुछ साल बाद ही सरकारी शिक्षक बन गए."

वह कहते हैं, "जैसे ही एक के बाद एक उर्दू से सरकारी नौकरी लगने लगे तो फिर बच्चों और ग्रामीणों का रुझान उर्दू की ओर गया. आज बच्चे उर्दू को बेहद प्यार से सीखते, पढ़ते हैं."

उस दौरान गिने चुने सरकारी कर्मचारी थे. लेकिन, जैसे ही उर्दू से शिक्षक पद पर चयन हुआ, तो ग्राम के बच्चों में उर्दू पढ़ने के लिए रुझान शुरू हुए.

****

हिन्दी दिवस: जानिए हिन्दी क्यों नहीं है राष्ट्रभाषा

एचएमटी यानी 'हिंदी मीडियम टाइप'

प्राइवेट स्कूलों से आए बच्चों के भीतर श्रेष्ठता का भाव जगता था और वे सरकारी स्कूल वालों की एचएमटी कह कर खिल्ली उड़ाया करते थे.

एचएमटी मतलब 'हिन्दी मीडियम टाइप'. हालांकि यह बात आज से कोई 42-45 साल पुरानी है. हिंदी माध्यम से पढ़कर आने वाले के लिए मज़ाक़ में बनाया गया यह सम्बोधन रामनगर में आज भी चलता है.

रामनगर से अपनी शुरुआती पढ़ाई तथाकथित अंग्रेज़ी माध्यम में पूरी करने और थोड़ा समय वहीं के इंटर कॉलेज में बिताने के बाद जब मुझे नैनीताल के एक बोर्डिंग स्कूल में भेजा गया. वहाँ पहले से पढ़ रहे बच्चों के पास मेरे लिए 'एचएमटी' जैसा ही एक दूसरा संबोधन था- वरनैक्युलर.

भाषाई व्यवहार में पाई जाने वाली इस वर्ण-व्यवस्था से मेरा साक्षात्कार जब हुआ था, उस समय देश को स्वतंत्र हुए कोई 30 बरस बीत चुके थे.

स्वतंत्रता हासिल करने के दो साल बाद भारतीय संविधान में हिंदी को देश की राजभाषा के तौर पर अंगीकार कर लिया गया था तब भी हिन्दी में पढ़ना-लिखना-बोलना अंग्रेज़ी के मुक़ाबले दोयम दर्जे की चीज़ था. कमोबेश यही हालात आज भी बने हुए हैं.

इस बात की कल्पना ही की जा सकती है कि भारत जैसे बड़े और विविधतापूर्ण देश के लिए ऐसा संविधान बनाना कितनी बड़ी चुनौती रही होगी जो सभी को स्वीकार्य हो. भाषा के मामले में तो यह विविधता और भी जटिल रही होगी क्योंकि यहाँ कोस-कोस पर बदले पानी और चार कोस पर बानी वाली बात मुहावरे की नहीं ठोस वास्तविकता की थी.

इमेज स्रोत,GETTY IMAGES

राष्ट्रभाषा नहीं राजभाषा

बाबा साहब आम्बेडकर की अध्यक्षता वाली समिति में भाषा संबंधी क़ानून बनाने का ज़िम्मा नितांत अलग-अलग भाषाई पृष्ठभूमियों से आए दो विद्वानों को शामिल किया गया था.

एक थे बंबई की सरकार में गृह मंत्री रह चुके कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी जबकि दूसरे तमिलभाषी नरसिम्हा गोपालस्वामी आयंगर इन्डियन सिविल सर्विस में अफ़सर होने के अलावा 1937 से 1943 के दरम्यान जम्मू-कश्मीर के प्रधानमंत्री भी थे.

इनकी अगुआई में भारत की राष्ट्रभाषा को तय किए जाने के मुद्दे पर हिन्दी के पक्ष और विपक्ष में तीन साल तक गहन वाद-विवाद चला.

अंततः मुंशी-आयंगर फ़ॉर्मूला कहे जाने वाले एक समझौते पर मुहर लगी और 14 सितंबर 1949 को भारतीय संविधान के अनुच्छेद 343 से अनुच्छेद 351 के रूप में जो क़ानून बना उसमें हिन्दी को राष्ट्रभाषा नहीं राजभाषा का दर्जा दिया गया. तभी से 14 सितंबर को हिन्दी दिवस मनाये जाने की शुरुआत भी हुई.

अनुच्छेद 343 अपनी शुरुआत में कहता है - "संघ की राजभाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी होगी", उसके आगे और बाद के आठ अनुच्छेदों में बताया गया था हालांकि हिन्दी भारत की राजभाषा होगी, सभी आधिकारिक कार्यों का निष्पादन अंग्रेज़ी में किया जाता रहेगा.

यह व्यवस्था 15 सालों के लिए बनाई गई थी जिसके दौरान यह प्रयास लिए जाने थे कि देश भर में धीरे-धीरे हिंदी को सरकारी कामकाज़ की भाषा बनाए जाने का चरणबद्ध कार्य किया जाएगा. इस अंतरिम समय के बीतने के बाद क्या होगा, उस बारे में कुछ नहीं कहा गया.

इस विषय की जांच करने के लिए भविष्य में एक संसदीय समिति बनाए जाने का फ़ैसला किया गया. इसके अलावा संविधान में 14 अन्य भाषाओं को मान्यता दी गई. पंद्रह सालों के बीत जाने पर भी केन्द्र सरकार के कामकाज़ में हिंदी का काफ़ी कम प्रसार हो सका था.

इमेज स्रोत,HADYNYAH

अंग्रेज़ी ही सरकारी कामकाज़ की भाषा क्यों बनी रही?

1960 के दशक में ग़ैर-हिन्दी भाषी राज्यों में हुई कई हिंसक झड़पों के बाद देश की संसद ने एक राष्ट्रभाषा के विचार को त्याग देना ही उचित समझा.

अंतरिम 15 वर्ष बीत जाने पर संविधान में हिन्दी की स्थिति को लेकर नए प्रावधान जोड़े तो गए लेकिन वास्तविकता में अंग्रेज़ी ही सरकारी कामकाज़ की भाषा बनी रही.

देश की भाषाई विविधता को ध्यान में रखते हुए संविधान में क्षेत्रीय भाषाओं के विकास और संवर्धन के लिए अलग से एक खुली अनुसूची बनाई गई. इसमें 14 भाषाएं शामिल थीं. धीरे-धीरे यह संख्या 22 हो गई.

अभी की स्थिति यह है कि इस सूची में शामिल होने के लिए 38 और भाषाओं की मांग सरकार के सम्मुख विचाराधीन है.

देखा जाए तो हमारे देश में भाषा का मसला ख़ासा पेचीदा रहा है लेकिन तथ्य यह है कि हिन्दी देश में सबसे अधिक बोली और समझी जाने वाली भाषा है. पिछली जनगणना के आंकड़े बताते हैं कि भारत के 43.63 प्रतिशत लोग हिंदी बोलते हैं.

हमारे संविधान निर्माता इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि भाषा की औपनिवेशिक दासता से बाहर आने के लिए बहुत मेहनत करनी होगी इसलिए राजभाषा क़ानून के आख़िरी अनुच्छेद में उन्होंने सरकार के कर्तव्य निर्धारित करते हुए लिखा- "संघ का यह कर्तव्य होगा कि वह

हिन्दी भाषा का प्रसार बढ़ाए, उसका विकास करे जिससे वह भारत की सामासिक संस्कृति के सभी तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके."

आगे यह भी बताया गया है कि किस तरह हिंदी का शब्द भंडार समृद्ध किया जाना चाहिए.

तमाम सरकारी योजनाओं और मंसूबों की तरह इस मामले का क्या हश्र हुआ इस पर लंबे तर्क-वितर्क किए जा सकते हैं लेकिन सच यही है कि इतने वर्षों बाद भी हिन्दी एक ऐसी भाषा नहीं बन सकी है जो देश के बड़े हिस्से को स्वीकार्य हो और अंतरराष्ट्रीय मानकों पर भी खरी उतर सके.

इमेज स्रोत,UMESH NEGI

रोज़गार का रास्ता हिन्दी से नहीं गुज़रता

हमने एक ऐसा हिंदी भाषी समाज रच डाला है, जिसे सार्वजनिक स्थानों पर लिखी गई ग़लत भाषा को उसकी त्रुटिपूर्ण वर्तनी और व्याकरण के साथ बर्दाश्त करने में कोई तकलीफ़ नहीं होती.

इस हिंदी को मशहूर कवि-संपादक रघुवीर सहाय एक ऐसे आदमी की बहुत बोलने वाली, बहुत खाने वाली और बहुत सोने वाली नई पत्नी बताते थे जिसने पहली के मरने पर दूसरा ब्याह किया हो.

अब भी इंटर के बाद की साइंस की पढ़ाई के लिए हिंदी में पाठ्यपुस्तकें उपलब्ध नहीं हैं. उच्चतर अध्ययन और शोध जैसे क्षेत्रों को तो छोड़ ही दीजिये. प्रबंधन, इंजीनियरिंग और चिकित्सा जैसे महत्वपूर्ण विषयों की पढ़ाई आज भी अंग्रेज़ी में होती है. सूचना क्रांति के इस दौर में कम्प्यूटर विज्ञान की कोई मानक हिंदी शब्दावली अब तक नहीं बनी है. अच्छे रोज़गार हासिल करने के अधिकतर रास्ते आज भी अंग्रेज़ी से होकर गुज़रते हैं.

आज़ादी से पहले हिंदुस्तानी हमारे यहाँ आम बोलचाल की भाषा थी जिसमें संस्कृत और उर्दू के शब्दों की ख़ूबसूरत आवाजाही रहती थी.

स्वतंत्र होने के 75 वर्षों के बाद बोलचाल की जिस भाषा को देश भर में अघोषित मान्यता मिल चुकी है, उसमें हिन्दी और अंग्रेज़ी का एक ऐसा स्तरहीन घालमेल पाया जाता है, जिसे देख कर हमारे संविधान निर्माता तो हरगिज़ ख़ुश न होते.

'बाज़ार की मांग और हिन्दी की ज़रूरत

यह नहीं भूलना चाहिए कि भाषा के प्रसार का काम उसे बरतने वाली जनता के हाथों संपन्न होता है. इस लिहाज़ से देखें तो हिन्दी ने व्यापक जनमानस में अपनी पैठ बनाई है. उसके इस व्यापक स्वरूप के दर्शन कला, संस्कृति, फ़िल्म, टेलीविज़न और संचार के तमाम इलाक़ों में उसकी बढ़ती धमक में किए जा सकते हैं.

हर हाथ में मोबाइल आ जाने के बाद वह किस-किस रूप में कहाँ-कहाँ तक पहुँच सकती है, इसका पूरा अनुमान नहीं लगाया जा सकता. हिंदी की इस ताक़त को बाज़ार भी समझता है और वह उसे अपनी ज़रूरतों के हिसाब से इस्तेमाल करने लगा है.

इसी में सबसे बड़ा पेंच है. हिन्दी समझने वालों को फ़क़त एक संख्या की तरह देखने वाले बाज़ार ने जिस तरह की हिन्दी को बड़े पैमाने पर दृश्य-श्रव्य माध्यमों में परोसना शुरू किया है, वह हमारी भाषा का प्रतिनिधि स्वरूप नहीं है. गाली-गलौज और हिंदी-अंग्रेज़ी के सस्ते मिश्रण से बनी यह भाषा भारत की उस 'सामासिक संस्कृति' का प्रतिबिम्ब तो हरगिज़ नहीं जिसका ज़िक्र संविधान में किया गया था.

किसी भी भाषा की समृद्धि का काम उसके साहित्यकारों और विद्वानों का होता है. दुर्भाग्यवश हमारे देश का यह वर्ग बड़े पैमाने पर गुटबाज़ी और आपसी मतभेदों का शिकार रहा है, जिससे हिन्दी का बड़ा नुक़सान हुआ है.

इस वर्ग का उद्देश्य भाषा को विकसित करना कभी नहीं रहा. उसकी दिलचस्पी महज़ अपने लिखे को प्रकाशित कराने भर में थी. इस स्थिति का लाभ प्रकाशकों ने जम कर उठाया और साहित्य को सरकारी ख़रीद तक सीमित कर डाला.

हिन्दी में अनुवाद क्रांति क्यों नहीं?

हैरानी की बात है कि 40-50 करोड़ लोगों द्वारा बोली जाने वाली भाषा में लिखे जाने वाले साहित्य की किताबों के पाँच-छः सौ प्रतियों के संस्करण छापे जाते रहे हैं. नतीजतन आम जन तक स्तरीय हिन्दी की पहुँच कम होती गई और उसका स्थान फ़िल्मों और लुगदी साहित्य जैसी चीज़ों के लिए खुला छूट गया.

ऐसी परिस्थितियों में बच्चों के साहित्य के लिए कैसे जगह बनती? इक्का-दुक्का पत्रिकाओं को छोड़ दिया जाए तो हमारी भाषा में न बच्चों के लिए अच्छी किताबें हैं न कॉमिक्स. ज़्यादातर कॉमिक्स और किताबें पश्चिमी स्रोतों से उठाई गई चीज़ों की नक़ल होते हैं या अनुवाद.

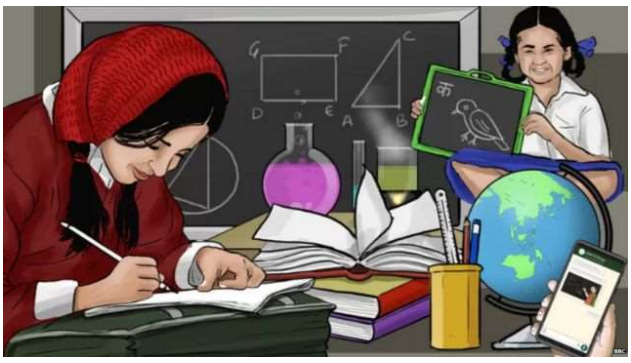

भाषा की समृद्धि और विकास के लिए अनुवाद हमेशा एक बड़ा माध्यम रहा है लेकिन हमारे यहाँ उसकी भी कोई परंपरा न बन सकी.

विशेष रूप से चीन और रूस के शासकों ने इस बात को पहचाना और उनकी अगुआई में वहाँ अनुवाद क्रांतियाँ हुईं जिनके फलस्वरूप दुनिया भर के साहित्य का उनकी भाषाओं में अनुवाद करवा कर उसे आम जनता को बहुत सस्ते दामों पर मुहैया कराया गया.

औपनिवेशिक दासता से बाहर निकले हमारे शासकवर्ग की यह ज़िम्मेदारी बनती थी कि वह भी ऐसी ही किसी क्रांति का सूत्रपात करते और विश्व-साहित्य को हिंदी में उपलब्ध करवाते ताकि जनता भाषाई औपनिवेशिकता से भी बाहर निकल सके.

दुर्भाग्यवश ऐसा नहीं हुआ और अनुवादों के मामले में हिन्दी अपने ही देश की कई अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के मुक़ाबले काफ़ी दरिद्र रह गई है.

बांग्ला, मराठी और मलयालम जैसी भाषाओं में स्थिति यह है कि किसी भी लेखक को साहित्य का नोबेल मिलने के महीने भर के भीतर उसकी अधिकतर किताबें उनके अनुवादों में उपलब्ध हो जाती हैं. वैश्विक साहित्य का हिंदी में उपलब्ध न होना एक बड़ा कारण है कि हिन्दी में लिखने वाले अधिकतर लोगों के पास समकालीनता की दृष्टि ही नहीं है.

साहित्यिक और अकादमिक अनुवाद को न किसी तरह का राजकीय संरक्षण हासिल है न उसकी किसी को आवश्यकता महसूस होती है.

प्रकाशक जो अनुवाद करवाते हैं उसके पीछे उनकी मंशा विशुद्ध रूप से व्यावसायिक होती है. उसके एवज़ में दिया जाने वाला पारिश्रमिक हास्यापद रूप से कम होता है. इस कारण अनुवाद की गुणवत्ता प्रभावित होती है और पाठक का नुक़सान होता है.

हिन्दी की ज़रूरत किसे है?

लंबे समय से महसूस की जा रही मानक हिन्दी की ज़रूरत को कोई भी सरकारी हिन्दी शब्दकोष पूरा नहीं कर सकता. उसके लिए हिंदी को और स्वच्छंद होकर दूसरी भाषाओं में आवाजाही करने की आवश्यकता है जैसा कि अंग्रेज़ी कई शताब्दियों से कर रही है.

दुनिया की कोई ऐसी बोली-भाषा नहीं, अंग्रेज़ी शब्दकोष ने जिस से शब्द न लिए हों. उसके पास पूर्वी अफ़्रीका की स्वाहिली के भी शब्द हैं और तमिल के भी. अंग्रेज़ी के शब्दकोष में हर साल औसतन 1000 नए शब्द जोड़े जाते हैं.

यूरोपियन यूनियन में कुल 27 सदस्य देश हैं जिनमें 22 भाषाएं बोली जाती हैं. इंग्लैंड इस संघ का सदस्य नहीं है लेकिन उसकी भाषा अंग्रेज़ी यूरोपियन यूनियन की आधिकारिक भाषा है. एक बड़ी भाषा का ऐसा प्रभाव होता है.

दुनिया भर के विदेशी विश्वविद्यालयों में वर्षों से हिन्दी विभाग खुले हुए हैं लेकिन सच्चाई यह है कि इन विभागों में पढ़ने वाले छात्रों की संख्या नगण्य होती है. तीन-चार साल तक हिंदी पढ़-सीख लेने के बाद इन छात्रों में से

किसी ने हिन्दी के विकास के लिए कोई बड़ा काम किया हो, सुनने में नहीं आता. अधिकतर छात्र इस नीयत से हिन्दी में प्रवेश लेते हैं कि उससे उन्हें रोज़गार हासिल होगा.

इस सन्दर्भ में कोरिया के सियोल विश्वविद्यालय का उदाहरण देना अप्रासंगिक न होगा. 1991 में आये वैश्विक उदारवाद के दौर में जब भारत और कोरिया के बीच व्यापार में बढ़ोत्तरी हुई तो सियोल में हिंदी पढ़ने वालों की संख्या बढ़ने लगी. उन्हें लगता था कि सैमसंग जैसी कोरिया की बड़ी कम्पनियां उन्हें भारत में नौकरी पर रखेंगी क्योंकि उन्हें स्थानीय भाषा की जानकारी होगी. इन कंपनियों ने शुरू में ऐसा किया भी लेकिन जल्दी ही उन्हें यह बात समझ में आ गई कि भारत में उनका मतलब जिस तरह के लोगों से पड़ता था वे सब अंग्रेज़ी जानते, बोलते और लिखते थे. इन कंपनियों को भारत में अपना माल बेचने के लिए हिन्दी की कोई ज़रूरत नहीं थी. कुछ ही महीनों में हिन्दी के ये छात्र नौकरियों से हाथ धो बैठे.

ऐसा नहीं कि विदेशियों ने हिन्दी के लिए कुछ नहीं किया. फ़ादर कामिल बुल्के, एस. डब्लू. फैलन और लोथार लुत्ज़े जैसे मनीषियों का वर्षों की साधना से किया गया उल्लेखनीय कार्य इस बात का प्रमाण है.

इमेज सोत:TUMSASEDGARS

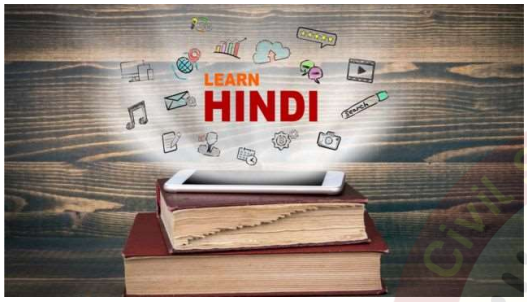

हर दिन हो हिंदी दिवस

वर्तमान समय में जब संचार और कंप्यूटर के क्षेत्रों में हर दिन नए प्रयोग हो रहे हैं और नई शब्दावलियां बन रही हैं. हिन्दी पर और अधिक काम किए जाने की आवश्यकता है. कम्प्यूटर शब्दावली तो छोड़िये, अभी हिन्दी का मानक कीबोर्ड भी नहीं बना है.

हिन्दी में अनेक तरह के फ़ॉन्ट उपलब्ध हैं लेकिन एक से दूसरे में बदलते समय उनमें बहुत गड्डमड्ड हो जाती है. हाल के वर्षों में यूनीकोड फ़ॉन्ट्स पर काफ़ी काम हुआ है लेकिन सरकारी कामकाज़ और प्रकाशन व्यवसाय उनका इस्तेमाल करने में हिचकता दिखाई देता है.

हिन्दी को यूनीकोड में लिखने की सुविधा के चलते एक बड़ा काम यह हुआ कि पिछले आठ-दस सालों में हिन्दी ने इंटरनेट पर अपनी धाकड़ उपस्थिति दर्ज कराई है. युवाओं के बहुत सारे समर्पित संगठन हैं जो इंटरनेट पर लगातार हिन्दी कॉन्टेंट अपलोड कर रहे हैं जिसके कारण अंग्रेज़ी विकीपीडिया के समानांतर हिन्दी विकीपीडिया तैयार हो रहा है.

ट्विटर, फ़ेसबुक, यूट्यूब और व्हाट्सएप जैसे सोशल मीडिया प्लेटफ़ॉर्म्स पर युवाओं में हिन्दी में लिखने, बोलने, सुनने और सुनाने की होड़ लगी हुई है. ध्यान रहे यह वही युवा वर्ग है कुछ समय पहले तक 'एचएमटी' कह कर जिसका मज़ाक़ बनाया जाता था.

यह हिंदी का सबसे महत्वपूर्ण संक्रमण काल है जिसमें उसके व्याकरण और भाषिक मूल्यों को तकनीक और विज्ञान की सान पर लगातार परखा और तराशा जा रहा है. इस काम में भी युवाओं ने बागडोर संभाली हुई है.

वे जानते हैं कि आज का संसार यथार्थ और व्यवहार की बुनियाद पर टिका हुआ है और यह भी कि समकालीन संसार के बरअक्स भारत के विकास का सम्बन्ध सीधा-सीधा हिंदी भाषा के विकास से जुड़ा है.

वे यह भी जानते हैं कि उनकी भाषा की उन्नति का प्रश्न सीधे-सीधे आर्थिक-सांस्कृतिक मुद्दों से जुड़ा हुआ है. उन्हें इस बात का इल्म है कि केवल सरकारी प्रचार और नारों से इसे हल नहीं किया जा सकता.

इसके लिए 14 सितम्बर को ही नहीं साल के हर दिन को हिंदी दिवस के रूप में मनाये जाने की दरकार है.

*****

#हिंदी दिवस: पचास साल बाद बना हिंदी का नया साहित्य ज्ञानकोश

बीते पचास वर्षों में कोई हिंदी साहित्य ज्ञानकोश नहीं बना था. इससे हिंदी जगत में एक तरह का बौद्धिक पिछड़ापन नज़र आने लगा था.

इस पिछड़ेपन को दूर करने और समाज के हाशिए पर पहुंचे साहित्य को मुख्यधारा में लाने के लिए कोलकाता स्थित भारतीय भाषा परिषद और वाणी प्रकाशन के साझा प्रयास और सैकड़ों लेखकों की बरसों की मेहनत का नतीजा, सात खंडो में एक वृहद हिंदी साहित्य ज्ञानकोश के तौर पर सामने आया है.

वर्ष 2014 से 2017 के बीच तैयार हुए इस ज्ञानकोश में साहित्य और उसके इतर विभिन्न विषयों पर 275 लेखकों के छब्बीस सौ से ज्यादा लेख शामिल हैं.

हाल में इसकी पहली प्रति दिल्ली में राष्ट्रपति रामनाथ कोविंद को सौंपी गई. इस ज्ञानकोश के प्रकाशन के मौके पर कोलकाता में आयोजित एक समारोह में देश भर से जुटे विद्वानों ने भी इस पहल को 'ऐतिहासिक और हिंदी के लिए गौरव का पल' बताया.

साहित्य के विकास में होगी भूमिका

भारतीय भाषा परिषद के निदेशक और ज्ञानकोश के प्रधान संपादक डॉ. शंभुनाथ कहते हैं, "हिंदी साहित्य के विकास में इसकी अहम भूमिका होगी. साहित्य का संबंध विभिन्न विधाओं से है. लेकिन ऐसा कोई ग्रंथ नहीं था जो साहित्य के व्यापक परिप्रेक्ष्य को विविधता में पाठकों के सामने खोल कर रख सके."

आखिर इस बड़े पैमाने पर किसी ज्ञानकोश को तैयार करने का विचार कैसे आया? डॉ. शंभुनाथ बताते हैं कि हिंदी साहित्य का ज्ञानकोश बने लगभग 50 साल हो गए थे. एक नए ज्ञानकोश की जरूरत लंबे समय तक महसूस की जा रही थी. लग रहा था कि हिंदी संसार में अगर बौद्धिक पिछड़ापन बहुत ज्यादा है तो इसकी एक प्रमुख वजह सामयिक ज्ञानकोश का अभाव है. वह बताते हैं कि हिंदी शिक्षा जगत और हिंदी प्रेमियों को ध्यान में रखते हुए इस ज्ञानकोश की रचना का विचार पैदा हुआ था.

शंभुनाथ कहते हैं, "बीते 50 बरसों से एक अपडेटेड ज्ञानकोश की कमी से हिंदी जगत में एक खाई पैदा हो गई थी. यह ज्ञानकोश बीती आधी सदी की उस खाई को पाटने में अहम भूमिका निभाएगा. इसे हिंदी का पहला विश्वकोश भी कहा जा सकता है. यह हिंदी की दुनिया को समृद्ध करेगा."

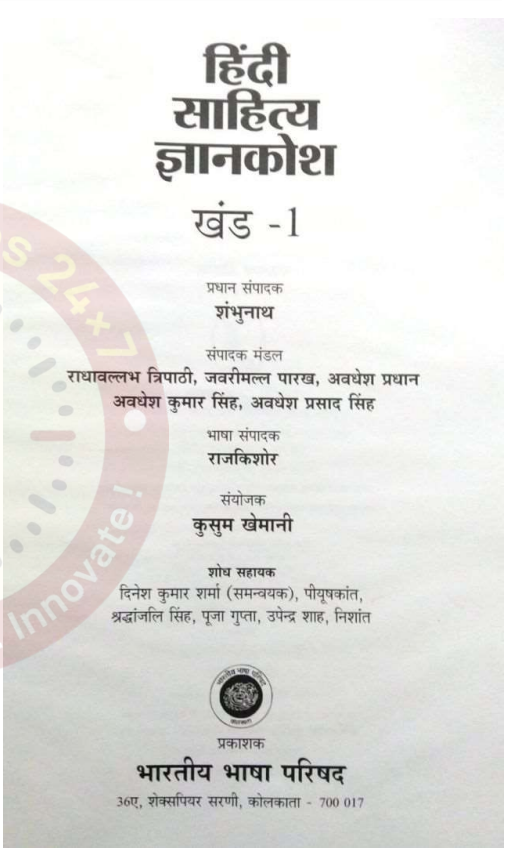

ज्ञानकोश में 32 विषयों पर 2660 रचनाएं

हिंदी साहित्य ज्ञानकोश के प्रधान संपादक डॉ. शंभुनाथ हैं. इसके संपादक मंडल में राधावल्लभ त्रिपाठी, जवरीमल्ल पारख, अवधेश प्रधान, अवधेश कुमार सिंह और अवधेश प्रसाद सिंह शामिल हैं. ज्ञानकोश की भाषा का संपादन वरिष्ठ लेखक राजकिशोर ने किया है जबकि संयोजन की जिम्मेदारी भारतीय भाषा परिषद की अध्यक्ष डॉ. कुसुम खेमानी ने निभाई है.

शंभुनाथ बताते हैं कि यह ज्ञानकोश सिर्फ साहित्य तक ही सीमित नहीं है. इसमें पर्यावरण, धर्म, भारतीय संस्कृति, मानवाधिकार, मीडिया कला, इतिहास और समाज विज्ञान समेत 32 विषयों पर 2,660 रचनाएं शामिल की गई हैं.

मानक व्याकरण की भी जरूरत

इसके प्रकाशन के अवसर पर आयोजित गोष्ठी ज्ञानकोश समारोह में देश भर से जुटे विद्वानों ने भी इस पहल की सराहना की. उनका कहना था कि कोई भी ज्ञानकोश ऐसे ज्ञान का द्वार खोलता है जो पाठकों में जिज्ञासा, खुलापन और रचनात्मकता पैदा करे. हिंदी साहित्य ज्ञानकोश इस परंपरा और साहित्य को और समृद्ध करेगा.

बनारस हिंदू विश्वविद्यालय (बीएचयू) के वरिष्ठ प्रोफेसर डॉ. अवधेश प्रधान ने कहा, "इस कोष का निर्माण नए समय की चुनौतियों के संदर्भ में हुआ है. यह हिंदी शिक्षा जगत के एक बड़े अभाव को पूरा करेगा. इसकी भाषा भी सरल है."

वे इसे हिंदी की महान परंपरा की ही एक विकसित कड़ी बताते हैं. संपादक मंडल के सदस्य डॉ. अवधेश प्रसाद सिंह ने कहा कि इस ज्ञानकोश की तरह ही एक मानक हिंदी व्याकरण की भी ज़रूरत है. इग्नू से जुड़े प्रो. जवरीमल्ल पारख ने कहा, "आज साहित्य के अध्ययन के लिए ज्ञान के व्यापक क्षेत्रों का अध्ययन भी ज़रूरी है. यह ज्ञानकोश इसी कमी को पूरा करता है."

'देश की संस्कृति बचाने की कोशिश'

प्रधान संपादक डॉ. शंभुनाथ ने कहा कि यह महज कुछ व्यक्तियों का निर्माण नहीं, बल्कि भारतीय संस्कृति और हिंदीभाषी समाज की रचनात्मक शक्ति की अभिव्यक्ति है. उन्होंने कहा, "हमने एक ऐसे ज्ञानकोश की नींव डाली है जिस पर आने वाली पीढ़ियाँ इमारत ऊंची करती जाएंगी."

ज्ञानकोश समारोह की अध्यक्षता संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान और राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान के पूर्व कुलपति डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी ने की.

उन्होंने कहा कि यह ज्ञानकोश हिंदी की एक ऐसी उपलब्धि है जो दशकों तक हिंदी पाठकों को आलोकित करेगी. उन्होंने कहा, "भारतीय बहुलता में अखंडता की एक दीर्घ परंपरा है जो इस ज्ञानकोश में भी प्रतिबिंबित होती है. यह देश की संस्कृति को बचाने की ही एक कोशिश है."

भारतीय भाषा परिषद की अध्यक्ष डॉ. कुसुम खेमानी ने कहा, "हम इस ज्ञानकोश का प्रकाशन करके गौरवान्वित महसूस करते हैं. यह हम सब की एक सामूहिक उपलब्धि है."

डॉ. शंभुनाथ कहते हैं, "यह ज्ञानकोश साहित्यिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अध्ययन की स्थापित चारदीवारियों को तोड़ता है और पाठक को जीवंत बनाए रखता है. अतीत और पश्चिम से आच्छादित हुए बिना आलोचनात्मक समावेशिकता ही हिंदी साहित्य ज्ञानकोश के निर्माण की बुनियादी दृष्टि रही है."

इमेज स्रोत,PRABHAKAR M

कोलकाता में जुटे विद्वानों ने कहा कि हिंदी साहित्य ज्ञानकोश साहित्य के विद्यार्थियों के लिए ही नहीं, उन सभी पाठकों और जिज्ञासुओं के लिए भी एक धरोहर है जो अपने देश, समाज, संस्कृतियों और विश्व की सभ्यताओं को समझना चाहते हैं.

बीते 50 बरसों में नई दुनिया में ज्ञान के जो विस्फोट हुए हैं, उनकी रोशनी में भारतीय भाषाओं में हिंदी में बना यह पहला ज्ञानकोश है.

डॉ. शंभुनाथ बताते हैं, "ज्ञानकोश सामान्य शब्दकोश से इस अर्थ में अलग है कि इसमें शब्द के अर्थ और पर्याय भर नहीं होते. इसमें सीमित सूचनाओं की जगह शब्द, बीजशब्द या विविध विषयों की अवधारणात्मक विवेचना होती है. चित्र, नक्शे, आंकड़े, ग्रंथ सूची वगैरह उसे शब्दकोश से भिन्न बनाते हैं."

****

भाषाओं की उलझन सियासत ने पैदा की है वो क्या सुलझाएगी?

किसी दूसरी भाषा को तरजीह मिलने की आशंका भर से जन-मन अशांत होने लगता है. बोली इतनी महत्वपूर्ण है कि दुनिया भर में बोल-व्यवहार के आधार पर इलाकों की सीमाएँ तय होती हैं, प्रांतों, प्रदेशों के नाम तय होते हैं.

भाषा के सवाल पर ही पाकिस्तान ने बांग्लादेश को गंवा दिया.

कहावत है कि भाषा बहता नीर. यह दिलचस्प है कि भौगोलिक सीमांकन का आधार भी प्रकृति की यही दोनों धाराएं करती हैं, यानी भाषा और नदी. भारत में देखें तो आज़ादी के बाद रियासतों का समन्वय हुआ. उसके उपरान्त 1956 में जब राज्यों का पुनर्गठन हुआ तब देश का वह स्वरूप उभर कर सामने आया जिसमें भाषायी आधार पर राज्य बने.

तमिल, तेलुगू, कन्नड़, मलयालम, मराठी, गुजराती से लेकर हिन्दी भाषी राज्यों में भी यह बात नज़र आती है. मसलन, राजस्थान वह प्रदेश है जहाँ की अस्मिता हिंदी से न जुड़कर राजस्थानी से जुड़ती है.

भाषा का सांस्कृतिक-पौराणिक आधार

इसी तरह, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार जैसे राज्यों में भी राजस्थानी की तरह ही अनेक भाषाएँ बोली जाती रही हैं. मगर सदियों से समूचे देश को हिन्दुश, हिन्दवी की जो धारा जोड़ती आई, उस सम्पर्क भाषा हिन्दी का इलाका मानते हुए इस समूचे इलाके को इन प्रांतों में तब्दील कर दिया गया.

बाद में पंजाब का एक और विभाजन हुआ और उसके हिन्दी भाषी क्षेत्र को हिमाचल प्रदेश के नाम से अलग राज्य का दर्जा मिला. इन तमाम हिन्दीभाषी नए राज्यों में भी अलग-अलग अंचलों की भाषाओं वाले इलाके थे. मिसाल के तौर पर अवध, भोजपुर, मिथिला, मालवा, छत्तीसगढ़, कोशल, महाकोशल, बुंदेलखण्ड, रुहेलखण्ड, जौनसार-बावर, कुमाऊँ, गढ़वाल आदि.

इन सब इलाकों के नामकरण का कुछ न कुछ सांस्कृतिक-पौराणिक आधार ज़रूर रहा है जैसे अवध से अवध्य की बात आती है. मालवा से मल्लों का रिश्ता रहा है. कूर्मांचल से कुमाऊँ बना, भोजपुर के साथ भोज संज्ञा जुड़ती है. मगर आज ये नामकरण सीधे-सीधे भाषा से जुड़ते हैं यानी अवधी बोलने वालों से अवध है या मालवी बोलने वालों से मालवा है.

द्रविड़ भाषी क्षेत्रों में हिन्दी विरोध का मूल आधार आर्य आक्रमण का सिद्धान्त है. भारत में वैसे भी यूरोपीयों का आगमन दक्षिण-पश्चिमी भारत में पहले हुआ उसके बाद यूरोपीय बंगाल पहुँचे. द्रविड़ राजनीति को सदा ही इस विचार से प्रेरणा मिलती रही कि दुष्ट आर्यों ने (जिनकी भाषा वैदिकी, संस्कृत थी, हिन्दी जिसकी वंशबेल है) द्रविड़ों को पराजित कर दक्षिण में धकेल दिया था.

आज़ादी के बाद दक्षिण में हिन्दी का विरोध दरअसल उसी आर्य संस्कृति का प्रतीकात्मक विरोध था, जिसका जिसका आधार आर्य आक्रमण सिद्धान्त था. जातीय गौरव अथवा जातीय अपमान की काल्पनिक कहानियाँ समाज में अशान्ति फैलाने के काम आती हैं. हिन्दी विरोध के मूल में द्रविड़ राजनीति में निहित स्वार्थ के लिए आर्य आक्रमण सिद्धान्त को द्रविड़ों के साथ हुई ज्यादती के तौर पर प्रचारित किया जाता रहा है.

'हिन्दी ना ना, अंग्रेजी हाँ हाँ'

त्रिभाषा फार्मूले के दूसरे सूत्र पर दक्षिण में हमेशा विरोध होता रहा है जिसमें हिन्दी या अंग्रेजी को चुनने की बात है. इसके विरोध में द्रविड़ राजनीति में 'हिंदी नेवर एण्ड इंग्लिश एवर' यानी 'हिन्दी ना ना, अंग्रेजी हाँ हाँ' जैसा

दिलचस्प नारा आज तक जारी है लेकिन राजनीति से हट कर अगर देखा जाए तो दक्षिण भारतीयों में हिन्दी के लिए स्वाभाविक ललक है. उत्तर और दक्षिण के बीच आने-जाने-बसने की वजह से भी हिन्दी का देशव्यापी महत्व बना रहा है

. दक्षिण-उत्तर मिलाप चाहे उत्तर में हो या दक्षिण में, ज़रिया हमेशा हिन्दी ही रही है. आज से एक हज़ार साल पहले शंकर ने अपना देशाटन शुरू किया तो मुख्यतः उत्तर भारत भाषा यानी बहता पानी जो सबको समेटती चलेमें ही भ्रमण किया. उस दौर में निश्चित ही जो भी देश की सम्पर्क भाषा होगी, हिन्दी उसी की वारिस है इसमें किसी को सन्देह नहीं होना चाहिए. काशी में उस दौर में भी द्रविड़ ब्राह्मणों का ठिकाना था. दक्षिण के विद्वानों का उत्तर भारत में बड़ा मान रहा. इसकी वजह भी भाषा ही बनी. संस्कृत और वेद-पुराणों पर उनका ऐसा अधिकार था कि अध्ययन-अध्यापन की दाक्षिणात्य धारा ही उनके नाम हो गई.

पर यह आदान-प्रदान एकतरफ़ा नहीं, दोतरफ़ा रहा है. हैरत होती है कि उत्तराखण्ड के कुमाऊं अंचल में भट्ट, पाठक, दीक्षित, पन्त, पाण्डे उपनामधारी ब्राह्मण दाक्षिणात्य हैं. समझा जाता है कि नवीं-दसवी सदी में ये महाराष्ट्र से उत्तराखण्ड आकर बसे. इसी तरह डिमरी, डोभाल, चमौली, कुकरेती आदि अनेक ब्राह्मणों के उपनाम चाहे पहाड़ी गाँवों से सम्बद्ध हैं, मगर इनके पुरखे भी तमिल, तेलुगू, कन्नड़ भाषी थे. सुदूर दक्षिण से उत्तर के प्रवास के दौरान जिस सूत्र ने इन्हें जोड़े रखा, वह निश्चित ही सम्पर्क भाषा हिन्दी (तत्कालीन संज्ञा जो भी रही हो) ही थी.

पौराणिक स्वरूप

इसी तरह पंचद्रविड़ ब्राह्मणों में एक हव्यक श्रेणी भी है. बताया जाता है कि कुमाऊं के हव्यक ब्राह्मण जो हवन-होम करने में निष्णात थे, नवीं-दसवीं सदी के आसपास कदम्ब वंश के मयूरवर्मन नाम के राजा ने न्योता दिया. आज कर्नाटक में हैवा, हैगा, हविगा, हेगड़े नामधारी ब्राह्मण समुदाय इन्हीं कुमाऊंनी ब्राह्मणों के वारिस हैं. ये लोग संस्कृत तथा अन्य भाषाज्ञान में निष्णात माने जाते रहे. कर्नाटक के शिमोगा जिले में इनकी खासी संख्या है.

यही नहीं, न जाने कितने तेलुगूभाषी वेदपाठी, अग्निहोत्र ब्राह्मण उत्तर भारत के अनेक क्षेत्रों में पहुँच कर ऐसे रचे-बसे कि हिन्दी छोड़ ठेठ राजस्थानी, मराठी, बुंदेलखण्डी और तो और भोजपुरी वाले हो गए. ये तमाम लोग बीकानेर, उदयपुर, जोधपुर, जयपुर, झाँसी, सागर, छतरपुर, टीकमगढ़, झाँसी, ग्वालियर, कानपुर से लेकर बनारस, गया और कोलकाता तक मिल जाएँगे.

महाराष्ट्र से लेकर ठेठ तमिलनाडू तक में रहने वाले लोग 150 साल पहले तक सतपुड़ा-विन्ध्य के उत्तर वाले हिस्से को हिन्दुस्तान ही कहा करते थे. बीसवीं सदी की शुरूआत तक हिन्दी के लिए हिन्दुस्तानी शब्द ही आम था. उर्दू या हिन्दी का फ़र्क़ तो आज़ादी के बाद ज्यादा बढ़ा. इससे हटकर उर्दू या हिन्दी जैसे शब्दों की अहमियत साहित्य की दुनिया में थी. बतौर भाषा, हिन्दुस्तानी का अर्थ हिन्दी न होकर वह भाषा थी जो उर्दू से अलग नहीं थी.

भाषा में शब्दों की समानता

दक्षिण भारतीय भाषाओं- तमिल, कन्नड़, मलयालम, मराठी, तेलुगू अथवा कोंकणी, गुजराती में अनेक अरबी शब्द घुले-मिले हैं. हिन्दी में फ़ारसी के अधिक और अरबी के अपेक्षाकृत कम शब्द है. थोड़ा और साफ़ करें तो यह कि हिन्दी में जो अरबी शब्द हैं, उनका फ़ारसीकरण हो चुका है, इसलिए ख़ालिस अरबी शब्दों की संख्या शुद्ध अरबी की तुलना में कम है. हिन्दी की तुलना में मराठी में अरबी-फारसी की रचबस ज्यादा दिखती है.

यह जानकर ताज्जुब हो सकता है कि हिन्दी में अरबी-फ़ारसी शब्दों की कुल संख्या शायद 15 हज़ार से ज्यादा न हो, मगर एक अध्ययन के मुताबिक मराठी में यह संख्या हिन्दी के दुगने से भी ज्यादा बताई जाती है. अन्तर यही है कि हिन्दी में विदेशी शब्दों को जस का तस बरतने पर जोर रहता है, वहीं मराठी में उसे अपने अनुकूल

ढाल लिया जाता है. जैसे ब्राह्मणों का एक पदनाम है फड़नीस. यह मूलतः फ़र्द-नवीस (लेखा-जोखा रखने वाला) था.

अरबी का तफ्हुस हिन्दी के लिए अनजान है मगर मराठी में यह तपास बनकर विराजमान है जिसका अर्थ है चौकसी या परख करना. तमिल, कन्नड़, तेलुगू में भी अरबी-फ़ारसी की यह रचबस देखने को मिलती है जैसे तमिल का रप्पिलव्वल दरअसल यह रबीउलअव्वल है.

दक्षिणी भाषाओं में अरबी शब्दों की आमद पर ग़ौर करना इसलिए ज़रूरी है क्योंकि यहाँ उत्तर भारत की तुलना में अरबी और इस्लाम पहले पहुँचे. यही नहीं, दक्षिण की तमाम भाषाओं का अगर इस नज़रिये से अध्ययन किया जाए तो शायद पता चलेगा कि मध्ययुगीन अरबी के अनेक शब्द इन भाषाओं में सुरक्षित हैं. जो हिन्दी में अत्यल्प या लगभग नहीं बोले जाते.
कहने का आशय यही कि दक्षिण में भाषाओं को लेकर पूर्वग्रह नहीं है. यूँ किसी भी भाषायी समाज में अन्य भाषा को लेकर सहज ललक रहती है. दक्षिण में हिन्दी के प्रति दुराव राजनीति प्रेरित ज्यादा है, स्वाभाविक नहीं. दक्षिण भारतीयों की अंग्रेज़ी उत्तर भारतीय लोगों की तुलना में बेहतर होती है. पर यह गुण किसी अन्य भारतीय भाषा को सीखने में हिन्दी ज्ञान की तुलना में ज्यादा मदद नहीं करता.
कल्पना करें कि कोई तमिलभाषी अगर पंजाबी या कश्मीरी सीखना चाहेगा तो हिन्दी माध्यम के ज़रिये नई भाषा सीखना कहीं ज्यादा आसान होगा बनिस्बत अंग्रेजी के. ज़रूरी नहीं कि सिखाने वाले को बहुत अच्छी इंग्लिश आती हो.

सम्पर्क भाषा के रूप में हिंदी

हमारा मानना है कि आज हिन्दी का रथ अपनी स्वयं की रफ़्तार से दौड़ रहा है. हिन्दी चाहे तमिल, तेलुगू, मराठी, अवधी, राजस्थानी व अन्य भाषाओं की तुलना में बहुत प्राचीन नहीं है. हिन्दी में शास्त्रीय साहित्य नहीं है जो पुरातनता के पैमानों पर उसे शास्त्रीय भाषा का दर्जा दिलाता हो. मगर उत्तर से दक्षिण और पूरब से पश्चिम तक देश और दुनिया को जोड़ने वाली सम्पर्क भाषा के तौर पर जो बढ़त हिन्दी को हासिल है वह उसकी कम उम्र को देखते हुए गज़ब है. इसका महत्व इस बात में है कि हिन्दी और दूसरी भाषाओं का प्राकृतों से अन्तर्सम्बन्ध है.

जहाँ तक संस्कृत का सवाल है, द्रविड़ भाषाओं में संस्कृत के रूपभेद पहचानना कठिन होता है. मगर उनमें संस्कृत की मौजूदगी साबित करती है कि भाषायी आधार पर जो आर्य-द्रविड़ टकराव दर्शाया जाता है वह नकली है. संस्कृत और द्रविड़ भाषाओं में अटूट अन्तर्सम्बन्ध रहा है. भारतीय भाषाओं में एकता का जो सूत्र संस्कृत के ज़रिये नज़र आता है, वही सूत्र आज हिन्दी के रूप में समूचे भारत को जोड़े हुए है.

****

क्योंकि भाषा तो बहता पानी है...

एक ही धारा से ना जाने और कितनी धाराएं निकल पड़ती हैं. इसी तरह एक ही भाषा से ना जाने कितनी भाषाओं का जन्म होता है.

जैसे संस्कृत से हिंदी और दूसरी ज़बानें वजूद में आईं. लैटिन ज़बान ने भी बहुत सी भाषाओं को जन्म दिया, जैसे इटैलियन, फ्रेंच, स्पेनिश, रोमानियन और पुर्तगाली भाषा.
इसी तरह दक्षिण अफ्रीका में बोली जाने वाली ज़बान, अफ्रीकान्स भी डच भाषा से निकली है.यानी दुनिया में आज जितनी भी ज़बानें हैं वो किसी न किसी पुरानी भाषा से पैदा हुई हैं.
ऐसे में सवाल ये है कि ग्लोबल लैंग्वेज कही जाने वाली अंग्रेज़ी ने कितनी नई ज़बानों को जन्म दिया है?
भाषाएं निरंतर बदलती रहती हैं. दूसरी भाषाओं के साथ मिलकर एक नया रंग लेती रहती हैं.
भाषाओं के माहिर इसके लिए तीन बातों को अहम मानते हैं. पहली वजह है वक़्त.

समय के साथ ज़बानों के रूप रंग बदल जाते हैं. उसमें नए लफ़्ज़ जुड़ते हैं, पुराने हटते हैं.
अपने बुज़ुर्गों से सीखे हुए अल्फ़ाज़ कई नस्लों तक चलते हैं. किसी भाषा में बदलाव रातों-रात नहीं आता.
किसी पुरानी ज़ुबान से नए के जन्म लेने में लंबा वक्त लग जाता है. जैसे लैटिन से इटैलियन ज़बान का वजूद सदियों के बाद आया.
इसी तरह शेक्स्पीयर के ज़माने की अंग्रेज़ी और आज की अंग्रेज़ी दो अलग ज़बानें लगती हैं. जैसे प्राचीन और मॉर्डन ग्रीक.
जब एक भाषा किसी दूसरी भाषा का सामना करती है तो उसके शब्दों के साथ-साथ उसकी व्याकरण को भी अपने में समा लेती है.
दो अलग ज़बानों के बोलने वाले जब एक दूसरे से बात करते हैं तो उसे आसान बनाने की कोशिश करते हैं.
इस तरह दो भाषाओं के मिलने से किसी तीसरी भाषा का जन्म होता है. कई भाषाओं के मेल से बनने वाली नई ज़बान को क्रिओल कहते हैं.
अंग्रेज़ी और दूसरी स्थानीय बोलियों के मेल से दुनिया में कई नई क्रिओल का जन्म हुआ है.

आज की अंग्रेज़ी ज़बान ऐंग्लो सैक्सन बाशिंदों की पैदावार भले हो, लेकिन इसके शब्दों और व्याकरण पर पुरानी डेनिश और नॉर्स भाषाओं का असर ज़्यादा है.
साथ ही अंग्रेज़ी में बहुत से फ्रेंच लफ़्ज़ भी हैं. इसीलिए मॉडर्न अंग्रेज़ी को भी क्रियोल की फ़ेहरिस्त में रखा गया है.और अंग्रेज़ी और दूसरी ज़बानों के मेल से भी कई नई क्रिओल या मिली-जुली ज़बानें पैदा हुई हैं.
चलिए ऐसी ही कुछ ज़बानों से आपका तार्रुफ़ कराते हैं.
पूर्वी एशियाई देश पापुआ न्यूगिनी में बोली जाने वाली 'टोक पसिन' ऐसी ही एक ज़बान है.
हां टोक पसिन बोलने और समझने वालों की संख्या एक लाख बीस हज़ार है. जबकि क़रीब चालीस लाख़ लोगों की ये दूसरी ज़बान है.
टोक पसिन की शुरुआत खिचड़ी भाषा के तौर पर ही हुई थी. इसकी जड़ अंग्रेज़ी ज़बान की मिट्टी में थी.
मगर इसमें जर्मन, पुर्तगाली और बहुत सी ऑस्ट्रोनेशियन भाषाओं का असर था.
धीरे-धीरे इस खिचड़ी भाषा को अपने लिए देसी लोग मिले. उन्होंने इसे तराश कर क्रियोल का रूप दिया.
बहुत सी भाषाओं का प्रभाव होने की वजह से इसके व्याकरण में स्वर और व्यंजन का खुला बंटवारा नहीं है.
अंग्रेज़ी से ही पैदा हुई एक और ज़बान है, 'पिटकर्न'. ये बोली, प्रशांत महासागर में स्थित एक छोटे से द्वीप पिट केयर्न के बाशिंदे बोलते हैं.
1789 में एक अंग्रेज़ जहाज़ के नाविकों ने कप्तान के ख़िलाफ़ बग़ावत कर दी थी.
इसके बाद वो लोग प्रशांत महासागर के ही ताहिती नाम के देश में बस गए थे.
इन्हीं लोगों ने अंग्रेज़ी और स्थानीय भाषा के मेल से पिटकर्न नाम की नई ज़बान को जन्म दिया.
हालांकि आज इसके बोलने वालों की तादाद बेहद कम है. इस ज़बान के बचने की उम्मीद भी बहुत कम है.
इसी तरह अमरीका की एक भाषा है गुला, जिसे गीची के नाम से भी जाना जाता है.
इसका वजूद अठारहवीं से उन्नीसवीं सदी के बीच अमल में आया था. आज अमरीका में क़रीब ढाई लाख़ लोग ये ज़बान बोलते हैं.
इनमें राष्ट्रपति ओबामा की पत्नी मिशेल और अमरीका के सुप्रीम कोर्ट के एक जज शामिल हैं.
गुला को आज अमरीका में एक विरासत के तौर पर सहेजने की कोशिश की जा रही है.
ये उन्नीसवीं सदी में अमरीका में गुलाम रहे अफ्रीकियों और अंग्रेज़ी के मेल से बनी ज़बान है.
अगर आपने कभी कुंबाया गाया होगा तो यक़ीनन एक ना एक अल्फ़ाज़ गुला ज़बान का ज़रूर इस्तेमाल किया होगा.
इसी तरह एक और ज़बान है सरनन. इसे सरनन टैंगो के नाम से भी जानते हैं.

ये दक्षिण अमरीकी देश सूरीनाम में बोली जाती है. क़रीब चार लाख लोग इसे बोलते हैं. और एक लाख तीस हज़ार लोगों की ये फर्स्ट लैंग्वेज है.
इस ज़बान में पुर्गाली, अंग्रेज़ी, डच और पश्चिमी अफ्रीकी भाषाओं के शब्द शामिल हैं.
सूरीनाम की आज़ादी के बाद ये भाषा खूब फल-फूल रही है. इसे सरकारी भाषा का दर्जा हासिल है.
सिंगापुर में सिंग्लिश भाषा बोली जाती है. कुछ लोग इसे अंग्रेज़ी का बिगड़ा रूप कहते हैं.

मगर ये अंग्रेज़ी से काफ़ी अलग है. इसका व्याकरण चीनी बोलियों से लिया गया है.
कुछ हद तक इस पर तमिल और मलय ज़बानों का भी असर है. बहरहाल सिंगापुर के बाशिंदों की ये मादरी ज़बान बन गई है.
हालांकि इसे सरकारी भाषा का दर्जा हासिल नहीं है. लेकिन रोज़मर्रा में लोग इसका खूब इस्तेमाल करते हैं.
तो, अंग्रेज़ी से पैदा हुई इन नई ज़बानों में से कुछ का भविष्य अच्छा है. तो पिटकर्न जैसी भाषा का मुस्तक़बिल अंधकार भी दिखता है.
ख़ुद अंग्रेज़ी आगे चलकर कैसा रूप लेगी, ये कहना भी मुश्किल है.
आज इंटरनेट और ग्लोबलाइज़ेशन की वजह से अंग्रेज़ी, दुनिया की पहली ज़बान बनती जा रही है.
लेकिन, तमाम देशों में इसका रंग-रूप बदल भी रहा है. जैसे कि भारत में ही अंग्रेज़ी का हिंग्लिश रूप काफ़ी चलन में आता जा रहा है.
लोग हिंदी-उर्दू और अंग्रेज़ी के शब्दों को मिलाकर बोलते हैं.
आगे चलकर ऐसा भी हो सकता है कि भारत में हिंग्लिश को भी सरकारी ज़बान का दर्जा मिल जाए.
क्योंकि भाषा तो बहता पानी है.

****

हिंदी को अनिवार्य विषय बनाने का पूर्वोत्तर राज्यों में क्यों हो रहा विरोध?

भारत के गृह मंत्री अमित शाह ने हाल में पूर्वोत्तर राज्यों के स्कूलों में हिंदी को अनिवार्य विषय बनाने का प्रस्ताव रखा, लेकिन असम समेत कई राज्यों में उनके इस क़दम का विरोध हो रहा है. हालांकि इस इलाक़े के कई संगठनों ने कहा कि हिंदी को वैकल्पिक विषय के रूप में रखने पर उन्हें कोई आपत्ति नहीं है.

दरअसल हिंदी को 'भारत की भाषा' बताते हुए केंद्रीय गृह मंत्री अमित शाह ने पिछले गुरुवार को कहा था कि पूर्वोत्तर के सभी आठ राज्यों ने दसवीं क्लास तक के स्कूलों में हिंदी को अनिवार्य करने पर सहमति जताई है.
अमित शाह संसदीय राजभाषा समिति के अध्यक्ष भी हैं. उन्होंने कहा था कि उत्तरपूर्व के इन आठ राज्यों में हिंदी पढ़ाने के लिए 22 हज़ार शिक्षक बहाल किए गए हैं. शाह ने यह भी बताया था कि पूर्वोत्तर के नौ आदिवासी समुदायों ने अपनी बोलियों की लिपि को बदलकर देवनागरी कर लिया है.
पिछले कुछ सालों में बीजेपी ने पूर्वोत्तर में जिस तरह की राजनीति की है, उसे देखते हुए हालिया एलानों से कई लोगों को संदेह हो चला है. संदेह यह है कि 'हिंदी-हिंदू-हिंदुस्तान' फार्मूले के तहत पूर्वोत्तर के स्कूलों में हिंदी को अनिवार्य विषय बनाने का प्रयास किया जा रहा है.

इसे लेकर ऐसी प्रतिक्रियाएं सामने आ रही है कि भारत को एक ऐसा देश बनाने की कोशिश की जा रही है, जहां एक संस्कृति, एक भाषा और एक धर्म होगा. चर्चा यह भी है कि स्कूलों में हिंदी को अनिवार्य करने से यहां के स्कूली बच्चों पर बोझ बढ़ेगा, क्योंकि ग़ैर हिंदी भाषी लोगों के लिए हिंदी सीखना बहुत कठिन होगा.
नॉर्थ ईस्ट स्टूडेंट्स ऑर्गेनाइज़ेशन के अध्यक्ष सैमुअल बी जिरवा ने अपना विरोध जताते हुए बीबीसी से कहा, "हिंदी को अनिवार्य करने से हमारी अपनी मातृभाषा लुप्त हो जाएगी, क्योंकि हिंदी हमारी मातृभाषा नहीं है. मेघालय और पूर्वोत्तर के अन्य राज्यों में हिंदी एक वैकल्पिक विषय है. हमें वैकल्पिक विषय के रूप में हिंदी को रखने पर कोई आपत्ति नहीं है. यहां के छात्र-छात्राओं पर जबरन हिंदी को थोपने की ये बात किसी भी लिहाज़ से मंज़ूर नहीं है."

मेघालय की पूर्व मंत्री माज़ल अम्परिन लिंगदोह ने पूर्वोत्तर राज्यों में हिंदी को अनिवार्य विषय बनाने को लेकर केंद्र सरकार की आलोचना करते हुए कहते हैं कि गृह मंत्री ने पूर्वोत्तर राज्यों के स्कूलों में हिंदी को अनिवार्य विषय बनाने का जो प्रस्ताव रखा है उसे लेकर एक प्रकार से भ्रम की स्थिति पैदा हो गई है.

वे सवाल उठाते हुए कहती हैं कि वे किस तरह हिंदी को अनिवार्य बनाने की योजना बना रहे हैं.
माज़ल अम्परिन लिंगदोह के अनुसार, "मेघालय में 8वीं कक्षा तक हिंदी तीसरी भाषा के तौर पर वैसे ही अनिवार्य है. अगर उनका मकसद हमारी स्थानीय भाषाओं को हटाकर हिंदी को अनिवार्य करना है तो ये किसी भी तरह स्वीकार्य नहीं होगा. मेघालय में कई सालों से हिंदी शिक्षकों का समूह काम कर रहा है. मेघालय सरकार बच्चों को हिंदी पढ़ा रही है.अगर इसके बाद भारत सरकार की तरफ से ऐसा कुछ करने की बात कही जा रही है तो इससे डर पैदा होता है. हमारे यहां अगर 10वीं और 12वीं में हिंदी को अनिवार्य कर दिया जाएगा तो हमारी मातृभाषा का क्या होगा? भारत सरकार का फरमान लागू हुआ तो खासी और गारो भाषाओं का क्या होगा जो यहां की प्रमुख भाषाएं हैं."

प्रदेश की शिक्षा मंत्री रह चुकी और मौजूदा विधायक अम्परिन कहती है "हम नहीं चाहते कि इस देश में भाषा और धर्म के नाम पर कोई भी विभाजन हो. अगर मेरे बच्चे मेरी भाषा नहीं पढ़ पा रहे हैं तो यह बहुत ख़तरनाक होगा. मेरी भाषा शायद ख़त्म हो जाएगी. मैं हिंदी के ख़िलाफ़ नहीं हूं. मैंने अपनी शिक्षा दिल्ली से हासिल की है और मैं ठीक-ठाक हिंदी बोल लेती हूं. मेरे तीनों बच्चे हिंदी और संस्कृत लिखना-बोलना जानते है. यहां तक कि मेघालय के ग्रामीण इलाकों में युवा भी हिंदी गाने सुनते है. परंतु हमारी मातृभाषा को हटाकर उसकी जगह हिंदी को अनिवार्य करना स्वीकार्य नहीं होगा."

भाषा एक संवेदनशील मुद्दा

पूर्वोत्तर के लोगों की भाषा से जुड़ा मुद्दा हमेशा से बेहद संवेदनशील रहा है.
मेघालय में द वॉइस ऑफ़ द पीपुल पार्टी के अध्यक्ष अरडेंट मिलर बसियावमोइट आरोप लगाते हैं कि केंद्र की सत्ता संभाल रही बीजेपी इस तरह के बदलाव के ज़रिए भारत को एक हिंदू राष्ट्र में तबदील करने के प्रयास में जुटी है.
पूर्व विधायक बसियावमोइट ने इस मुद्दे पर मीडिया से कहा, "केंद्रीय गृह मंत्री के निर्देश पर मेघालय समेत पूर्वोत्तर के राज्यों ने 10वीं कक्षा तक के स्कूलों में हिंदी अनिवार्य करने पर सहमति जताई है. लेकिन यह बीजेपी के नेतृत्व वाली एनडीए सरकार द्वारा भारत को एक ऐसे देश में बदलने का प्रयास है जहां एक संस्कृति, एक धर्म और एक भाषा होगी."
दरअसल असम से टूटकर मेघालय के राज्य बनने के पीछे भी भाषा ही बड़ा कारण था. मेघालय के लोगों ने असमिया भाषा की जगह अपनी भाषा को प्रमुखता देने की मांग उठाई थी.
इसके अलावा, असम के बराक घाटी में बंगाली भाषा आंदोलन भी असम सरकार द्वारा असमिया को राज्य की एकमात्र आधिकारिक भाषा बनाने के फ़ैसले के ख़िलाफ़ था. उस दौरान भाषा को लेकर हुए विरोध से जुड़ी मुख्य घटना 19 मई, 1961 को सिलचर रेलवे स्टेशन पर हुई थी, जिसमें 11 बंगाली लोगों की मौत हो गई थी.
असम की सर्वोच्च साहित्यिक संगठन असम साहित्य सभा ने भी केंद्र सरकार के इस प्रस्ताव का विरोध करते हुए एक बयान जारी कर कहा, "केंद्रीय गृह मंत्री को हिंदी को थोपने की बजाए असमिया और अन्य स्वदेशी भाषाओं के विकास के लिए कदम उठाने चाहिए थे. इस तरह के कदम असमिया और पूर्वोत्तर की सभी देशी भाषाओं के लिए अंधकारमय भविष्य का संकेत है. साहित्य सभा मांग करती है कि कक्षा 10 तक हिंदी को अनिवार्य करने का निर्णय रद्द किया जाए."
नागरिकता संशोधन क़ानून के विरोध के दौरान गठित क्षेत्रीय पार्टी असम जातीय परिषद के अध्यक्ष लुरिन ज्योति गोगोई ने केंद्र के इस प्रस्ताव को दुर्भाग्यपूर्ण बताया.

उनका कहना था, "जब कई जनगणना रिपोर्टों में कहा गया है कि असमिया और अन्य जातीय भाषाएं संकट में है,ऐसे समय में हमारी भाषा को विकसित करने की बजाय बीजेपी हिंदी को थोपने की योजना बना रही है. असल में यह बीजेपी के उस दावे का खंडन है कि वे पूर्वोत्तर के लोगों, उनकी भावनाओं और उनकी संस्कृति की अधिक परवाह करते हैं. ऐसे प्रस्ताव को तत्काल वापस लिया जाए. पूर्वोत्तर के मूल निवासियों से मातृभाषा छीनने के प्रयास को स्वीकार नहीं किया जाएगा."

अंग्रेज़ी आज पूरी दुनिया में कारोबार की ज़बान है. मगर ये अंग्रेज़ों की मातृभाषा है. जैसे बहुत से भारतीयों की मादरी ज़बान हिंदी है, ठीक उसी तरह से. अब हम सब जानते हैं कि जो ज़बान जिसकी मातृभाषा होती है, वो उसका उस्ताद होता है.

लेकिन, अगर हम ये कहें कि अंग्रेज़, सबसे ख़राब अंग्रेज़ी बोलते हैं तो आपको शायद ही यक़ीन हो. मगर है ये बिल्कुल सच.

अभी हाल ही में एक बहुराष्ट्रीय कंपनी को भारी नुक़सान उठाना पड़ा. वजह ये कि उसके एक अंग्रेज़ कर्मचारी ने जो ई-मेल भेजा, वो दूसरी कारोबारी कंपनी के कर्मचारी को उल्टा समझ में आया. जो डील होनी थी, वो नहीं हुई. इसकी वजह ये थी कि जिस अंग्रेज़ ने वो ई-मेल भेजा था उसमें स्थानीय बोलचाल का शब्द इस्तेमाल किया था. इसे दूसरे देश में रहने वाले दूसरी कंपनी के कर्मचारी ने ग़लत समझा और बहुराष्ट्रीय कंपनी को भारी नुक़सान झेलना पड़ा.

ग्लोबल हो रही दुनिया में अंग्रेज़ी सबसे बड़ी कारोबारी ज़बान बन गई है. तमाम देशों के लोग, जिनकी पहली ज़बान अपनी भाषा होती है, वो अंग्रेज़ी सीखते हैं. जैसे हम भारतीय. इसी तरह चीन, जापान, जर्मनी और फ्रांस के लोग भी अंग्रेज़ी सीखते हैं.

हम लोगों के मुक़ाबले अमरीकी और अंग्रेज़ लोगों को अलग से एक भाषा सीखने की ज़रूरत नहीं होती. मगर, कारोबार की दुनिया में बहुत से ऐसे लोगों से वास्ता पड़ता है जिन्होंने बड़ी मेहनत से अंग्रेज़ी सीखी होती है. उनके बोलने का लहजा अलग होता है. वो गिने-चुने अंग्रेज़ी के लफ़्ज़ इस्तेमाल करते हैं. ऐसे लोग बहुत संभलकर अंग्रेज़ी बोलते हैं, ताकि सामने वाला कहीं ग़लत न समझ बैठे.
हमारी अपनी भाषा में कुछ ऐसे ख़ास शब्द होते हैं जिनका स्टैंडर्ड से हटकर मतलब होता है. इसी तरह बहुत से मज़ाक़ भी हर ज़बान के हिसाब से अलग होते हैं. अब जैसे अंग्रेज़ या अमरीकी, अपने तरीक़े का मज़ाक़ करते है, जो बहुत से चीनी, जापानी या भारतीय लोगों को बिल्कुल समझ में नहीं आता. फिर वो कई तरह के संक्षिप्त शब्द इस्तेमाल करते हैं, जो बाक़ी दुनिया के लोगों की समझ से परे होते हैं.
अंग्रेज़ और अमरीकी लोग, बहुत से ऐसे संक्षिप्त शब्द इस्तेमाल करते हैं, जो बाक़ी दुनिया के लोगों की समझ से परे होते हैं. बातचीत में ये चीज़ सबसे बड़ी मुश्किल पैदा करती है. मुश्किल और बढ़ जाती है जब आपको पता चलता है कि ब्रिटिश और अमरीकी अंग्रेज़ी के एब्रिविएशन अलग-अलग होते हैं.
ब्रिटिश और अमरीकी अंग्रेज़ी में फ़र्क़ समझने और बातें कहने का भी होता है. जैसे कि अगर किसी अंग्रेज़ को कोई प्रस्ताव अच्छा नहीं लगता तो वो कहेगा That's interesting. इसका मतलब है कि आपका प्रस्ताव बकवास है. वहीं जब कोई अमरीकी आपका प्रस्ताव ख़ारिज करेगा तो उसका तरीक़ा अलग होगा.

******

साहित्य परब-2022 में साहित्यकारों ने छत्तीसगढ़ के कवियों पर की चर्चा

राजधानी रायपुर में सम्पन्न हुए साहित्य परब 2022 के दूसरे दिन सोमवार 21 नवम्बर को छत्तीसगढ़ की वाचिक परम्पराओं और छत्तीसगढ़ी काव्य धारा विषय पर चर्चा हुई। आज की चर्चा में गोंडी, हलबी और भतरी बोली में प्रचलित कथाओं और लोकगीतों में छिपे ज्ञान के विषय शामिल रहे। छत्तीसगढ़ी काव्य धारा विषय पर कवि कोदूराम दलित के व्यक्तित्व और कृतित्व पर विस्तार से बात की गई। एक सत्र में नवोदित कवियों ने वरिष्ठ गीतकार रामेश्वर वैष्णव की अध्यक्षता में काव्य पाठ किया गया। इस सत्र का संचालन महेश शर्मा ने किया।

आज द्वितीय दिवस के पहले सत्र में नारायणपुर से पधारे गोंडी बोली के जानकार शिवकुमार पाण्डेय और हल्बी गोंडी पर काम कर रहे रुद्रनारायण पाणिग्रही ने बस्तर की कहावतें मुहावरों की चर्चा की। उन्होंने बताया कि देश की अन्य भाषाओं और बोलियों की तरह हल्बी और गोंडी बोली में भी कहावतें, लोकोक्तियां और मुहावरे भरपूर संख्या में हैं। श्री पाणिग्रही ने बताया कि समय के साथ स्थानीय बोलियां लुप्त हो रही हैं, इससे उनकी परंपरा और संस्कृति भी लुप्त हो रही है। हल्बी गोंडी की वाचिक परम्परा समृद्ध परंपरा है, जिसे पोषण की आवश्यकता है। शिवकुमार पाण्डेय ने गोंडी के विभिन्न गीतों पर प्रकाश डाला। इस सत्र की प्रस्तोता साहित्यकार शकुंतला तरार ने बस्तर के गीतों के बारे में बताया।।

प्रख्यात उपन्यासकार खालिद जावेद को 2022 का जेसीबी साहित्य पुरस्कार

- प्रख्यात उर्दू उपन्यासकार खालिद जावेद को रविवार को वर्ष 2022 का प्रतिष्ठित जेसीबी साहित्य पुरस्कार प्रदान किया गया।
- इस साल पुरस्कार की दौड़ में पांच रचनाएं थीं, जिनमें से 'द पैराडाइज ऑफ फूड' के लेखक खालिद जावेद को यह पुरस्कार प्रदान किया गया।
- यहां आयोजित समारोह में पुरस्कार स्वीकार करते हुए खालिद ने कहा कि यह मेरे लिए सर्वाधिक खुशी का क्षण है।
- इस बार पुरस्कार के लिए 'शार्टलिस्ट' की गई सभी पांच रचनाएं अनूदित थीं।
- 'द पैराडाइज ऑफ फूड' का अनुवाद बारां फारूकी ने किया है।
- जामिया मिल्लिया इस्लामिया विश्वविद्यालय में प्रोफेसर खालिद जावेद के उपन्यास का मुकाबला बुकर पुरस्कार से सम्मानित गीतांजलिश्री के उपन्यास 'टॉम्ब ऑफ सैंड', मनोरंजन बायापरी के उपन्यास 'ईमान', शूदेन काबिमो के उपन्यास 'सॉग ऑफ द सॉइल', और शाली टॉमी के उपन्यास 'वल्ली' से था।
- *पुरस्कार के तहत 25 लाख रुपये की राशि प्रदान की जाती है। जेसीबी के संस्थापक जोसेफ बैमफोर्ड ने डिजिटल माध्यम से पुरस्कार की घोषणा की।*

अक्षम्य और अमानवीय'..., लेखकों और प्रकाशकों ने सलमान रुश्दी पर हमले की कुछ यूं की निंदा

सलमान रुश्दी पर हमले से स्तब्ध साहित्य जगत ने बुकर पुरस्कार (Booker Prize) से सम्मानित लेखक के शीघ्र स्वस्थ होने की कामना करते हुए अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता बरकरार रखने पर जोर दिया है. मुंबई में जन्मे विवादास्पद लेखक रुश्दी को ''द सैटेनिक वर्सेज'' (The Satanic Verses) की रचना करने के बाद कई वर्षों तक इस्लामी चरमपंथियों से जान से मारने की धमकियों का सामना करना पड़ा. उन्हें शुक्रवार को अमेरिका के न्यूयॉर्क में 24 वर्षीय एक युवक ने एक कार्यक्रम में चाकू मार दिया. 'इंटरनेशनल बुकर प्राइज' से सम्मानित होने वाले लेखकों में शामिल होने वालीं पहली भारतीय गीतांजलि श्री ने रुश्दी पर हमले को ''अक्षम्य और अमानवीय'' कृत्य करार दिया. गीतांजलि ने कहा, ''मानवता कहां जा रही है? यह संकट का दिन, शर्म का दिन है. हम लोकतंत्र और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के इस मुखर समर्थक के शीघ्र स्वस्थ होने के लिए प्रार्थना करते हैं. हिंसा को मतभेद से निपटने का तरीका नहीं बनने देना चाहिए.''

"गुस्सा समझ सकते हैं, लेकिन हमला ठीक नहीं" :

हत्या के प्रयास पर पिछले महीने गीतांजलि के उपन्यास ''रेत समाधि'' की सामग्री पर विवाद के बाद आगरा में उन्हें सम्मानित करने का एक कार्यक्रम रद्द कर दिया गया था. उल्लेखनीय है कि 'रेत समाधि' के अंग्रेजी अनुवाद 'टॉम्ब ऑफ सैंड' के लिए उन्हें इस प्रतिष्ठित पुरस्कार से सम्मानित किया गया है. रुश्दी पर हमले के मकसद का अभी पता नहीं चल पाया है, लेकिन संदेह जताया जा रहा है कि यह हमला 1988 में प्रकाशित उनके विवादास्पद उपन्यास ''द सैटेनिक वर्सेज'' से जुड़ा हुआ है. रुश्दी को इस पुस्तक के लिए 'व्हिटब्रेड बुक अवार्ड' मिला था. हालांकि, पुस्तक के प्रकाशित होने के बाद उपजे विवाद के कारण उन्हें नौ साल तक छिप कर रहना पड़ा क्योंकि कई मुसलमानों ने उसकी विषयवस्तु को ईशनिंदा माना था.

पुस्तक के प्रकाशन के एक साल बाद ईरान के सर्वोच्च नेता अयातुल्ला रुहोल्ला खामैनी ने ईशनिंदा करने वाली पुस्तक को प्रकाशित करने को लेकर रुश्दी को मौत की सजा देने का आह्वान किया. रुश्दी को 1980 के दशक के बाद से उनके लेखन के लिए ईरान से कई बार जान से मारने की धमकी मिली. ईरान ने रुश्दी की हत्या करने वाले शख्स को 30 लाख अमेरिकी डॉलर का इनाम देने की घोषणा की. राजीव गांधी के नेतृत्व वाली सरकार के तहत भारत ने इस किताब पर प्रतिबंध लगा दिया था. रुश्दी ने जिस खतरे का सामना किया, उसी तरह निर्वासित बांग्लादेशी लेखिका तसलीमा नसरीन को भी धमकियों का सामना करना पड़ा.

अपनी किताब ''लज्जा'' पर प्रतिबंध और बाद में धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुंचाने के लिए फतवे का सामना करने के बाद नसरीन (59) पिछले 27 वर्षों से निर्वासन में रह रही हैं. उन्होंने रुश्दी पर हमले की निंदा करते हुए कई ट्वीट किए. उन्होंने दुनिया भर में इस्लाम की आलोचना करने वाले किसी भी व्यक्ति के जीवन के लिए खतरे की आशंका जताई. नसरीन ने ट्वीट किया, ''मुझे पता चला है कि न्यूयॉर्क में सलमान रुश्दी पर हमला किया गया. मैं स्तब्ध हूं. मैंने कभी नहीं सोचा था कि ऐसा होगा. वह पश्चिमी देश में रह रहे हैं, और उन्हें 1989 से सुरक्षा मिली हुई है. अगर उन पर हमला हो सकता है तो इस्लाम की आलोचना करने वाले किसी पर भी हमला हो सकता है. मैं बेहद चिंतित हूं.''

जयपुर साहित्य उत्सव (जेएलएफ) के प्रोड्यूशर संजय के. रॉय ने कहा, ''यह लेखक पर नहीं बल्कि सभ्यता पर हमला है और यह किसी व्यक्ति के उस खतरे को प्रदर्शित करता है, जो स्वीकार्य से अलग विमर्श प्रस्तुत करने के कारण है.'' रुश्दी की प्रस्तावित यात्रा और उसके बाद विरोध प्रदर्शनों को लेकर 2012 में जेएलएफ काफी चर्चा में रहा था. रॉय ने कहा, ''हिंसा स्वीकार्य हो गई है, चाहे वह अमेरिका, यूरोप या कहीं भी हो, और यह दुखद है.''

कैसे "राजनीति, हिंसा और भीड़ की मानसिकता" ने 2012 में जेएलएफ में रुश्दी को शामिल करना उनके लिए असंभव बना दिया, इसे याद करते हुए जेएलएफ की सह-निदेशक और प्रसिद्ध लेखिका नमिता गोखले ने कहा कि रुश्दी की पुस्तकों का समकालीन दक्षिण एशियाई लेखन पर असर रहा है और "यह बर्बर कृत्य (उन पर हुआ हमला) उनकी रचनात्मक आवाज को खामोश नहीं कर सकता." रुश्दी ने 2007 में जेएलएफ में शिरकत की थी और 2012 में भी समारोह में भाग लेने वाले थे लेकिन आयोजन की मेजबानी कर रहे राजस्थान को मुस्लिम संगठनों के विरोध और खुफिया सूचनाओं का हवाला देते हुए पीछे हटना पड़ा. जेएलएफ को धमकियां मिलने के बाद वीडियो के जरिए उनके पूर्व निर्धारित संबोधन को भी रद्द करना पड़ा.

लेखक नील गैमन ने ट्वीट किया, "मुझे पूरी उम्मीद है कि सलमान रुश्दी आगे बढ़ेंगे. वह मजाकिया, प्रतिभाशाली शख्स हैं. उन्होंने काफी बेहतरीन किताबें लिखी हैं और मैं चाहता हूं कि जो लोग सोचते हैं कि वे उससे नफरत करते हैं, वे उनके शब्दों को पढ़ेंगे. (आप सलमान से नफरत नहीं करते, जो एक वास्तविक व्यक्ति हैं. आप अपने दिमाग में किसी से नफरत करते हैं जिसका कोई वजूद नहीं है.)"

पब्लिकेशन हाउस 'जगरनॉट बुक्स' की चिकी सरकार और 'पेंगुइन रैंडम हाउस इंडिया' की मेरु गोखले ने भी रुश्दी पर हमले की निंदा की. गोखले ने कहा, "हम इस भयानक हमले से उबरकर सलमान रुश्दी के जल्द ठीक होने की कामना करते हैं. यह हमला ऐसे समय हुआ जब वह सार्वजनिक रूप से पाठकों के साथ जुड़ रहे थे."

****

सैलानी रचनाकार-अमृतलाल वेगड़

नंदलाल बोस उनके गुरु थे। अमृतलाल वेगड़ ने चित्रकला में अपनी अलग पहचान बनाई थी। मगर फिर उनका प्रकृति से लगाव कुछ इस तरह बढ़ा कि उन्होंने उसके संरक्षण के लिए ही अपना पूरा जीवन समर्पित कर दिया। खासकर नर्मदा नदी से उन्हें अधिक मोहा और वे नर्मदा की परिक्रमा करते और उसके किनारे बसे लोगों के जीवन को जानने-समझने में ही अपना पूरा जीवन लगा दिया। नदी से प्यार कैसे किया जाता है, क्यों नदियों को जीवित रखना है, जो सूख चुकी हैं उन्हें कैसे जीवित रखना है, यह चिंता उनके चिंतन के केंद्र में सदा बनी रही।

कोई व्यक्ति इस तरह अपना पूरा जीवन किसी नदी को समर्पित कर दे, ऐसे उदाहरण कम मिलते हैं। मगर अमृतलाल वेगड़ उन चित्रकारों और साहित्यकारों में से थे, जिन्होंने पर्यावरण संरक्षण के लिए उल्लेखनीय काम किया। नर्मदा नदी की चार हजार किलोमीटर की पदयात्रा उन्होंने की और नर्मदा अंचल में फैली बेशुमार जैव विविधता से दुनिया को परिचित कराया। सैंतालीस साल की उम्र में, 1977 में, उन्होंने नर्मदा की परिक्रमा शुरू की थी और 2009 तक यह क्रम जारी रहा। उन्होंने पचहत्तर साल की उम्र तक नर्मदा की परिक्रमा की। इतनी उम्र में भी उनके शरीर और चेहरे पर कभी थकान नजर नहीं आई। यह नर्मदा के प्रति उनके लगाव और जुनून का ही परिचायक था।

नर्मदा की परिक्रमा करते, उसके बारे में जानते-समझते हुए उन्होंने लिखने और उससे जुड़ी संस्कृति को चित्रित करने का सिलसिला शुरू किया। मन में था कि जो कुछ वे नर्मदा के किनारे, नर्मदा में देख-सुन रहे हैं, जो अनुभव कर रहे हैं, उसे लिख कर और उसका चित्र उकेर कर लोगों तक भी पहुंचाया जाए, ताकि उनकी संवेदना को जगाया जा सके और नदी-संस्कृति की रक्षा के लिए एक अभियान छेड़ा जा सके।

इसी क्रम में अमृतलाल वेगड़ ने हिंदी में प्रसिद्ध किताब 'नर्मदा की परिक्रमा' लिखी, जिसमें उनके नर्मदा परिक्रमा के दौरान हुए अनुभव दर्ज हैं। नर्मदा के हर भाव और अनुभव को वेगड़जी ने अपने चित्रों और साहित्य में उतारा। उन्होंने गुजराती में सात और हिंदी में तीन किताबें लिखीं- 'सौंदर्य की नदी नर्मदा', 'अमृतस्य नर्मदा', 'तीरे-तीरे नर्मदा'। साथ ही करीब दस पुस्तकें बाल साहित्य पर भी लिखीं।

इन पुस्तकों के पांच भाषाओं में तीन-तीन संस्करण निकले। कुछ का विदेशी भाषाओं में भी अनुवाद हो चुका है। इन पुस्तकों में 'सौंदर्य की नदी नर्मदा' काफी प्रसिद्ध है। इसके अलावा 'अमृतस्य नर्मदा', 'तीरे-तीरे नर्मदा' और 'नर्मदा तुम कितनी सुंदर हो' भी काफी लोकप्रिय हुई थी। उनकी नर्मदा परिक्रमा ने लोगों को इतना प्रभावित किया कि लोग उससे जुड़ते गए और समय-समय पर उसमें शामिल होकर उनके साथ परिक्रमा करते रहे। इस तरह उनकी नर्मदा परिक्रमा एक अभियान की तरह चलती रही।

उनकी रचनाओं के लिए गुजराती और हिंदी में 'साहित्य अकादेमी पुरस्कार' और 'महापंडित राहुल सांकृत्यायन पुरस्कार' जैसे अनेक राष्ट्रीय पुरस्कारों से उन्हें सम्मानित किया गया। 2018 में 'माखनलाल चतुर्वेदी पत्रकारिता विश्वविद्यालय' के दीक्षांत समारोह में भारत के तत्कालीन उपराष्ट्रपति वेंकैया नायडू द्वारा उन्हें मानद उपाधि प्रदान की गई। उनका स्वास्थ्य खराब होने के कारण जबलपुर में उनके निवास पर एक सादे समारोह में यह उपाधि प्रदान की गई थी। उसी साल नब्बे वर्ष की आयु में उनका निधन हो गया।

वर्ष 2022 के लिए 57वां ज्ञानपीठ पुरस्कार

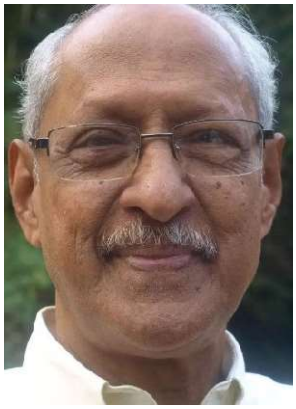

- प्रसिद्ध कोंकणी लेखक दामोदर मौउजो को वर्ष 2022 के 57वें ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किया गया है।
- 77 वर्षीय दामोदर मौउजो गोवा के उपन्यासकार, कथाकार, आलोचक और निबन्धकार हैं।
- वह अपने उपन्यासों जैसे 'कार्मेलिन', और 'सुनामी साइमन', और लघु कथाएँ, जैसे 'टेरेसाज मैन एंड अदर स्टोरीज फ्रॉम गोवा' (Teresa's Man and Other Stories from Goa) के लिए प्रसिद्ध हैं।
- उनका लघु कथाओं का पहला संग्रह 1971 में प्रकाशित 'गैंथन' था।
- उन्होंने अपने उपन्यास 'कार्मेलिन' के लिए 1983 में 'साहित्य अकादमी पुरस्कार' जीता था।
- दामोदर मौउजो ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित होने वाले दूसरे कोंकणी लेखक हैं। इनसे पूर्व 2006 में कोंकणी भाषा में पहला पुरस्कार 'रवींद्र केलेकर' को दिया गया था।

रामदरश मिश्र को मिला सरस्वती सम्मान

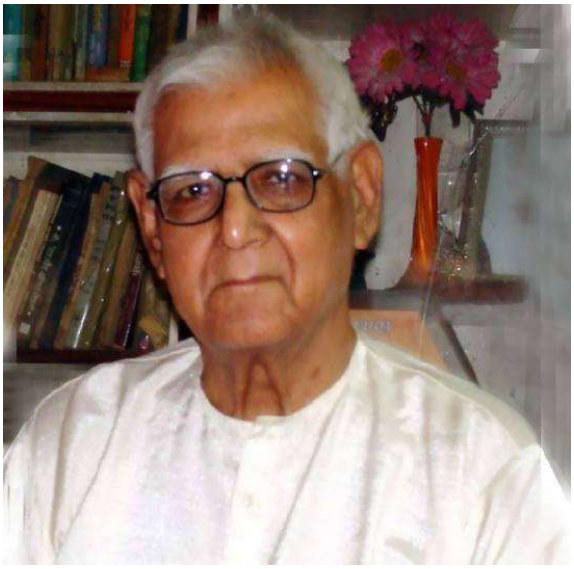

हिंदी के प्रख्यात कवि कथाकार रामदरश मिश्र को देश के प्रतिष्ठित सरस्वती सम्मान दिए जाने की घोषणा की गई है। केके बिरला फाउंडेशन ने 97 वर्षीय श्री मिश्र को उनके काव्य संग्रह" मैं यहां हूँ " के लिए31 वां सम्मान देने का निर्णय किया है।

पुरस्कार में 15 लाख रूपये की राशि एक प्रशस्ति पत्र और सरस्वती की प्रतिमा प्रदान की जाती है। लोकसभा के पूर्व महासचिव सुभाष कश्यप की 13 सदस्यता वाली चयन समिति ने श्री मिश्र का चयन किया। यह पुरस्कार गत दस वर्षों में प्रकाशित सर्वश्रेष्ठ कृति पर दिया जाता है।

14 अगस्त 1924 में गोरखपुर जिले में जन्मे श्री मिश्र को साहित्य अकेडमी और व्यास सम्मान पहले ही मिल चुका है।इस पुरस्कार की स्थापना 1991 में की गई थी और हरिवंश राय बच्चन को पहला पुरस्कार मिला था। गत वर्ष शरण कुमार लिम्बाले को यह सम्मान मिला था।

दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग से सेवानिवृत्त श्री मिश्र गत 30 वर्षों से स्वतंत्र लेखन कर रहे थे।उन्होंनेसाहित्य की सभी विधाओं उपन्यास व्यंग्य आलोचना ग़ज़ल निबंध संस्मरण यात्रा वृतांत आदि में लेखनी चलाई है।

****

नहीं रहे 'फ्रीडम ऐट मिडनाइट' और 'सिटी ऑफ जॉय' के लेखक डोमिनिक लैपियरे

मशहूर फ्रैंच लेखक डोमिनिक लैपियर का निधन हो गया है. 91 वर्षीय डोमिनिक लैपिएरे की पत्नी डोमिनिक कोंचोन-लापिएरे ने फ्रांसीसी अखबार को बताया कि 91 साल की उम्र में डोमिनिक लैपिएरे ने पेरिस में अंतिम सांस ली.

डोमिनिक लैपिएरे भारत में भी उतने ही लोकप्रिय थे जितने फ्रांस या अन्य देशों में. डोमिनिक का भारत से विशेष लगाव था और इसी लगाव के चलते भारत की आजादी पर उन्होंने 'फ्रीडम ऐट मिडनाइट' जैसी कालजयी कृति की रचना की. कोलकाता की रिक्शा चालक के जीवन पर आधारित उनके नॉवेल 'सिटी ऑफ जॉय' ने भी बहुत ही चर्चित रहा है. उनकी इसी लोकप्रियता को देखते हुए भारत सरकार ने 2008 में डोमिनिक लैपियरे को पद्म भूषण से सम्मानित किया था.

- **डोमिनिक लैपिएरे की चर्चित पुस्तकें**
  30 जुलाई, 1931 को जन्मे डोमिनिक लैपियर की कई रचनाएं बेहद चर्चित रही हैं. अमेरिकन लेखक लैरी कोलिन्स के साथ मिलकर लिखी छह पुस्तकों की लगभग 50 मिलियन प्रतियां बिकी हैं.

इनमें सबसे फेमस पुस्तक थी इज पेरिस बर्निंग (Is Paris Burning). भारत की आजादी पर उनकी पुस्तक 'फ्रीडम ऑफ मिडनाइट' भी बहुत चर्चित रही है. देश की आजादी के बारे में यह एक प्रमाणित पुस्तक मानी जाती है.
डोमिनिक लैपिएरे ने कोलकाता के एक रिक्शा चालक के जीवन पर आधारित पुस्तक 'सिटी ऑफ जॉय' भी लिखी. यह पुस्तक भारत में बहुत ही पॉपुलर रही है. सिटी ऑफ जॉय पर फिल्म भी बनी है. यह पुस्तक इतनी चर्चित रही है कि कोलकाता शहर "द सिटी ऑफ जॉय" के नाम से जाना जाने लगा. डोमिनिक लैपिएरे की 'बियोंड लव' (1990) और 'ए थाउजेंड सन्स' (1999) पुस्तकें अंतरराष्ट्रीय स्तर पर बेस्ट सेलर रही हैं.

****

उर्दू के मशहूर स्कॉलर गोपीचंद नारंग नहीं रहे

उर्दू में मशहूर नक़्क़ाद और स्कॉलर गोपीचंद नारंग नहीं रहे। कल उनका इंतकाल अमरीका के न्यूयार्क में हो गया। वह 92 वर्ष के थे। परिवार में पत्नी के अलावा बेटा है।
11 फरवरी 1930 को अविभाजित भारत में जन्मे नारंग उर्दू हिंदी की दुनिया के एक सितारे थे। आजादी के बाद उर्दू जुबान और तनक़ीद के विकास में अगर किसी एक शख्स का नाम लिया जाए तो वह गोपीचंद नारंग थे। शम्सुर रहमान फारुकी ,मोहम्मद हसन और गोपीचंद नारंग की तिकड़ी उर्दू तनक़ीद के तीन सितारे थे लेकिन

दुनियावी अर्थों में शोहरत और बुलंदी सबसे अधिक नारंग साहब को हासिल हुई। उनकी करीब 85 पुस्तकें आयी थीं।

वे उर्दू अकेडमी के उपाध्यक्ष, साहित्य अकादमी के उपाध्यक्ष फिर अध्यक्ष ही नहीं बने बल्कि उन्हें पद्म श्री और पद्ममभूषण से भी नवाजा गया और पूरी दुनिया में उर्दू जगत में उनका नाम बहुत था । वह पहले ऐसे आलोचक थे जिनको जितना मुल्क के भीतर जाना जाता था उतना भारत से बाहर भी। वे पाकिस्तान, अरब देश, अमेरिका और कनाडा में उर्दू समाज मे जाने जाते थे और उनकी अंतरराष्ट्रीय पहचान थी।

अमेरिका के दो विश्विद्यालय विस्कॉसिन और मिनेसोटा में वे अतिथि प्रोफेसर रहे और पाकिस्तान के भी दो दो अवार्ड मिले थे। भारत मे उन्हें ग़ालिब अवार्ड और इकबाल सम्मान से नवाजा गया था।

उनके पिता धर्मचंद नारंग भी एक लेखक थे और जब भारत पाक विभाजन हुआ तो क्वेटा में पहले दंगे के कारण उन्होंने अपने बेटे गोपीचंद को दिल्ली भेज दिया था। नारंग 1947 में ही भारत आ गए थे जबकि उनके पिता बाद में 1956 में भारत आए।

नारंग ने यहीं रहकर दिल्ली कॉलेज से आइए किया और उसके बाद सेंट् स्टीफन कॉलेज में उर्दू बढ़ाया और वह बाद में दिल्ली विश्वविद्यालय में उर्दू विभाग के रीडर और अध्यक्ष भी बने। वह जामिया में डीन और अतिथि प्रोफेसर बने।

उन्होंने जाकिर हुसैन की जीवनी लिखी तो अमीर खुसरो गालिब मीर बलवंत सिंह और फिर कृष्ण चन्द्र पर भी लिखी। कई भाषाओं के जानकार नारंग अंग्रेजी में भी फ़र्राट्स से लिख लेते थे। हिंदी के लेखको से भी उनका गहरा रिश्ता था और यही कारण था कि वह साहित्य अकादमी के उपाध्यक्ष और बाद में अध्यक्ष चुने गए।

****

JLF 2023: जयपुर लिटरेचर फेस्टिवल

जयपुर लिटरेचर फेस्टिवल का आयोजन 19 से 23 जनवरी के बीच गुलाबी नगरी जयपुर में किया जाएगा. नई दिल्ली के लीला पैलेस होटल में जेएलएफ के 16वें संस्करण की विधिवत घोषणा की गई और इस सम्मेलन में शिरकत करने के वाले लेखकों, कलाकारों के नामों का ऐलान किया गया. साहित्य का महाकुम्भ कहने जाने वाले जयपुर साहित्य महोत्सव में 20 भारतीय और 14 अंतर्राष्ट्रीय भाषाओं को जगह दी गई है.

जयपुर लिटरेचर फेस्टिवल के कर्टेन रेजर कार्यक्रम में लेखिका, प्रकाशक और जयपुर लिटरेचर फेस्टिवल की को-डायरेक्टर नमिता गोखले ने कहा कि इंटरनेशनल बुकर प्राइज से सम्मानित गीतांजलि श्री और उनकी अंग्रेजी अनुवादक डेजी रॉकवेल इस बार जेएलएफ में रहेंगी. उनके साथ बुकर विजेता श्रीलंकाई लेखक शेहान करुणातिलक, नोबेल विजेता अब्दुलरजाक गुरनाह और दूसरे बहुत से इंटरनेशनल और साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित लेखक जयपुर लिटरेचर फेस्टिवल से जुड़ रहे हैं. उन्होंने कहा कि हमारा प्रोग्राम विविध विषयों का एक गुलदस्ता है, जिसमें जिओपॉलिटिक्स, इतिहास, धर्म और अध्यात्म, गद्य, पद्य, वाद-विवाद, अपराध लेखन, जासूसी उपन्यास, थ्रिलर तक साहित्य के सारे रंग शामिल हैं. इसे 'जयपुर नोइर' कहा जा सकता है. जयपुर बुकमार्क भी पब्लिशिंग के नजरिये के साथ लौट आया है.

साहित्य अकादेमी युवा पुरस्कार 2022

क्र.सं.	भाषा	पुस्तक का नाम (विधा)	लेखक का नाम
1.	असमिया	चोकी अरु अन्यान्य गल्प (कहानी-संग्रह)	प्रद्युम्न कुमार गोगोई
2.	बाङ्ला	लिखे किछु होय ना (कविता-संग्रह)	सुमन पतारी
3.	बोडो	गां फुजानाय मासे दाउ (कहानी-संग्रह)	अलंबार मुसाहारि
4.	डोगरी	कठपुतली (कहानी-संग्रह)	आशु शर्मा
5.	अंग्रेज़ी	टेल्स ऑफ़ हज़ारीबाग – (एन इंटिमेट एक्सप्लोरेशन ऑफ़ छोटानागपुर प्लेटो (यात्रा-वृत्तांत)	मिहिर वत्स
6.	गुजराती	राजा रवि वर्मा (जीवनी)	भरत खेनी
7.	हिंदी	प्रमेय (उपन्यास)	भगवंत अनमोल
8.	कन्नड	नीलकुरिंजी (कहानी-संग्रह)	दादापीर जैमन
9.	कश्मीरी	ब्रांदे बरस पेठ (कहानी-संग्रह)	शाइस्ता ख़ान
10.	कोंकणी	ताळो (निबंध-संग्रह)	मायरन जेसन बार्रेटो
11.	मैथिली	खुरचनभाइक कछमच्छी (व्यंग्य-संग्रह)	नवकृष्ण ऐहिक
12.	मलयाळम्	मेज्हुकूथ्रिक्कू स्वन्थं थीप्पेत्ति (कविता-संग्रह)	अनघा जे. कोलाथ
13.	मणिपुरी	लोइयुम्बा (उपन्यास)	सोनिया खुन्द्रकपम
14.	नेपाली	देशको अनुहार (कविता-संग्रह)	रोशन राय 'चोट'
15.	ओड़िआ	लंथान (कहानी-संग्रह)	दिलीप बेहरा
16.	पंजाबी	पंजतीले (कविता-संग्रह)	संधू गगन
17.	राजस्थानी	अैनांण (कविता-संग्रह)	आशीष पुरोहित
18.	संस्कृत	श्रीमतीचरित्रम् (कविता-संग्रह)	श्रुति कानिटकर
19.	संताली	जनम दिसोम उजारोग काना (उपन्यास)	साल्गे हांसदा
20.	सिंधी	सिंधियत जी सुरहाणि (कविता-संग्रह)	हिना आसवाणी
21.	तमिळ	थानिथिरुक्कुम अराळिकालिन मथियम (कविता-संग्रह)	पी. कालीमुथु
22.	तेलुगु	यालई पूडसिंदी (कविता-संग्रह)	पल्लीपट्टू नागराजू
23.	उर्दू	गिरयाह (कविता-संग्रह)	मक़सूद आफ़ाक़

Update ! Upgrade ! Innovate !

- 1971 में एक बड़ी ज़बरदस्त हिट फिल्म बनी थी, 'हरे राम हरे कृष्ण'. हीरो थे देव आनंद और हीरोइन थीं ज़ीनत अमान. इसमें एक गाना था 'राम का नाम बदनाम ना करो'. इसके गीतकार थे आनंद बख्शी और संगीत दिया था राहुल देव बर्मन जी ने. रामनामी दुपट्टे लपेटे, चरस-गांजे का दम लगा रहे हिप्पियों के झुंड को संबोधित करते हुए देव आनंद गा रहे थे - "देखो ऐ दीवानो, तुम ये काम ना करो, राम का नाम बदनाम ना करो, बदनाम ना करो".

दिल्ली के जामिया नगर में जिस व्यक्ति ने अकारण गोली चलाकर एक छात्र को घायल कर दिया, उसने अपने फेसबुक अकाउंट में भगवान राम का नाम लिया है और यह भी कहा है कि उसकी अंतिम यात्रा में उसे भगवे में लपेट कर जय श्री राम के नारों के साथ ले जाया जाए. इससे मुझे 'हरे राम हरे कृष्ण' के इस गाने की बरबस याद हो आयी.

- हिप्पियों को यह भ्रम था कि 'हरे राम हरे कृष्ण' का जाप कर दिया तो उनका नशा सेवन या मुक्त यौनाचार सब माफ़ है. आजकल कुछ लोगों को यह भ्रम हो गया दिखता है कि कुछ भी कर के 'जय श्री राम' का नारा लगा देंगे तो सारे गुनाह माफ़. जून 2019 में झारखण्ड में जब तबरेज़ अंसारी को हिंसक भीड़ बांधकर क्रूरतापूर्वक पीट रही थी तो उससे ज़बरदस्ती 'जय श्री राम' और 'जय हनुमान' के नारे लगवाए गए थे. उससे पूर्व आम चुनाव के दौरान जब प्रकाश लकड़ा और तीन अन्य ईसाई आदिवासियों को पीटा जा रहा था तो उनके साथ भी यही सुलूक किया गया था. पश्चिम बंगाल में हाफ़िज़ मोहम्मद शाहरुख हल्दर को 'जय श्री राम' का नारा लगाने को कहा गया और जब उसने ऐसा नहीं किया तो उसे चलती ट्रेन से बाहर फेंक दिया गया. बुलंदशहर में इंस्पेक्टर सुबोध कुमार सिंह की हत्या के आरोपियों को जब ज़मानत मिली तो भीड़ ने उनका स्वागत 'जय श्री राम', 'भारत माता की जय' और 'वंदे मातरम' के नारों से किया. गुजरात दंगों के समय भी अनेक दंगाई 'जय श्री राम' के नारे लगा रहे थे.
- इन नारों को सबसे ज्यादा लगाने वाली पीढ़ी से एक-दो पीढ़ी पीछे वाले लोग जानते होंगे कि 'जय श्री राम' का प्रयोग कभी भी आम नहीं था. लोग अभिवादन के लिए 'जै राम जी की', 'जै सिया राम', या 'राम राम' बोला करते थे. फ़ौज में राजपूताना राइफल्स का अभिवादन 'राम राम' रहा है. इनका युद्धघोष भी 'राजा रामचंद्र की जय' है. 1987-88 में रामानंद सागर जी के अतिप्रसिद्ध टीवी सीरियल रामायण में हनुमान जी और अन्य के द्वारा 'हर हर महादेव' के साथ 'जय श्री राम' का युद्धघोष के रूप में प्रयोग किया गया. इसके बाद यह लोगों की जुबान पर चढ़ गया. फिर तो आप जानते ही हैं कि कैसे इसका प्रयोग रामजन्मभूमि आन्दोलन में किया गया. 'हर हर महादेव' युद्धघोष के रूप में बहुत समय से प्रचलित था. पूरे विश्व में केवल बनारस में यह अभिवादन के रूप में या प्रसन्नता व्यक्त करने में भी प्रयोग किया जाता है.
- यानी यह माना जा सकता है कि 'जय श्री राम' का प्रयोग अभिवादन के रूप में प्रचलन में नहीं था. न ही इसका प्रयोग खुशी जाहिर करने के लिए किया जाता था. आपके लोग ज़मानत पर छूट गए, आप खुश हैं, ठीक है. पर खुशी में 'जय श्री राम' कब कहा जाता था? आप 'भारत माता की जय' और 'वंदे मातरम' जब चाहें तब कहने को स्वतंत्र हैं. पर हम देशभक्ति की बात तब करते हैं जब किसी अन्य देश की तुलना में बात हो रही हो. हमारे सैनिकों ने कहीं दुश्मन के खिलाफ पराक्रम दिखाया हो या हम कोई मुकाबला जीत गए हों, तब ये नारे लगाये जाएं तो उनका कोई औचित्य है. हत्या के आरोपियों को ज़मानत मिल गयी, यह आपकी व्यक्तिगत खुशी का अवसर हो सकता है, इसमें आप देशभक्ति को या धर्म को बेमतलब कैसे घसीट सकते हैं? इस पर चाहें तो यह कुतर्क दिया जा सकता है कि हत्या धर्म और देश की रक्षा के लिए ही तो की गई थी.

'जय श्री राम' का युद्धघोष या ललकार के रूप में उपयोग हालिया ही है. बावजूद इसके कि भगवान राम पर या उनकी जय-जयकार करने पर किसी का कॉपीराइट नहीं है, कुछ लोगों ने यह मान लिया है कि यह नारा उनके हिन्दू होने या 'शक्तिशाली हिन्दू' होने का प्रतीक है. एक राजनीतिक पार्टी विशेष इस अवधारणा का समर्थन करती है. आज जितने भी लोग अपराध करते समय या आपराधिक गतिविधियों के प्रसंग में जब 'जय श्री राम' का नारा लगाते हैं तो उसके पीछे उनका असली उद्देश्य यह दिखाना होता है कि वे न केवल 'शक्तिशाली हिन्दू' हैं बल्कि उस राजनैतिक पार्टी और उसकी विचारधारा का प्रतिनिधित्व भी करते हैं.

- कहने की ज़रूरत नहीं कि इन लोगों का भगवान राम के आदर्शों से कोई लेना-देना नहीं है. नागरिकता क़ानून को लेकर इतने समय से विरोध हो रहा है. मामला शरणार्थियों को नागरिकता देने से सम्बंधित है. जो लोग दिन-रात भगवान राम की दुहाई देते नहीं थकते, क्या वे जानते हैं इस विषय में स्वयं भगवान राम का क्या आदर्श है? सुन्दरकाण्ड में प्रसंग है, जब विभीषण भगवान राम के पास शरण मांगने आया तो भगवान ने इस पर सुग्रीव की राय जाननी चाही. सुग्रीव ने कहा कि राक्षसों की माया कौन जाने, उन्हें तो वह रावण का जासूस लगता है और उसे बांध देना चाहिए. "जानि न जाई निसाचर माया, कामरूप केहि कारन आया". "भेद हमार लेन सठ आवा, राखिअ बांधि मोहि अस भावा".
- इसके उत्तर में भगवान ने घोषणा की, 'मम पन सरनागत भयहारी'. मेरा प्रण है, शरणागत के भय को हर लेना. भगवान ने आगे कहा, "सरनागत कहुं जे तजहिं निज अनहित अनुमानि, ते नर पांवर पापमय तिन्हहि बिलोकत हानि". मतलब, जो मनुष्य अपने अहित का अनुमान करके शरण में आये हुए का त्याग कर देते हैं, वे पामर (क्षुद्र) हैं, पापमय हैं, उन्हें देखने से भी पाप लगता है! भगवान कहते हैं, "जौं सभीत आवा सरनाई, रखिहऊं ताहि प्राण की नाईं". अर्थात, जो भयभीत होकर मेरी शरण में आया है, तो मैं उसे प्राणों की तरह रखूंगा. इस पर प्रसन्न होकर हनुमान जी 'जय कृपाल' कहते हुए विभीषण को लाने चल देते हैं.

और यहां क्या होने जा रहा है? हम अपनी दया को भी धर्म के आधार पर बांटेंगे? अगर आपके सामने दो भूखे प्राणी खड़े हों और आपके पास दोनों को देने के लिए भोजन हो, तो क्या आप उनसे उनका धर्म पूछकर उन्हें भोजन देंगे, और धर्म विशेष के भूखे को भोजन ही नहीं देंगे भले उसके प्राण निकल रहे हों? ये तो मित्रो, भगवान राम के आदर्श नहीं हैं. भगवान को तो करुणानिधान कहते हैं. विभीषण ने भगवान को देखते ही कहा, "त्राहि त्राहि आरत हरन सरन सुखद रघुवीर". हे दुखियों के दुःख दूर करने वाले और शरणागत को सुख देने वाले श्री रघुवीर, मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये.

- भगवान ने स्पष्ट कहा है, "निर्मल मन जन सो मोहि पावा, मोहि कपट छल छिद्र न भावा". जो मनुष्य निर्मल स्वभाव का होता है, वही मुझे पाता है. मुझे कपट और छल छिद्र नहीं सुहाते. भगवान राम न तो गगनचुंबी मंदिर बनाने से प्रसन्न होंगे और न बेमतलब 'जय श्री राम' के नारे लगाने से. उनके आदर्शों का अनुसरण करने से प्रसन्न होंगे.
- यहां नागरिकता क़ानून के कानूनी या संवैधानिक पहलुओं पर बात नहीं हो रही है. उस पर अभी सर्वोच्च न्यायलय का फैसला आना शेष है. यहां केवल नैतिकता की बात हो रही है. हमारी करुणा 'सिलेक्टिव' नहीं होनी चाहिए. इस सारे प्रकरण में यह महत्वपूर्ण नहीं है कि कुछ लोगों को नागरिकता मिलेगी या नहीं. महत्वपूर्ण यह है कि जो भी किया जाये, उससे हमारी नैतिकता को और भगवान राम के नाम पर उनके महान आदर्शों को ठेस नहीं पहुंचनी चाहिए.

जयपुर लिटफ़ेस्ट जैसे साहित्य समारोह में भारतीय भाषायें अल्पसंख्यक क्यों हैं?

- जयपुर लिटरेचर फ़ेस्टिवल संसार का सबसे बड़ा साहित्य समारोह समझा-माना जाता है और उसकी यह कीर्ति अकारण नहीं है. उसके तीन पक्ष हैं. पहला कि वह साहित्य को सिर्फ़ रचनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य तक सीमित करने के बजाय भाषा में किये गये सभी कर्मों अर्थात् चिंतन, इतिहास, पुरातत्व, सिद्धांत, पत्रकारिता, राजनैतिक,धर्म, दर्शन आदि को शामिल करता है. दूसरा जितनी बड़ी संख्या में उसमें वक्ता संसार भर और भारत से बुलाये जाते हैं उतने कहीं और नहीं. तीसरा कि उसमें श्रोताओं-दर्शकों की संख्या पांच दिनों में लगभग पांच लाख होती है जितनी, जहां तक जानकारी है, किसी और ऐसे समारोह में नहीं आती. चौथा पक्ष यह भी है कि इस समारोह में प्रमुखता उनकी है जो अंग्रेज़ी में बोलते-लिखते हैं. दुर्भाग्य से, हिंदी और अन्य भारतीय भाषाएं इस समारोह में अल्पसंख्यक ही हैं. अपवाद छोड़कर उनके सत्रों में भीड़ भी नहीं होती.
- इस बार भी बेहद भीड़ थी और समारोह स्थल में जाना और उसके द्वार तक पहुंचना मुश्किल का काम था. चलना बहुत पड़ता है और फिर ज़्यादातर वक़्त किसी भी सत्र में बैठने की जगह नहीं मिलती. इस बार मैंने कई सत्र खड़े होकर ही सुने. खड़े लोगों की संख्या अब तो बैठे हुओं के बराबर होने लगी है. वक्तव्य, बातचीत, बहस आदि के विषयों में बहुत विविधता थी. इस बार तथाकथित दक्षिणपंथियों को अधिक जगह दी गयी और उनमें से एकाध तो सात-आठ सत्रों में मुखर थे. यह भी अलक्षित नहीं जा सकता कि इस बार वाम दृष्टिवाले लोग बहुत कम, लगभग न के बराबर थे. भले उनका राजनैतिक अवमूल्यन हो गया हो, इससे इनकार करना मूर्खता होगी कि बुद्धि, ज्ञान और सृजन के क्षेत्र में इस दृष्टि ने हमें अनेक मूर्धन्य और उल्लेखनीय लोग दिये हैं जो अब भी, विपरीत परिस्थिति में सक्रिय हैं.
- दूसरी ओर, यह भी सही है कि बहुत सारे वक्ता वर्तमान की समीक्षा करते हुए मुखर और निडर होकर बोले. अगर साहित्य और बुद्धि, ज्ञान और सृजन उसके प्रयोक्ताओं को निर्भय न करें तो वह उनको निर्भय कैसे कर सकता है जो उससे प्रभावित या प्रतिकृत होते हैं? ऐसे बड़े समारोह अपनी गहमागहमी और उत्तेजना के बावजूद थकाऊ भी होते हैं. पर बीच-बीच में ऐसे कुछ युवा भी मिलते रहे जो आपके साहित्य से परिचित हैं और उनमें से कई ने मेरे हाल के प्रकाशित कविता संग्रह पढ़ रखे हैं. युवाओं की बड़ी संख्या, जो कुछ दिन तो अपार लगती थी, समारोह को पिकनिक मानकर उसमें आती हैं. उनमें से अधिकांश का अंग्रेज़ी के प्रति आकर्षण अब भक्ति के स्तर पर पहुंच रहा है. उनमें से अधिकांश अपनी मातृभाषा को तजते युवा लगे. समारोह के अंतर्गत जो बड़ी पुस्तकों की दूकान है उसमें अंग्रेज़ी पुस्तकें ही बहुत थीं और वही बिकीं. हिंदी की पुस्तकें एक छोटे से रैक में थीं और उन्हें इस क़दर उलटा-पुलटा गया था कि वे बेतरतीब और अनाकर्षक ही दिख रही थीं. हो सकता है कि रहे हों पर, दुर्भाग्य से, मुझे एक भी ऐसा विदेशी वक्ता नहीं मिला जिसे भारतीय भाषाओं में लिखे जा रहे को लेकर कोई जिज्ञासा हो. भारतीय भाषाओं की इस अदृश्यता को लेकर मेरी ही तरह क्षुब्ध थे, बांग्ला और अंग्रेज़ी के उपन्यासकार कुणाल सेन.

जयपुर में लाठ

- जयपुर में दर्शनीय ऐतिहासिक स्थल कई हैं और जवाहर कला केंद्र जैसी चार्ल्स कोरिया द्वारा आकल्पित इमारत भी. पर हम जैसों के लिए जयपुर का एक अधिकतर अनदेखा-अनजाना स्तंभ, लाट है, कवि-चिंतक-अनुवादक और अप्रतिम कलासंग्राहक मुकुंद लाठ और उनका घर जो आधुनिक कला का एक निजी संग्रहालय है. शायद ही भारत में किसी और व्यक्ति के पास पचास से अधिक वर्षों के दौरान संग्रहीत ऐसी कलाकृतियां हैं जो मुकुंद जी के निजी संग्रह में हैं. हम लोग जब लिटफ़ेस्ट की चिन्ता छोड़कर एक दिन सुबह उनके यहाँ गये तो फ्रेंच कलाविदों का एक दल, विशेष रूप से, उनका संग्रह देखने आया हुआ था। उनके घर का एक बड़ा हिस्सा बहुत ही सुकल्पित कथावीथिका है जिसमें उनके संग्रह का एक बड़ा भाग सुरुचि और समझ से प्रदर्शित है. उनके पास पुस्तकों का भी एक

नायाब संग्रह है जो भी इस वीथिका का हिस्सा है. अनेक कक्षों में फैली इस वीथिका में गणेश पाइन, जोगेन चौधरी, परितोष सेन, लक्ष्मा गौड़, जामिनी राय, सनत कर, सोमनाथ होर, नन्दगोपाल, मक़बूल फ़िदा हुसेन, रज़ा, जार्ज कीट आदि की बहुत रुचि से चुनी गयी कलाकृतियां हैं. संचयन मे बंगाल की प्रधानता है क्योंकि मूलतः तो मुकुंद जी कोलकाता के ही हैं.

- मुकुंद जी संस्कृति, भारतीय परम्परा, संगीत, सौंदर्यशास्त्र आदि पर दशकों से बड़े अध्यवसाय से विचार करते रहे हैं. अभी हाल में उनके निबंधो का एक संचयन 'भावन' नाम से रज़ा पुस्तकमाला के अंतर्गत राजकमल प्रकाशन से आया है. वे इन दिनों वेद के हिंदी अनुवाद में लगे हैं. बहुत कम निकलते हैं. घर पर ही काम करते, रोज़ शास्त्रीय गायन करते रहते हैं. उन्होंने बरसों पंडित जसराज से संगीत सीखा है. हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत पर उनका चिंतन वैसे भी अद्वितीय और अतुलनीय है। उनकी विनम्रता, मनोयोग, अध्यवसाय और जिजीविषा सभी अदम्य है। उनक अपनी प्राथमिकताएँ हैं और उन्हें उनसे विरत कर किसी और विषय पर बुलवाना या लिखवाना बहुत कठिन होता है. पर अगर आप उनके चल रहे काम में रुचि लें तो फिर वे सहयोग, उदार होकर, करते हैं. मैंने 'पूर्वग्रह' के ज़माने से उनसे बहुत बार इसी हिकमत का इस्तेमाल कर लिखवाया-बुलवाया है. उनके जैसा सहज और हंसमुख वक्ता हिंदी में दूसरा नहीं है. यह कहने का मन होता है कि जिसने मुकुंद लाठ की कला संपदा नहीं देखी और जो उनसे मिला नहीं उसने जयपुर नहीं देखा. जयपुर सिर्फ़ अतीत वैभव नहीं है और न ही वर्तमान राजस्थानी रंगबिरंगापन: वह मुकुंद लाठ की गहरी विद्वत्ता, कलासंग्रह और सृजनशीलता भी है.

इधर-उधर

- लेखकों, कलाकारों, बुद्धिजीवियों आदि की जीवनियों में मेरी पुरानी दिलचस्पी है और मुझे जब ऐसी कोई जीवनी मिल जाये, ज़रूर खरीद लेता हूं. इस बार जयपुर लिटफ़ेस्ट की दूकान में बेंजामिन मोज़र द्वारा लिखी गयी अमरीकी लेखक-बुद्धिजीवी सूसान सौण्टैग की जीवनी मिली जो 'सौण्टैग: हर लाइफ़' नाम से एलेन लेन ने प्रकाशित की है. नीदरलैण्ड और फ्रांस में रहनेवाले लेखक ने इससे पहले ब्राज़ीली उपन्यासकार क्लेरिन्स लिस्पेक्टर की जीवनी भी लिखी है. एक तरह से वे जीवनीकार-लेखक हैं. बहरहाल, सौण्टैग की जीवनी 820 पृष्ठों की है. उसमें 100 से अधिक पृष्ठों की सन्दर्भसूची है. ऐसी सुशोधित और सुसन्दर्भित जीवनी हिन्दी में शायद एक भी नहीं है. न जाने क्यों सन्दर्भ को अज्ञात या अप्रगट रखने का चलन हमारे यहां इस क़दर है.
- इस जीवनी के मुखड़े के रूप में सौण्टैग के साथ एक प्रश्नोत्तर दिया गया है जो इस प्रकार है:
- प्रश्न: क्या तुम हमेशा सफल होती हो?
- उत्तर: हां, मैं तीस प्रतिशत बार सफल होती हूं.
- प्रश्न: तब तुम हमेशा सफल नहीं होतीं?
- उत्तर: हां, मैं होती हूं. समय के तीस प्रतिशत में सफल होना हमेशा होना है.
- एक और पुस्तक हाथ लगी पास्काल वियनार की. 'दि रोविंग शैडोज़' जो फ्रेंच से अनूदित है और सीगल द्वारा प्रकाशित है. पढ़ने और लिखने पर एक संहिता की तरह पठनीय इस पुस्तक की संरचना सांगीतिक है और उसमें ऐतिहासिक प्रसंगों, पूर्व और पश्चिम की लोकथाओं, मिथकों के अंशों आदि को बहुत ही उदग्र कल्पनाशीलता से गूंथा गया है.
- 'नंगे पांव शिक्षक' शीर्षक छोटे से अध्याय में लिखा गया है. 'एक रहस्यपूर्ण नंगे पांव शिक्षक का उतना ही रहस्यमय उपदेश है. ईश्वर एक अंधेरा है. जब सब प्रकाश चला जाये तो वह अचानक अंधेरा है जो आत्मा में निवेश करता है'. एक ओर अध्याय का एक अंश यों है: 'मैंने धरती की तीर्थ यात्राएं की हैं. अतीत को संचित करने के लिए नहीं बल्कि भूतपूर्व के संकतों के लिए. हम दरिद्र पहेलियां हैं.

पहेली वह प्रश्न होती है जो ऐसा उत्तर न्योतती है जिसने उसे रचा है. उत्तर जिसने रचा है बीत चुका. अटकल लगाने वाला जानता है कि उत्तर हमेशा अतीत होता है.'

- एक ओर इन्दराज़ है: 'कला सिर्फ़ पुनर्जन्म जानती है. प्रकृति उद्गम है. कला कभी उस नन्हें प्रस्फुटन से बड़ी नहीं होती जो वसंत में शाखाओं से हलके सफ़ेद कलियों का होता है.'

जयशंकर प्रसाद साहित्य जगत के बुद्ध थे

- कुछ एक शहरों के लिए कहा जा सकता है कि वे एक जगह थमे हैं तो उतने प्रवाहमान भी हैं. बनारस इन्हीं में से एक है. अपनी सांस्कृतिक पहचान, जिसमें उसका भदेसपन शामिल है, के साथ यह आज भी थमा सा लगता है. लेकिन इन तत्वों को जीवंत बनाते हुए वह प्रवाहमान भी है. थमे होने के बीच का यह प्रवाह ही सुरताल और कविता का रास्ता बनाता है. हो सकता है जयशंकर प्रसाद की अदृश्य प्रेरणा यही हो, न हो तो भी पक्के तौर पर कहा जा सकता है कि बनारस में जन्मे और पूरा जीवन यहीं बिता देने वाले प्रसाद आत्मा से कवि थे.
- जयशंकर प्रसाद भारतेंदु हरिश्चंद्र के अलावा बनारस में पैदा हुए दूसरे ऐसे साहित्यकार हैं जो पूरे हिंदी भाषी भारत में सबसे जानामाना नाम हैं. भारतेंदु की तरह उन्होंने भी साहित्य की विभिन्न विधाओं को एक साथ साधा और नए आयाम दिए. उनका रचना क्षेत्र नाटक, कहानी और कविता लेखन रहा बस अंतर यह है कि भारतेंदु की तरह पत्रकारिता या पत्रकारिक लेखन उन्होंने नहीं किया.
- और इस सबसे भी ऊपर कहीं मृत्यु, दर्द और शोक से सारे जीवन लड़ते और जूझते प्रसाद साहित्य के बुद्ध थे. बुद्ध की तरह ही रोग, शोक और मृत्यु के प्रश्न उन्हें जीवनभर व्यथित और परेशान करते रहे. अगर जयशंकर प्रसाद के व्यक्तित्व के मूल तत्वों और रसायनों को टटोला जाए तो कुल जमा ये तीन बातें या कि गुण ही थे, जो उन्हें प्रसाद बनाते थे. जैसे बनारस ज्ञान, भोग और भक्ति का अद्भुत संगम है; प्रसाद ज्ञान, अध्यात्म और देश-भक्ति का संगम थे.
- वैराग्य के रास्ते पर आना प्रसाद के लिए अनायास नहीं था. देश के हालात, पारिवारिक मुश्किलें और संकट जिसमें अपनों की असमय मृत्यु (सत्रह साल की उम्र में मां और बड़े भाई, फिर पिता और पत्नी की मृत्यु) से उपजा भावनात्मक खालीपन भी शामिल था, से जूझते हुए जयशंकर प्रसाद ने पत्नी की मृत्यु के बाद संन्यासियों का बाना ओढ़ लिया था.
- जीवन नश्वर है, देह नश्वर है, साथ चलने और जानेवाला कोई नहीं होता, इस बोध ने उनको संन्यास की तरफ उन्मुख किया पर शायद उन्हें लगता था कि वे बुद्ध के रास्ते पर नहीं चल सकते. आश्रयहीन परिवार, संपत्ति लूटने को तैयार बैठे नाते-रिश्तेदार और अकेली बची विधवा भाभी की जिम्मेदारी उनके सिर पर थी और इनसे मुंह चुराना उनके लिये संभव नहीं हो पाया. संन्यास अपनाने के बाद वे बुद्ध की तरह एक बार घर लौटे तो अपनी असहाय भाभी के अनुरोध को ठुकरा नहीं सके और उनके कहने पर सांसारिकता में लौट आए. हालांकि उनका यह लौटना भी सिर्फ लिखने और देश की खातिर था.
- इसके बाद उन्होंने जो रचा उसमें जनता में जागृति भरने वाले कुछ नाटक और कुछ उपन्यास थे. दुनियावी लोगों के हिसाब से प्रसाद संन्यास त्यागकर लौटे व्यक्ति हो सकते हैं लेकिन उनका रचनाकर्म इसका परिचय देता है कि जिसने संन्यास छोड़ा वह उनका कर्तव्य प्रेरित तन था, मन तो वहीं कहीं अटका रह गया था. संन्यास की गुफाओं में, साधुओं की संगति में, जहां-तहां निरुद्देश्य घूमने के बंजारेपन में. 'ओ चिंता की पहली रेखा', 'आह वेदना मिली विदाई', और 'ले चल मुझे भुलावा देकर, मेरे नाविक धीरे-धीरे' इसी मन

से उपजे गान हैं. इन रचनाओं में सिर्फ गहरे भाव ही नहीं थे. कर्णप्रियता और शब्दों की मिठास व चयन इन्हें और ऊंचा दर्जा देती है. जैसे -

- 'ले चल मुझे भुलावा देकर, मेरे नाविक धीरे-धीरे जिस निर्जन में सागर लहरी, अम्बर के कानों में गहरी, निश्छल प्रेम कथा कहती हो, तज कोलाहल की अवनी रे...'
- संन्यास अपनाने के बाद वे बुद्ध की तरह एक बार घर लौटे तो अपनी असहाय भाभी के अनुरोध को ठुकरा नहीं सके और उनके कहने पर सांसारिकता में लौट आए
- इस रचना के कारण कई आलोचकों ने प्रसाद को पलायनवादी भी कहा. लेकिन एक दूसरे आयाम से देखें तो यह पलायन नहीं था. यह एक ऐसे लोक की कामना थी, जहां दुख नहीं था द्वेष और प्रतिस्पर्धा नहीं थी, मुक्ति थी. यह एक 'आदर्शलोक', एक यूटोपिया की कामना थी. यह दुख, दीनता और गुलामी से रहित एक ऐसे समाज का सपना था जिसकी कल्पना हर लेखक करता है. रवींद्रनाथ टैगोर ने भी तो लिखा था - 'वेयर देयर माइंड इज विदाउट फीयर ...' प्रकट में साफ-साफ न कहते हुए-हुए यह अपने आजाद देश की कामना थी. उसके सपनों को लोगों के दिल में भरना और बचाए रखने की कोशिश थी यह.
- देशप्रेम और देशचिंता प्रसाद की नाटकों के मूल में हमेशा रही. उनके नाटकों की ही अगर बात की जाए तो 'कामना' और घूंट' को छोड़कर सभी नाटकों (इनमें ध्रुवस्वामिनी, चंद्रगुप्त, स्कंदगुप्त आदि काफी लोकप्रिय हैं) के केंद्र में देशप्रेम ही था. प्रसाद ने अपने पूरे जीवन-काल में तेरह नाटक लिखे, जिनमें से आठ ऐतिहासिक थे और तीन पौराणिक. नाटकों की विषयवस्तु के रूप में उन्होंने महाभारत की कथाओं से लेकर हर्षवर्धन तक के काल को समेटा. प्रसाद ने पारसी रंगमंच के प्रभाव को ठुकराते हुए युवाओं के लिए अपने देश के अतीत से जुड़ी कथाओं को सामने रखा. यहां न सिर्फ अतीत था बल्कि आज उस अतीत से ली जानेवाली प्रेरणाएं भी शामिल थीं.
- प्रसाद के नाटकों के गीत भी नाटकों में प्रयुक्त होने वाले संवादों की तरह बेहद पुरअसर होते थे. दिल में कहीं गहरे घर कर जानेवाले, उसमें उमंग और उल्लास जगाने वाले. 'अरुण यह मधुमय देश हमारा.' और 'हिमाद्री तुंग—श्रृंग से, प्रबुद्ध-शुद्ध भारती' जैसे गीत इन्हीं खूबियों के चलते इतने वर्षों बाद भी उतने ही प्रसिद्ध और लोकप्रिय हैं. देशभक्ति में पगी ऐसी कालजयी रचनाएं तब तक संभव नहीं हैं जबतक रचनाकार का मन खुद देशमय न हो गया हो. यह एक संन्यासी मन की अंतिम प्रतिबद्धता थी. प्रसाद के नाटकों पर आलोचकों का एक आरोप यह रहा कि इन्हें अभिनीत करना आसान नहीं है. लेकिन इसका सबसे बड़ा जवाब यही है कि ये नाटक दशकों से मंचित हो रहे हैं और यह क्रम आज तक जारी है.
- प्रसाद के नाटकों पर आलोचकों का एक आरोप यह रहा कि इन्हें अभिनीत करना आसान नहीं है. लेकिन इसका सबसे बड़ा जवाब यही है कि ये नाटक दशकों से मंचित हो रहे हैं और यह क्रम आज तक जारी है
- सीमित अर्थों में राष्ट्र और राष्ट्रवाद को आंकने वाले लोगों के लिए प्रसाद एक राष्ट्रवादी लेखक हो सकते हैं, प्रबल राष्ट्रवादी भी. लेकिन जिस दौर में वे थे उस समय राष्ट्रवाद उस प्रचलित अर्थ में नहीं था जैसा कि आज है. धर्म को भी आज जितने संकीर्ण नजरिए से नहीं देखा जाता था. याद रखने वाली बात है कि उसी दौर में 'गणेश-पूजा' और तमाम धार्मिक उत्सव लोगों को एकत्रित होने, संगठित होने और जागरूक होने के साथ-साथ देश के स्वतंत्रता हासिल करने के अभियान को गति देने का कारक होते थे. ऐसे में राष्ट्रवादी होना और प्रसाद की तरह राष्ट्रवादी होना, उस समय और समाज की पहली जरूरत थी.

- छायावाद के चार स्तंभों में से एक प्रमुख स्तंभ, जयशंकर प्रसाद अपने कहानी लेखन और उपन्यास लेखन में नाटक लेखन से ज्यादा आधुनिक थे. एक कथाकार के रूप में प्रेमचंद के समकालीन होते हुए भी उन्होंने प्रेमचंद की तरह एकरेखीय और आदर्शवादी कहानियां नहीं लिखीं. उनकी कहानियों में द्वन्द, भावनाएं, मनोविज्ञान और मन के भीतर के विचलन सब आकार लेते थे. यह अलग बात है कि कहानीकार के रूप में उन्हें वह उचित प्रतिष्ठा नहीं मिल पाई. यह त्रासदी हर उस बड़े रचनाकार की है जो एक साथ कई विधाओं में काम करता है. होता यह है कि एक विधा की प्रसिद्धि आपकी दूसरे विधाओं की प्रतिभा को ढांप लेती है. 72 कहानियां लिखनेवाले प्रसाद की पहली कहानी 'ग्राम' 1912 में 'इंदु' जैसी प्रतिष्ठित पत्रिका में प्रकाशित हुई थी. आकाशदीप, गुंडा, पुरस्कार और 'स्वर्ग के खंडहर' प्रसाद की प्रसिद्ध प्रेम कहानियां हैं, जिनमें वे भावनाओं की सघनता से गुजरते हुए यथार्थ और समस्याओं की तरफ मुड़ते दिखते हैं.
- उपन्यासों की उनकी तिकड़ी (कंकाल, तितली और इरावती) में 'इरावती' वह उपन्यास है जो उनकी मृत्यु के वक़्त अधूरा ही था. मात्र 48 साल की उम्र में (जन्म - 30 जनवरी , 1889 | मृत्यु - 14 जनवरी 1937) इस लेखक ने जो हिंदी साहित्य को सौंपा, वह अतुलनीय ही नहीं है, अभी पूरी तरह से उसका मूल्यांकन तक नहीं हो पाया. इसे एक लेखक के जीवन की घनघोरतम त्रासदी के सिवा और क्या कहा जा सकता है?
- जयशंकर प्रसाद की प्रतिभा का शिखर 'कामायनी' को माना जा सकता है. इसकी मूल पंक्तियां 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' स्त्री की स्थिति, उसके संघर्ष और उसे आदर देने की कोशिश में आज भी रूपक की तरह इस्तेमाल होती हैं. इस रचना को कवि सुमित्रानंदन पंत ने 'हिंदी का ताजमहल' कहकर मान और गौरव दिया है और जाहिर है कि यह दुर्लभ सम्मान सिर्फ रचना ही नहीं उसके रचनाकार के हिस्से में भी है.

नज़ीर अकबराबादी : जिनके कृष्ण और शिव पर लिखे गए गीत आज भी लोगों की जुबान पर हैं

- ब्रज के इलाकों में घूम आइये. मंदिरों में, गलियों में, घरों में बड़े-बूढ़े जवान, बच्चे और फ़कीर कृष्ण के गीत गाते मिल जाएंगे. ये किसने बनाए? कब बनाए? पहले इन बातों को जानना ज़रूरी नहीं था. क्योंकि फ़र्क नहीं पड़ता था, अब पड़ता है. तो साहिबे-मसनद, जैसा कि होता ही है इन गीतों और कविताओं में कई रचनाएं ऐसी हैं जो एक मुसलमान शायर की जुबान से निकली हैं. जिसका नाम है नज़ीर अकबराबादी. अच्छा अगर बता दिया जाए तो क्या उन गीतों को हटवा देंगे?
- जो नज़ीर अकबराबादी को नहीं जानते, उन्हें बताने का फ़र्ज़ बनता है कि वे अमीर ख़ुसरो, मलिक मुहम्मद जायसी या रसखान की परंपरा वाले हैं. मिली-जुली तहज़ीब के सबसे मुकम्मल हस्ताक्षरों में से एक भी. हर मौज़ूं पर, हर छोटी-बड़ी बात पर लिखने वाले थे नज़ीर अकबराबादी. **'बंजारानामा'** और 'रोटियां' जैसी कालजयी नज्में रचने वाले थे नज़ीर अकबराबादी.

नज़ीर से जुड़ी बुनियादी बातों की सच्चाई क्या है?

- नज़ीर अकबराबादी का असली नाम वली मुहम्मद और उपनाम 'नज़ीर' था. 'नज़ीर' के साथ उन्होंने 'अकबराबादी' जोड़ लिया. उनकी जन्मतिथि को लेकर विद्वानों में मतभेद है. लेकिन अधिकतर 1735 में उनका जन्म हुआ मानते हैं. उनके क़लाम पर पहले शोधकर्ता प्रोफ़ेसर अब्दुल गफ़ूर शहवाज़ के समय तक नज़ीर की नवासी विलायती बेगम जिंदा थीं. उन्होंने 'ज़िंदगानी बेनज़ीर' के लिए काफ़ी कुछ सामग्री दी. पर जन्म का दिन और महीना उन्हें भी नहीं मालूम था. विकीपीडिया भी ख़ामोश है. पर आगरा के लोग बताते हैं कि

उनका जन्म 1735 में बसंत पंचमी को हुआ था और हर साल उस दिन को उनकी मज़ार पर लोग फूल चढ़ाने आते हैं. गूगल में उस साल का कैलेंडर खंगालें तो तारीख मिलती है 29 जनवरी, 1735.

- अब बात थी जन्मस्थान की. सो यहां भी स्थिति साफ़ नहीं. लोग बंटे हुए हैं. प्रोफेसर शहवाज़, मखमूर अकबराबादी, फ़रतुल्लाह बेग और कई अन्य विद्वान दिल्ली को नज़ीर का पैदाइशी शहर मानते हैं. 'कुल्लियाते नज़ीर' लिखने वाले मौलाना अब्दुलवारी आसी एक साक्षात्कार में कहते हैं, 'नज़ीर शहर देहली (दिल्ली) में 1735 में पैदा हुए. बड़े पुरआशोब (उथल-पुथल से भरे) ज़माने में होश संभाला. 1748 से लेकर 1764 तक दिल्ली पर अहमद शाह अब्दाली के तीन हमले हुए थे. इसलिए नज़ीर अपनी मां और नानी के साथ 22-23 साल की उम्र में तर्के-वतन ((छोड़ना) पर मजबूर हुए और आगरा में मिठाई पुल के पास रहने लगे.'
- दूसरी तरफ़ शेफ़्ता, डॉ गुरमुख राम टंडन और मैकश अकबराबादी जैसे कुछ विद्धान नज़ीर की पैदाइश आगरा में मानते हैं. इसके पीछे उनकी सोच है कि नज़ीर की मां आगरा के किलेदार की बेटी थीं और फिर उनका तख़ल्लुस 'अकबराबादी' (आगरा का दूसरा नाम) था. पर प्रोफ़ेसर शहबाज़ के शोध के आधार पर दिल्ली को उनका जन्मस्थान माना जाता है. यह बात अलग है कि नज़ीर को आगरा से बेइंतिहा मुहब्बत थी. उन्होंने लिखा भी है:

'आशिक कहो, असीर कहो, आगरे का है,
मुल्ला कहो, दबीर (लेखक) कहो, आगरे का है
मुफ़लिस कहो, फ़क़ीर कहो, आगरे का है
शायर कहो, नज़ीर कहो, आगरे का है.'
उनकी मौत को लेकर भी एकराय नहीं है. बकौल प्रोफेसर शहबाज़ जब नज़ीर मरे तो उनकी उम्र नवासी की थी. ख़ुद नज़ीर का अपने पर शेर है.
'ए यार सौ बरस की हुई अपनी उम्र आकर
और झुर्रियां पड़ी हैं सारे बदन के ऊपर'.

- पहले 90-95 की उम्र के आदमी को 100 बरस का मान लिया जाता था. मिर्ज़ा फ़रतुल्लाह बेग ने नज़ीर की मृत्यु का दिन 26 सफर 1246 हिजरी यानी एक अगस्त 1830 माना है. वहीं इंतज़ाम उल्लाह शहाबी इसे 16 अगस्त 1830 मानते हैं. 'नज़ीर ग्रंथावली' के संपादक डॉ नज़ीर मुहम्मद लिखते हैं, '1827 में उन्हें लकवा हुआ और तीन साल बाद एक अगस्त 1830 को इनका इंतकाल हो गया. जनाज़े की नमाज़ शिया और सुन्नियों ने अपने-अपने ढंग से पढ़ी. जनाज़े की चादर हिंदू भी ले गए. घर के पेड़ों की ही छाया में नज़ीर को दफ़नाकर मज़ार बना दिया गया.'

गंगा जमुना तहज़ीब के दस्तखत

- उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान की 'नज़ीर ग्रंथावली' में ज़िक्र है कि नज़ीर सरल स्वभाव के थे. जब घर से निकलते तो अक्सर लोग रास्ता रोककर खड़े हो जाते. उनकी घोड़ी ऐसी सध गयी थी कि जहां लोगों ने सलाम किया वहीं खड़ी हो जाती. सब कहते मियां पहले कविता सुनाएं, तब आगे जाने देंगे. नज़ीर वहीं कविता बनाते और घंटों सुनाते. फेरी लगाकर माल बेचने वाले उनसे कविताएं लिखवा ले जाते और उन्हें गली-कूचों में गा-गाकर अपना माल बेचते. ककड़ी बेचने वाला पीछे पड़ा तो 'आगरे की ककड़ी' नामक रचना दी.

'क्या ख़ूब नर्मोनाज़ुक इस आगरे की ककड़ी.
और जिसमें ख़ासकर फिर, इस्कंद की ककड़ी.'
भीख मांगने वाले जोगी ने निवेदन किया तो उन्होंने 'कन्हैया का बालपन' कविता कही और वह कड़ा बजाकर उसे गा-गाकर भीख मांगने लगा

'क्या-क्या कहूं किशन कन्हैया का बालपन
ऐसा था बांसुरी के बजैया का बालपन.'
नज़ीर ने कृष्ण चरित के साथ रासलीला का वर्णन किया है, तो कृष्ण के बड़े भाई बलदेव पर 'बालदेव जी का मेला' कविता लिखी. और तो और 'तारीफ़ भैरों की' भी लिखी है:
'तेरी सरन गही है कर तू निहाल भैरों
ए पर्तपाल देवत मदमस्त काल भैरों.'

- होली को राष्ट्रीय त्यौहार मानने वाले नज़ीर ने इस पर्व पर 20 से अधिक कविताएं लिखी हैं. आगरा शहर की हर गली में होली किस तरह से खेली जाती है इसका वर्णन उन्होंने किया है. इसके अलावा, दिवाली, राखी, बसंत, कंस का मेला, लाल जगधर का मेला जैसे पर्वों पर भी उन्होंने जमकर लिखा. दुर्गा की आरती, हरी का स्मरण और भगवान् के अवतारों का जगह-जगह बयान है उनकी कविताओं में. गुरु नानक देव पर उनकी कविता प्रसिद्ध है. पर जब नज़ीर अकबराबादी कृष्ण की तारीफ़ में लिखते हैं तो उन्हें सबका ख़ुदा बताते हैं:

'तू सबका ख़ुदा, सब तुझ पे फ़िदा, अल्ला हो ग़नी, अल्ला हो ग़नी
हे कृष्ण कन्हैया, नंद लला, अल्ला हो ग़नी, अल्ला हो ग़नी
तालिब है तेरी रहमत का, बन्दए नाचीज़ नज़ीर तेरा
तू बहरे करम है नंदलला, ऐ सल्ले अला, अल्ला हो ग़नी, अल्ला हो ग़नी.'
एक कविता में नज़ीर कृष्ण पर लिखते हैं:
'यह लीला है उस नंदललन की, मनमोहन जसुमत छैया की
रख ध्यान सुनो, दंडौत करो, जय बोलो किशन कन्हैया की.'
नज़ीर रास्ते चलते हुए नज्में कहा करते थे. न कहीं लिखा, न जमा किया. हां, लोग, जिनमें भिखारी और फेरी वालों से लेकर कोठे वालियां तक थीं, उनके कलामों को दिल में संजोकर रखते थे और आज भी उन्हें ही गाते हैं

जनकवि नज़ीर

- नज़ीर अकबराबादी की ज़्यादातर शायरी उर्दू में है. अट्ठारहवीं सदी का वह ऐसा दौर था जब मुल्क में फ़ारसी की जगह उर्दू ले रही थी. ऐसा इसलिए कि फ़ारस यानी ईरान के राजा नादिर शाह के आक्रमण (सन 1739) ने हिंदुस्तान को हिलाकर रख दिया था. लोग जुबां से भी नफ़रत करने लगे थे. तब मजहर, सौदा, दर्द और मीर तकी मीर जैसे नाम-चीन शायर हुए जिन्होंने उर्दू में क़लाम पढ़े. बाद में फ़ारसी यूं बेगानी हुई कि आने वाले वक्त में ग़ालिब ने भी इसे छोड़कर उर्दू अपनाई.
- प्रोफेसर शहबाज़ लिखते हैं कि जब नज़ीर दिल्ली से आगरा आये तो उस वक़्त मीर तकी मीर की धाक थी. किसी मुशायरे में नज़ीर ने मीर की मौजूदगी में उनकी ही तर्ज़ पर एक ग़ज़ल कही जिसका मिसरा कुछ यूं था:

'नज़र पड़ा एक बुत परीवश निराली सजधज नयी अदा का
जो उम्र देखी तो दस बरस की ये कहर आफत ग़ज़ब ख़ुदा का.'

- हालंकि अब 10 बरस की बच्ची के लिए कोई ऐसी बात कहे तो लंपट कहलायेगा पर वह दौर अलग था. कम उम्र की बच्चियों की शादी होना तब आम बात थी. खैर, जब मीर ने यह ग़ज़ल सुनी, तो उन्होंने नज़ीर को अपने पास बुलाया और शाबाशी दी. इस वाकये के बाद नज़ीर आगरा में बतौर शायर प्रसिद्ध हो गए.
- शोहरत तो मिली पर पेट से गीला कपड़ा बांधकर सोने के हालात रहे. उस दौर में शाहों और नवाबों की शान में लिखकर शायरों के गुज़ारे होते थे. नज़ीर ने ऐसा कोई काम नहीं किया. जो कुछ भी लिखा जनता के लिए लिखा. रियाया की बात कही. बताते हैं कि लखनऊ के नवाब सआदत अली खां का बुलावा और पैसे भी उन्होंने ने यह कहकर ठुकरा दिए थे कि वे महलों में नहीं झोपडी में खुश हैं. नज़ीर ने समाज पर लिखा, उसके दर्द पर लिखा. मसलन 'आदमी' में वे कहते हैं:

'यां आदमी पे जान वारे है आदमी
और आदमी पे तेग़ (तलवार) को मारे है आदमी

पगड़ी भी आदमी की उतारे है आदमी
चिल्ला के आदमी को पुकारे है आदमी
और सुन के दौड़ता है सो है वो भी आदमी'

- रोटी पर भी उनकी कई नज्में हैं तो कबूतर, रीछ (भालू), गिलहरी और बुलबुल भी उनके विषय रहे.
- अब कोई ऐसे विषयों पर शायरी करेगा तो 'चलताऊ शायर' क़रार दिया जायेगा. ऐसा ही हुआ. उन्होंने मीर की तरह इश्क़ और दर्द पर नहीं लिखा. ग़ालिब की तरह मुहब्बत, शराब और ज़िंदगी के फ़लसफ़े की भी बात नहीं की. पर यह भी तय है कि आत्मसम्मान उनमें ग़ालिब से कम नहीं था. और ग़ालिब के जितना न सही पर उनकी सूफ़ियाना नज़्में जैसे 'बंजारानामा' या 'दुनिया धोखे की टट्टी है' या 'मौत की फ़िलासफ़ी' इस जीवन को निर्लिप्त होकर देखने की बात करती हैं. कोई नया फ़लसफ़ा उन्होंने ईजाद नहीं किया था. हालांकि अली सरदार जाफ़री के मुताबिक़ ग़ालिब की शायरी में भी नया दृष्टिकोण नहीं है. लेकिन नज़ीर की शायरी आज भी 'इलीट' वर्ग को नहीं छूती इसलिए ढाई सदी से हाशिये पर रख छोड़ी गयी है.

ग़ालिब से नज़ीर का क्या राब्ता था?

- अब जब बात नज़ीर (1735-1830) और ग़ालिब(1797-1869) ही की हो रही है तो कुछ बातें और हो जाएं. दोनों दिग्गजों के बीच ज़बरदस्त इतेफ़ाक हैं. दिल्ली में जन्मे नज़ीर आगरा बस गए थे. आगरा में पैदा हुए ग़ालिब दिल्ली में जमे रहे. मीर तकी मीर दोनों से वाबस्ता (जुड़े) थे. दोनों ही के पिता सिपहसालार थे. ग़ालिब के वालिद को अलवर के राजा के यहां 60 घोड़ों की रिसालदारी मिली हुई थी. बताते हैं कि नज़ीर के वालिद भी कुछ समय के लिए अलवर के किसी दूसरे राजा के यहां भर्ती रहे.
- आख़िरी बात पर आपमें से बहुत चौंक जाएंगे. मिर्ज़ा ग़ालिब की शुरुआती तालीम नज़ीर अकबराबादी की शागिर्दी में हुई थी! इस बात न ज़िक्र न तो कहीं ग़ालिब ने किया है और न उन पर लिखने वाले बाद वक्तों के लेखकों ने. बतौर संपादक अली सरदार जाफ़री भी 'दीवाने-ग़ालिब' में इस बात का ज़िक्र नहीं करते. पर प्रोफ़ेसर शहबाज़ के हवाले से 'नज़ीर ग्रंथावली में ज़िक्र है, 'उस समय आगरा में ख़लीफा मुअज़्ज्म और मियां नज़ीर दो ही-मुमताज़ मुल्लाओं में थे. ग़ालिब को इन्हीं दो की तरफ़ जाना पड़ा. चर्चित लेखक कुतुबुद्दीन बातिन ने भी अपनी किताब गुलिस्ताने बेख़िज़ां में मिर्ज़ा ग़ालिब को नज़ीर का चेला बताया है'.
- कुल मिलाकर नज़ीर अकबराबादी उस सदी के इकलौते शायर लगते हैं जो आम समाज और निचले तबके के लोगों की बात करते हैं. वे हिंदी आधुनिक काल के शुरुआती कवि भी कहे जा सकते हैं. नज़ीर उस दौर के इकलौते नुमाइंदे लगते हैं जो 'राग दरबारी' नहीं गाते बल्कि कदमताल करते हुए किसी भिखारी, साधु, ठेले वाले या किसी बच्चे के साथ अपने गीत गाते हुए नज़र आते हैं. ये लोग शायद थक जायें पर नज़ीर अगले मोड़ पर खड़े हुए किसी हारे हुए के साथ नज़र आने को बेक़रार हैं.
- लेख को नज़ीर की उन लाइनों से खत्म करते हैं जिनका आखिरी हिस्सा सावन में समूचे उत्तर भारत में गूंजता है.
- *जब आसा तिश्ना दूर हुई, और आई गत सन्तोख भरी।*
  सब चैन हुए आनन्द हुए, बम शंकर बोलो हरी हरी.

कमलेश्वर की कलम पानी जैसी थी, वे उसे जिस विधा में रख देते वह उसी के रंग में ढल जाती थी

- मनोहर श्याम जोशी ने अपने विभिन्न विधाओं में समानांतर आवागमन पर किए गए सवालों पर बड़े स्पष्ट लहजे में कभी कहा था, 'जो भी विधा मुझे अपने पास बुलाएगी, मैं वहां चला जाऊंगा...' हालांकि उनसे भी ज्यादा कहीं यह बात कमलेश्वर के लेखन पर लागू होती दिखाई देती है. वे मनोहर श्याम जोशी से भी कहीं अधिक भूमिकाओं में अपने पूरे जीवन काल में दिखते हैं.
- कहानीकार और उपन्यासकार के अतिरिक्त सम्पादन, पत्रकारिता, अनुवाद और फिल्म पटकथा और संवाद लेखन कमलेश्वर के व्यक्तित्व के बिलकुल अलग-अलग आयाम रहे, जिन्हें एक में मिलाकर नहीं देखा जा सकता. यूं कहा जा सकता है कि कमलेश्वर की कलम से निकलने वाले शब्दों का रंग स्याह न होकर पानी जैसा था, जिस भी विधा को वह छूती, उसी के रंग और लहजे में खुद को

ढाल भी लेती. फिर भी उनका कमलेश्वरी तर्ज उनके हर लिखे में दस्तखत की तरह मौजूद और मौजूं दिखता है. यह कमलेश्वर का स्थायी सिग्नेचर टोन है, सामाजिक विषमताओं का अंकन और उसके प्रति एक मूलभूत विद्रोह वाला.

- मध्यवर्गीय जीवन की विषमताएं और उस सब में भी कहीं प्रमुख रूप से स्त्री जीवन का एकांत और उसके दुख की कहानी उपन्यास लेखन के साथ-साथ कमलेश्वर के फिल्म पटकथा लेखन का भी हिस्सा रहे. तलाश, मांस का दरिया, राजा निरबंसिया और देवा की मां जैसी उनकी अनेक कहानियां स्त्री जीवन और उसके दुखों की बहुत गहराई से पड़ताल करती हैं. उनके उपन्यासों पर आधारित फिल्में – 'आंधी' (काली आंधी), 'मौसम' (आगामी अतीत) और कहानी पर आधारित 'फिर भी' (तलाश) इसके प्रमुख उदाहरण हैं. पर समय बीतने के साथ इनके जैसी ही 'सारा आकाश', 'रजनीगंधा' और 'छोटी सी बात' जैसी सार्थक फिल्मों से निकलकर कमलेश्वर 'साजन की सहेली', और 'सौतन की बेटी' जैसी घोर कमर्शियल और दिशाहीन फिल्मों के चक्कर में आ फंसते हैं.
- वैसे एक अर्थ में यह कोई गिरावट जैसी बात भी नहीं थी. कमलेश्वर तब के कमर्शियल फिल्मों के ख्यात पटकथा और संवाद लेखक हो चले थे पर कला और विषय की दृष्टि से देखें तो यह घटना समाज और अच्छी फिल्मों के दर्शकों के लिए एक गंभीर क्षति थी. यहां यह भी ध्यान देने योग्य है कि उनकी कोई भी और कैसी भी फिल्म बगैर किसी सामाजिक सन्देश के ख़त्म नहीं होती, और औरत वहां चाहे जिस रूप में भी आई हो, उसका एक उजला पक्ष उसमें कहीं न कहीं दबा दिख ही जाता है.
- अपनी कहानियों में कमलेश्वर बहुत सहज दिखते हैं. बिलकुल स्पष्ट संदेशों के साथ. नई कहानी आंदोलन की अपनी त्रयी (राजेंद्र यादव और मोहन राकेश के साथ) में वे सबसे सहज हैं. यह उनकी कहानी के नामों से भी समझ में आ जाता है. मसलन 'वापसी', 'देवा की मां' या 'नेली झील'. यहां नाम में चमत्कार भरने की कोशिश नहीं है. आम लोगों के लिए उनकी भाषा में ही कहानी कह देने की कला ही वह वजह रही कि 'रजा निरबंसिया' के प्रकाशित होते ही पाठकों ने उसे हाथों-हाथ लिया.
- ठीक इसके विपरीत एक टीवी पत्रकार और इस माध्यम के लेखक के रूप में वे हर जगह अपनी विशिष्टता बनाए और बचाए रहते हैं, और अपनी वह जुदा पहचान भी... 'परिक्रमा' और 'बंद फाइलें' उनके द्वारा लिखित ऐसे कार्यक्रम थे जो तब की टीवी पत्रकारिता के क्षेत्र में एक नया इतिहास लिखते हैं. परिक्रमा ने लगातार सात साल तक दूरदर्शन पर अपना वर्चस्व बनाए रखा. यह अपने तरह की एक अकेली घटना थी. धार्मिक और ऐतिहासिक धारावाहिकों के बाद यह अकेला धारवाहिक था, जिसका हिंदी भाषी प्रांतों की जनता बेसब्री से इंतजार करती थी.
- कमलेश्वर ने अपने पूरे जीवन काल में 300 से भी अधिक कहानियां लिखीं और कुल 13 उपन्यास. वे अपनी पीढ़ी के अकेले ऐसे लेखक रहे हैं, जो अपने अंतिम समय तक लेखन को नहीं छोड़ते, या यूं कहें कि लेखन उनका पीछा नहीं छोड़ता. जीवन के अंतिम कुछ वर्षों में लिखा गया उनका उपन्यास 'कितने पाकिस्तान' लोकप्रियता के सारे आयाम पीछे छोड़ देता है, लगातार आने वाले उसके छह संस्करण इसी बात का प्रमाण थे.
- कितने पाकिस्तान के लिए कमलेश्वर को साहित्य अकादमी सम्मान भी प्राप्त हुआ. हालांकि इस पर कुर्तुल एन हैदर के 'आग का दरिया' की छाया स्पष्ट दिखती है. यहां आकार-प्रकार ही नहीं विषयवस्तु और कथ्य व शिल्प में भी बहुत ज्यादा सामंजस्य दिखाई देता है. हालांकि इसे नक़ल जैसा न मानकर शिल्प और कथ्य के अनुकरण जैसा कुछ कहा जा सकता है. दरअसल कोई भी जिम्मेदार लेखक अपने लिए विषय वस्तु के रूप में वर्तमान समय और समाज और उसकी विसंगतियों की और ही रुख करेगा. कमलेश्वर जैसा क्रांतिकारी लेखक तो सबसे पहले. इसलिए इसे शिल्प और शैली का पारम्परिक दुहराव तो कह सकते हैं पर नक़ल नहीं और फिर कमलेश्वर उम्र और जीवन के जिस पड़ाव पर उस वक़्त थे, वहां यह बात असंभव जैसी ही जान पड़ती है.

- ‘विहान’, ‘इंगित’, ‘नयी कहानियां’, ‘सारिका’, ‘कथा यात्रा’, ‘श्री वर्ष’ और ‘गंगा’ जैसी पत्रिकाएं कमलेश्वर के सम्पादक रूप की घोषणा पत्र मानी जा सकती हैं. इनमें भी खासकर नई कहानियां और सारिका का सम्पादन. कमलेश्वर ने जिस नए कहानी आन्दोलन का सूत्रपात किया, वह था सारिका पत्रिका के द्वारा चलाया गया ‘समानांतर कहानी आन्दोलन’. सारिका ने ही पहली बार दलित लेखन को साहित्य जगत में जगह दी, इसमें भी मराठी के दलित लेखन को. यह जैसे समय की नब्ज पकड़ना था.
- बतौर सम्पादक कमलेश्वर की प्राथमिकता नए लेखकों को मंच देना और उनपर भरोसा करना भी रहा. अपने संघर्ष के दिनों को याद करते हुए, कमलेश्वर ने लेखकों के लिए वहां एक कॉलम शुरू किया था - ‘गर्दिश के दिन’. इसके केंद्र में खुद कमलेश्वर के अपने गर्दिश के दिनों की स्मृतियां नींव की तरह थी. मतलब मैनपुरी से इलाहबाद और इलाहाबाद के बाद दिल्ली के गर्दिश वाले दिनों की स्मृतियां. उनकी समकालीन रहीं मन्नू भंडारी एक संस्मरण में बताती हैं कि कमलेश्वर तब पैसे एडवांस लेकर कहानी और उपन्यास लिखते थे. एक ही कहानी के लिए कई बार एक से ज्यादा जगहों से पैसे भी उठा लेते थे. और एकाध बार उसी कहानी में थोड़ी हेर-फेर या फिर शीर्षक के बदलाव के साथ दूसरी जगह भेज देते थे. इस सबके पीछे उनकी कुछ मजबूरियां भी रही होंगी और शायद इसी वजह से वे ‘गर्दिश के दिन’ और सारिका में लिखने वाले नए लेखकों को कई बार एडवांस पैसे दे देते थे.
- कमलेश्वर अपने उसूलों के इतने पक्के थे कि जब आपातकाल के दौर में उनसे यह कहा गया कि वे छपने से पूर्व पत्रिका सरकारी अफसरों को दिखाएं तो उन्होंने सारिका के पन्नों को पूरी तरह काला करके अपने अंदाज में विरोध जताना शुरू कर दिया था. यह विरोधी तेवर और इसके साथ विरोधी पक्ष के प्रति खुला मन उनके स्वभाव का मूल हिस्सा था. यह दिखाने वाला एक वाकया तब का है जब वे दूरदर्शन के महानिदेशक बनने जा रहे थे. अभी यह प्रक्रिया पूरी नहीं हुई थी लेकिन इस बीच उनकी मुलाक़ात इंदिरा गांधी से हो गई. इस मुलाकात का सबसे दिलचस्प पहलू यह था कि तब कमलेश्वर ने बहुत दृढ़ता और ढीठता से उन्हें यह बताया था कि कैसे उन्होंने आपातकाल के खिलाफ ‘काली आंधी’ कहानी लिखी थी. और यह भी कि उन्होंने अपने सम्पादकीय और अन्य लेखों में आपातकाल का जमकर विरोध किया था. बताते हैं कि इंदिरा गांधी उनकी इस साफगोई से बहुत प्रभावित हुई थीं. तत्कालीन प्रधानमंत्री को इससे कोई आपत्ति नहीं थी और बकौल कमलेश्वर इंदिरा गांधी ने उनके कहा था कि वे दूरदर्शन पर भी उनके मतभेद को सुनना चाहेंगी.
- यह कमलेश्वर की जिंदगी का एक अलग ही वाकया है. हालांकि इस मामले में उनकी काबिलियत जितनी भी काम आई हो, यह इंदिरा गांधी का बड़प्पन ही था कि उन्हें अपने एक विरोधी के इतने महत्वपूर्ण पद पर नियुक्ति से कोई आपत्ति नहीं थी. हालांकि इससे पहले तक अपनी इसी बेबाकी और विद्रोही स्वभाव के कारण कमलेश्वर कहीं भी ठीक तरह से टिक नहीं पाते थे और एक आवारगी उनके जीवन का जरूरी हिस्सा बनी रही. इन्हीं यातना के दिनों को उन्होंने अपने संस्मरणों ‘खंडित यात्राएं’, ‘जलती हुई नदी’, ‘यादों के चिराग’ में खूब भीगे मन से लिखा है. कमलेश्वर को लेकर चाहे जितनी कहानियां और विवाद साहित्य जगत में और उससे बाहर चलते आ रहे हों, पर साहित्य के लिए उनके समर्पण, उनके अनुराग और महत्वपूर्ण योगदान से कोई इनकार नहीं कर सकता.

कृष्णा सोबती : जिनका समूचा साहित्य साधारणता की महिमा का इतिहास है

- ‘देखिये, अधेड़ लेखक अपनी खोई हुई तन्दुरुस्ती ढूंढ़ रहे हैं. सुबह की सैर में, कुतुबखानों में या मयख़ानों में. क्या करें, लेखकों और उनकी रचनाओं का बीमा नहीं होता. क्योंकि लेखक संपूर्ण लेखक नहीं होता. उसका मुख्य धंधा कुछ और होता है. अधिकतर बचे-खुचे समय को ही वह लेखन में बुनता है. कर्मकांड से जो भी कर ले. आख़िर किसका समय टुकड़ों-टुकड़ों में विभाजित नहीं?’ ऐसा तीख़ा व्यंग करनेवाली कृष्णा सोबती बचे-खुचे समय में या कि साहित्यकार नहीं थी. उन्होंने असाधारण रूप से कई जोखिम उठाकर पर पूरी

गरिमा और उसके साथ, स्वाभिमान को किसी भी समझौते से विरत रखकर, एक लेखकीय जीवन जिया. अपने मूलस्थान, हवेली और जमीन से देश को बंटवारे के कारण विस्थापित उन्होंने साहित्य को ही अपना देश, अपना घर बनाया. भौतिक घर तो उन्होंने कई बदले पर साहित्य का घर उनका स्थायी आवास रहा. उनके ही एक पद का इस्तेमाल कर कहा जा सकता है कि उनका ज़मीर हमेशा रौशन रहा और उसका दांव ठीक पड़ता है या ग़लत इसकी चिंता उन्होंने कभी नहीं की. उनका यह आवास 'शब्दों के आलोक' से और कभी सुस्त न होनेवाले ज़मीर से रोशन रहा.

- हिंदी साहित्य में अगर कोई साधारणता की महिमा का इतिहास लिखेगा तो उसमें निश्चय ही कृष्णा सोबती का नाम बेहद दीप्ति के साथ होगा क्योंकि उनका समूचा साहित्य साधारण की लगभग पवित्र और अदम्य आभा को चरितार्थ करता रहा है. यह पवित्रता किसी वैभव-ऐश्वर्य से नहीं सहज गरिमा, ऐन्द्रियता, अपार लालित्य से आयी है और उसमें अध्यात्म और ऐन्द्रियता का द्वैत अतिक्रमित हो जाता है. जीवन, मानवीय संबंधों, उसकी विडम्बनाओं और नियति को लेकर कृष्णा जी की दृष्टि विराट्,अपने सत्व और मर्म में महाकाव्यात्मक थी पर उसका केन्द्र साधारण की महिमा, विशालता थी. उनके चरित्र, साधारण लोग, इतिहास या पुराण से नहीं अपने अनिवार्य जीवन-संघर्ष से जो अमलिन नायकत्व अर्जित करते थे उसकी भंगुरता से जितना कृष्णा जी अवगत थीं उतना ही वे स्वयं. गंवाने की पीड़ा, बिछोह का अवसाद, विस्थापन की भीषणता उनकी जिजीविषा को कभी अवरुद्ध नहीं कर पायी.
- कृष्णा जी ने मेरे बारे में एक लंबे संस्मरण में मेरी 'साहित्य और कलाओं के स्वतंत्र साक्ष्य पर... आस्था' का ज़िक्र किया था, बरसों पहले. वे स्वयं अपने समय और समाज का, उसकी उथल-पुथल और अन्तर्धाराओं का हिस्सेदार गवाह रहीं. उनका साहित्य 'पक्षपाती तटस्थता' से लिखा गया है जिसमें जितनी संसार की उतनी ही आत्म की भी चीरफाड़ है. वे इतिहास नहीं, 'दूसरा इतिहास' लिखती रहीं. ऐसा दूसरा इतिहास जिसमें साधारण लोगों की संघर्ष-गाथा है, अपने सारे अन्तर्विरोधों, लालित्य और मानवीयता के समेत जो इतिहास में प्रायः नहीं होती.

नागरिक-लेखक

- कृष्णा सोबती अपने नागरिक-लेखक होने पर हमेशा इसरार करती थीं. इसका आशय ऐसा लेखक होना था जो साहित्य और उससे बाहर समाज में अपनी नागरिकता को पूरे संवैधानिक अधिकार और मर्यादाओं के साथ विन्यस्त करें. उनके लिए नागरिकता का अर्थ अपनी स्वतंत्रता और न्यायबुद्धि का ज़िम्मेदारी से,संवेदनशीलता और जवाबदेही से, पर-पीड़ाचेतना और दूसरों के एहतराम से, सामाजिकता और व्यक्ति की गरिमा के भाव से निर्वाह था. एक तरह से उन्होंने अपने समय और समाज का नागरिक चैतन्य और अन्तःकरण हो सकना साहित्य और लेखक की अनिवार्य ज़िम्मेदारी माना. उन्होंने स्पष्ट कहा था कि 'क़िस्सा कोताह यह कि हमारे समय को लिखने का प्रमाण किसी एक वर्ग या समुदाय के चालू मुहावरे को नहीं. वहां किसी एकनिष्ठ दृष्टि का आतंक नहीं. बल्कि साहित्य संसार की समृद्ध और जटिल बहुलता है. कोई नहीं कह सकता कि हमारे समय को लिखने का प्रामाणिक एकाधिकार किसी एक धर्म, मत या राजनीतिक विचारधारा को प्राप्त है.' उनके साहित्य का अटल विश्वास था- "मनुष्य के लिए ज़रूरी है कि वह अपने समय को वह अपने समय को खंडित न होने दे. इसके बिना साहित्य-संसार अपनी समग्रता का कोई स्वप्न तक नहीं देख सकता. मनुष्यता साहित्य के माध्यम से ही समयातीत है, अनन्त है, अटूट है.'
- कृष्णा जी की नागरिकता का एक पक्ष उनका अपने समानधर्माओं के काम में लगातार दिलचस्पी लेना और उनके बहुत रोचक संस्मरण सामने लाना भी था. वे इस बहाने उनका अनूठा आकलन भी कर देती थीं. उन्होंने अज्ञेय, नेमिचन्द्र जैन, उपेन्द्रनाथ अश्क, मंटो,

उमाशंकर जोशी, श्रीकान्त वर्मा, कमलेश्वर से लेकर सत्येन कुमार,मंजूर एहतेशाम, सौमित्र मोहन, स्वदेश दीपक, नासिरा शर्मा आदि अनेक लेखकों पर लिखा. 'हम हशमत' शीर्षक से इसके तीन खंड निकल चुके हैं और चौथा अभी आया है. उन्होंने अपने लेखक मित्र कृष्ण बलदेव वैद से एक लम्बा संवाद पुस्तकाकार प्रकाशित किया और कवि-आलोचक गजानन माधव मुक्तिबोध पर एक पूरी पुस्तक लिखी. यह पुस्तक तब लिखी और प्रकाशित हुई जब वे 90 की आयु पार कर चुकी थीं. कृष्णा जी ने साहित्य के हिन्दी परिसर में न सिर्फ़ विचरण किया बल्कि कई महत्वपूर्ण अर्थों में उसे बचाने-ढालने की सार्थक कोशिश भी की.

- इसी नागरिकता का एक और पक्ष उनकी अपार उदारता थी. उनसे बेहतर मेज़बान हिन्दी का कोई दूसरा लेखक हम नहीं जानते. लेकिन यह उदारता सिर्फ़ लेखकों-कलाकारों तक सीमित न थी, इसमें अनेक साधारण लोग भी आते थे. उनकी उदारता की कादम्बिनी में नहाये लोगों की संख्या बहुत है. इसी उदारता और दूसरों की मदद करने की उनकी अपार आकांक्षा के रहते उन्होंने रज़ा फ़ाउण्डेशन को पहले एक करोड़ रुपये और फिर ज्ञानपीठ पुरस्कार की 11 लाख रुपये की राशि दी थी, साहित्य और भाषा के संवर्द्धन के उद्देश्य से. कृष्णा सोबती अपनी दुखद मृत्यु तक अपनी सिसृक्षा, उदारता और गरिमा में अडिग रहीं.

शब्दों का आलोक

- कृष्णा सोबती अपनी भारतीय अस्मिता और नागरिकता के बारे में हमेशा सजग रहीं. उन्होंने स्पष्ट कहा- 'लोकतांत्रिक भारत का नागरिक होने के नाते में अपने होने में न सिर्फ़ हिन्दू हूं- न मुसलमान, न ईसाई, न सिख, न पारसी. मुझमें, मेरे अस्तित्व और चेतना से जुड़े हैं लोकतांत्रिक देश के मूल्य और सिद्धान्त भी जो मुझमें भारतीय होने का अहसास जगाते हैं. एक स्वस्थ समाज की पहचान उसके इतिहास, संस्कृति और साहित्य से होती है. परंपरा और परिवर्तनों के फलस्वरूप उन पुराने की पड़ताल से भी उभरती है जो रूढ़ियों और परिवर्तनों के फलस्वरूप जनमानस की सोच में लगातार बने रहते हैं और उनके स्वभाव, रूचि और सोच के अटूट अंग हो जाते हैं. भारत जैसे लोकतांत्रिक धर्मनिरपेक्ष देश में यही मूल्य हमारे राष्ट्रीय जीवन को प्रतिबिम्बित करते हैं. .... ऐसे में धर्म, सम्प्रदाय, जाति और हिन्दुत्व के नाम पर आक्रामक और हिंसात्मक संस्कार को उभारना, उसे राष्ट्रवाद का नाम देना, धर्म से नत्थी करना देश, समाज और नागरिक संहिता के विरुद्ध है. ... राजनीतिक दंगल में मर्यादा पुरुषोत्तम जैसे मितभाषी नायक को खींचना भी भारतीय भारतीय संस्कार के विरुद्ध है. भूमंडलीकरण के इस युग में राष्ट्रीय उत्थान के लिए ऐसे अनेक कार्यक्रम और योजनाएं हैं जो बाबरी मसजिद के ध्वंस और गुजरात कांड के नाम पर की गयी राजनीति में कहीं ज़्यादा ज़रूरी और महत्वपूर्ण हैं.'
- कृष्णा जी की यथार्थ की पकड़ और समझ असाधारण थी. उन्होंने एक बार अपनी कृति 'यारों के यार' पर हुए विवाद के सिलसिले में कहा था- 'गालियां भी भाषायी संस्कृति और सम्याचार का एक महत्वपूर्ण हिस्सा हैं. मुझे नहीं मालूम कि इसके इस्तेमाल पर हमें इतना नाक-मुंह क्यों सिकोड़ना चाहिये. गालियां समाज के विद्रूप और विसंगतियों को ही प्रगट करती हैं. गालियों की अपनी सत्ता है. हिंसा, विरोध, घृणा, धिक्कार, रोष, तिलमिलाहट या उत्पीड़न और शोषण के खिलाफ़ अपने घावों को खोल देने को ही कर्कश सटीक आवाजें इंसानी सहनशक्ति को फाड़कर फूट पड़ी होंगी. हिंसा-प्रतिहिंसा को उभारती छोटी-बड़ी वज़नी गालियां अपने भाषायी अधिकार से विश्व की तमाम भाषाओं में अपनी जगह सुरक्षित किये हुए हैं. उन्हें किसी भी संहिता के अनुसार मानवीय शब्दावली से बाहर नहीं किया जा सकता.'
- भाषा की शुद्धता के प्रसंग में उन्होंने इस पर इसरार किया कि 'नागरी भाषा किसी की बपौती नहीं. उसका तामझाम सिर्फ़ कुर्सीनशीनी नहीं. सिर्फ़ अमलदारी नहीं. सिर्फ़ पुरोहिती नहीं. हिंदी संस्कृत महारानी की पुरानी धोती ही नहीं. यह अपनी जन्मजात

सामर्थ्य में जीवन्त भाषा है। इसलिए नहीं कि वह अभिजात की भाषा है. इसलिए कि वह जनभाषा है. एक साथ धनियों की, ग़रीबों की. खेतिहर किसानों की. मजदूरों की. पिछड़ों की.'

कृष्णा सोबती: लोकतंत्र की हिफाजत में प्रतिरोध की एक बुलंद आवाज

- साहित्य-संस्कृति के इतिहास ने कृष्णा सोबती के नाम बहुत कुछ दर्ज किया है. उनके लिखे अल्फाज जिंदगी के हर अंधेरे कोने में दिया बनके कंदीलें जलाने को तत्पर मिलते हैं. फूलों को अतत: सूखना ही होता है, बेशक जीवन के फूलों को भी! लेकिन एक समर्थ और सार्थक कलम उन्हें सदैव महकाए रखती है. ऐसी एक कलम का नाम कृष्णा सोबती था.
- कृष्णा सोबती का जिस्मानी अंत 25 जनवरी 2019 को तब हुआ था जब देश औपचारिक रूप से गणतंत्र दिवस मनाने की तैयारियों में मसरूफ था. तब भी तंत्र हावी था और गण गौण. इन्हीं चिंताओं के साथ गणतंत्र दिवस की पूर्व संध्या पर कृष्णा जी ने आखिरी सांस ली थी. अंधकार में खड़े उनके साथी, समकालीन (लेखक) और पाठक-प्रशंसक, एक साल बाद उनका गहरी शिद्दत के साथ पुण्य स्मरण कर रहे हैं. कृष्णा सोबती आज जिस्मानी तौर पर होतीं तो आज के मुश्किल समय में उनका कहा, लिखा और बोला यकीनन मशाल का काम करता.
- कृष्णा सोबती ने अंतिम दौर में अपनी चिंतनधारा और यथार्थवादी अनुभवों से फासीवादी प्रवृत्तियों पर खूब और जमकर प्रहार किए. इस दौरान उन्होंने रचनात्मक लेखन लगभग स्थगित कर दिया था और वैचारिक लेखन को तरजीह दी. भीतर की रोशनी बेशक तेज हो गई थी लेकिन आंखों ने देह का साथ लगभग छोड़-सा दिया था. बहुत मोटे लेंस के साथ बामुश्किल वे पढ़ती- लिखतीं और बुद्धिजीवी होने का सच्चा धर्म निभातीं.
- तब का 'जनसत्ता' आज से थोड़ा अलग था. तब वह कहीं न कहीं प्रतिरोध की आवाज का एक मंच भी था. उस वक्त उनके लेख, जिन्हें वे अपने मोटे लेंस वाले चश्मे के सहारे हाथ से लिखा करती थीं, अखबार के पहले पन्ने पर 'बैनर न्यूज़' की जगह छपते थे. जुल्मत की मुखालफत में एक-एक लफ्ज को उन्होंने कैसी वैज्ञानिक संवेदना और तार्किक क्रोध के साथ लिखा, इसे उनके वे लेख पढ़कर ही जाना जा सकता है. या तब जाना जाएगा जब अंतिम दिनों का उनका वैचारिक लेखन किताब की शक्ल में सामने आएगा.
- अपने समकालीन तथा अपने समकक्ष कद वाले हिंदी लेखकों में वे पहली थीं जिन्होंने अराजकता-असहिष्णुता के विरुद्ध इस तरह कलम चलाई कि असाहित्यिक पाठकों को भी सही 'परख' के लिए नई दशा-दिशा मिली. कृष्णा सोबती जब यह सब कर रही थीं तब उनके ज्यादातर समकालीन लेखक आराम कुर्सियों पर बैठे विपरीत समय को बगल से गुजरते देख रहे थे. या कहानियां-कविताएं लिखते-पढ़ते ऊब-ऊंघ रहे थे. कृष्णाजी कभी भी उन संस्कृतिकर्मियों की कतार का हिस्सा नहीं रहीं जो ये मानते हैं कि एक (रचनात्मक) 'लेखक' का काम सिर्फ लिखना होता है, सामाजिक सरोकारों में जमीनी स्तर पर आकर हिस्सेदारी करना नहीं. अपनी जीवन संध्या में उन्होंने खुलकर उन वर्गों के हक में लिखा- बोला, जो या तो सत्ता के निशाने पर रहते हैं या समाज के हाशिये पर.
- सरकारी साहित्यिक पुरस्कारों की बेशर्म लूटपाट और जोड़-तोड़ के बीच प्रतिरोध की प्रतिनिधि आवाज बनते हुए कृष्णा सोबती ने भारतीय साहित्य अकादमी की महत्तर सदस्यता एक पल में छोड़ दी. इस सदस्यता को लेखन का सर्वोच्च सम्मान माना जाता है. लोकतांत्रिक मूल्यों की पक्षधरता के लिए इसे वापस लौटाना उन्होंने अनिवार्य माना. वे इस सोच पर अडिग थीं कि लोकतंत्र के क्षरण के साथ मनुष्यता के खत्म होने का संक्रमण भी शुरू हो जाएगा. उनकी किताब 'शब्दों के आलोक में' इसी चिंतनधारा के साथ प्रारंभ और समाप्त होती है. यह उनके 'जिंदगीनामा' के फलसफे का भी सच था.

- असहिष्णुता के खिलाफ हिंदी समाज से पहली बड़ी आवाज कृष्णा सोबती की उठी थी. उठी क्या-गूंजी थी! प्रतिरोध की उस गूंज में इतनी तीव्रता थी कि कई बड़े वामपंथी लेखक भी उनसे किनारा कर गए कि कहीं सत्ता के कहर का शिकार न होना पड़ जाए. हालांकि भारतीय भाषाओं के बेशुमार बड़े लेखक-संस्कृतिकर्मी कृष्णा जी के साथ आते गए. तभी पुरस्कार वापसी का अभियान चला जिसे सत्ता पक्ष ने अवार्ड वापसी गिरोह कहकर लांछित किया.
- इसी दौरान दिल्ली में 'प्रतिरोध' के नाम से एक विशाल सेमिनार आयोजित किया गया था. इसमें देश के अलग-अलग भाषाओं के बुद्धिजीवियों और संस्कृतिकर्मियों ने शिरकत की. रोमिला थापर, डॉ कृष्ण कुमार, अशोक बाजपेयी और गणेश देवी आदि भी इसमें शामिल थे. कृष्णा सोबती बीमारी की हालत में इस सेमिनार की अध्यक्षता करने वहील चेयर पर आई थीं. उनका शरीर कमजोर था लेकिन प्रतिरोध की आवाज बेहद-बेहद बुलंद! इस कदर कि वे एक घंटा से ज्यादा समय तक इतना प्रभावशाली और इतनी ऊर्जस्विता के साथ बोलीं कि मौजूद तमाम लोग कुर्सियों से खड़े होकर देर तक तालियां बजाते रहे. वैसा निर्भीक और साहस भरा जोशीला भाषण शायद ही कभी किसी हिंदी लेखक ने शासन-व्यवस्था के खिलाफ दिया हो. उनका दो टूक मानना था कि सच्चे लेखक की अपनी स्वतंत्र सत्ता होती है जो दरबारी-सरकारी सत्ता से कहीं ज्यादा सशक्त और पाक-पावन होती है.
- लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रति आस्था और उसकी हिफाजत का जज्बा उनके खून में था. उनका पहला उपन्यास 'चन्ना' था जो छपकर तब आ पाया जब वे मृत्युशैया पर थीं. आधी सदी पहले लिखे अपने इस उपन्यास को उन्होंने अपनी जेब से पैसे देकर अधछपा वापिस उठा लिया था. प्रकाशक उसमें से पंजाबी-उर्दू के कुछ शब्द हटाना चाहता था जो कृष्णा सोबती को मंजूर नहीं हुआ और छपाई का हर्जाना देकर उन्होंने इसे 'विड्रा' कर लिया. 2019 में इसे राजकमल प्रकाशन ने प्रकाशित किया. यह उनकी जिंदगी रहते छपी आखिरी किताब थी जो सबसे पहले लिखी गई थी. लेकिन उन्होंने अपनी लेखकीय आजादी की हिफाजत करते हुए इसे नहीं छपवाया. यह प्रकरण मिसाल है कि जिन लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रति वे अपने आखिरी वक्त में संघर्षरत थीं, उन्हीं के लिए अपने लेखकीय जन्म के वक्त भी थीं.
- कृष्णा सोबती हिंदी शब्द संसार में अकेली हैं जिन्होंने अपने समकालीनों पर सबसे ज्यादा और विस्तार से लिखा है. यहां भी उनकी 'लोकतांत्रिक लेखनी' की दृढ़ता स्पष्ट दिखती है. उन्होंने अपनी उम्र से छोटे और उपलब्धियों के लिहाज से कमतर माने जाने वाले लेखकों पर लिखने में अपनी हेठी नहीं समझी. ईमानदार प्रतिभा की वे कायल थीं और इस धारणा की पक्की कि उनकी वजह से कोई फूल सूख ना जाए! बलवंत सिंह, रमेश पटेरिया, अमजद भट्टी, महेंद्र भल्ला, रतिकांत झा, खान गुलाम अहमद, उमाशंकर जोशी, देवेंद्र इस्सर, गिरधर राठी, सौमित्र मोहन, स्वदेश दीपक और सत्येन कुमार सरीखी विलक्षण प्रतिभाओं पर समग्रता से इतना डूबकर किसने लिखा है? कृष्णाजी लिख सकती थीं और उन्होंने ही लिखा.
- यह भी कृष्णा सोबती कर सकती थीं कि ज्ञानपीठ पुरस्कार से मिली 11 लाख रुपए की राशि साहित्यसेवियों के सहयोगार्थ रज़ा फाउंडेशन को सौंप दें. वह भी तब, जब खुद उन्हें आर्थिक दिक्कतें घेरे हुए थीं. वसीयत में उन्होंने करीब एक करोड़ रुपए का एक फ्लैट भी रज़ा फाउंडेशन के नाम कर दिया.
- तो ये हैं जिंदगीनामा, दिलो-दानिश, ऐ लड़की, डार से बिछुड़ी, मित्रो मरजानी, यारों के यार, तिन पहाड़, सूरजमुखी अंधेरे के, समय सरगम, जैनी मेहरबान सिंह, गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान, चन्ना, बादलों के घेरे, हम हशमत, शब्दों के आलोक में, बुद्ध का कमंडल: लद्दाख, मार्फत दिल्ली, मुक्तिबोध: एक व्यक्तित्व सही की तलाश में की लेखिका के जिंदगीनामे के सदा जिंदा रहने वाले चंद पहलू!

अशोक वाजपेयी: उन चंद लोगों में से एक जो कह सकते हैं कि उनका पूरा निवेश एक काल्पनिक लोक में रहा

- अशोक वाजपेयी के जन्मदिन पर उत्सव ज़रूर होता है, इस बार भी होगा. इस बार भी जब उनका देश एक गहरी बेचैनी में ऐंठ रहा है. यह शायद इसलिए है कि वे उस यहूदी कहावत में यक़ीन रखते हैं कि "मनुष्य के सामने हंसो, रोओ ईश्वर के सामने!" जीवन का तिरस्कार नहीं किया जा सकता, वह जब सामने हो तो उसे नज़रंदाज़ करना एक तरह से पाप ही है. शायद इसलिए भी कि जब तमाम शैतानी ताक़तें ज़िंदगी को कुचल देना चाहती हों हमें उन्हें जवाब देना पड़ता है, तुम हमसे हमारी हंसी नहीं छीन पाओगी.
- नाज़ी जुल्म पर बनी बहुत सारी फ़िल्मों में से एक देख रहा था. नाज़ियों के द्वारा बनाए कॉन्सेंट्रेशन कैम्प में एक औरत आती है. बहुत सारे लोग काफ़ी पहले से वहां क़ैद हैं. वह अचरज से देखती है कि यातना की इस छाया में भी बंदी एक दूसरे को चूम रहे है, कोई अपना गिटार ठीक कर रहा है. वह घिन से उन पर झपट पड़ती है. उस कैम्प का एक तजुर्बेकार क़ैदी उसके पास आता है और उसे समझाता है," यह जो तुम देख रही हो, वह जीवन है. उससे इंकार नहीं किया जाता."
- जीवन हमेशा अप्रत्याशित रूपों में ही सामने आता है. इसलिए अशोकजी को, जो उनका पहले से जाना नहीं है, जो पूर्व परीक्षित और अधिकारियों के द्वारा प्रमाणित नहीं है, उससे रिश्ता बनाने में कोई संकोच नहीं होता. यह प्रयोग है, ब्रेख़्त के शब्दों में नया, जैसा भी हो, उसका ऐहतराम है. प्रयोग हमेशा सफल हो, इसलिए नहीं किया किया जाता, वह एक और अद्वितीय की अपेक्षा में किया जाता है. मनुष्य हो या संस्था, अशोक वाजपेयी प्रयोग हर तरह की निराशा की आशंका के बावजूद करते ही जाते हैं.
- अस्सी के पार निकल गए अशोक वाजपेयी अब ज़रा सावधानी से कदम रखते हैं. अपने शुभचिंतकों की ज़िद पर अब बाहर सफ़र पर जाते वक्त पर एक सहयोगी को ले लेते हैं. लेकिन उनकी सक्रियता दूसरों को दम नहीं लेने देती. दिमाग़ की फुर्ती कम होने का नाम नहीं लेती.
- यह जो सार्वजनिक जीवन है अशोकजी का, उसने प्रायः उनके कवि रूप को ढंक लिया है. मुझे इसमें बहुत आश्चर्य न होगा अगर उनसे सांस्थानिक और दूसरे सार्वजनिक रिश्ते रखने वालों में से अधिकतर ने उनकी कविता की तरफ़ देखा ही न हो. अशोक वाजपेयी पर विचार लेकिन हमेशा एक कवि की तरह किया जाना चाहिए. उनके अध्यापक ने उनसे कहा यही था, मरना उनको कवि की तरह ही है. रघुवीर सहाय ने भी तो हर मोर्चे पर लड़ने को कहा था और चेतावनी दी थी कि मरना अपने ही मोर्चे पर चाहिए. तो अशोकजी का अपना मोर्चा कविता का ही है.
- लंबे समय तक अशोक वाजपेयी कविता और शब्द की स्वायत्तता के लिए खड्गहस्त रहे हैं. राजनीति या विचारधारा कविता को अपना प्रवक्ता नहीं बना सकती, यही उनकी जिद रही है. यह शायद इसलिए है कि वे कविता की कल्पना इस तरह करते हैं कि वह किसी भी प्रकार की सत्ता की इच्छा से ख़ुद को आज़ाद रख सकती है. वह ज़िंदगी से सिर्फ़ ज़िंदगी के लिए रिश्ता बनाना चाहती है. या यों कह लें कि वह ज़िंदगी को समझ लेने और पूरी तरह से परिभाषित करने के प्रलोभन का ख़तरा जानती है. वह एक ईमानदार शब्द है. विचारधारा और राजनीति में आख़िरकार रणनीति जगह बना ही लेती है. कविता निष्कवचता या वध्यता की मांग है. इसलिए वह यह कह सकती है कि आख़िरकार हम कहीं पहुंचते नहीं:

"हमने यह नहीं सोचा था
कि इतने समय बाद हम फिर वहीं पहुंच जायेंगे

जहां से चले थे".
इस निराशा का कारण है.
"हुआ यह है" शृंखला की एक कड़ी:
हुआ यह है
कि अब हम जहां नहीं थीं वहां
दीवारें बनाने में लगे हैं;
जो खिड़कियां पहले से थीं
उन्हें तालाबंद कर रहे हैं
ताकि पड़ोस का दृश्य हमें आगे न दीखे;
जो हो रहा है उससे हम मुतमईन रहे आयें.
हुआ यह है कि
हमारे पास कोई सवाल नहीं बचे हैं
और हमारी दराज़ दूसरों के बने-बनाये उत्तरों से भरी पड़ी है:
हम आश्वस्त हो गये हैं कि
सभी ज़रूरी मसलों का हल मिल गया है.
हुआ यह है
कि हम अब बहस नहीं करते, सिर्फ़ झुंझलाते-झगड़ते हैं
क्योंकि हमें यक़ीन है कि आख़िर में हम ही जीतेंगे
और बहसों से कोई फ़ायदा नहीं होता.
हुआ यह है
कि हम अब एक-दूसरे पर निगरानी रख रहे हैं
क्योंकि हम पर शक किया जा रहा है और अब हमें भी
दूसरों पर भरोसा कम, शक ज़्यादा होने लगा है.
हुआ यह है
कि अब हम आदमी थोड़ा कम हो रहे हैं
और हमें इसकी परवाह करने की फ़ुरसत नहीं मिल रही है.

साहित्य और कविता का दावा मनुष्यता के सृजन का था. अब वह उसके उलट हुआ दीखता है. संभवतः इसी वजह से अब अशोक वाजपेयी अपनी उस धारणा पर विचार कर रहे हैं कि कविता अपने आप में पर्याप्त नागरिकता है. वे ठीक ही कहते हैं कि कविता अपना काम कर सके उसके लिए ज़रूरी कई दूसरी सामाजिक संस्थाओं को काम करना है. वे काम करें इसके लिए राजनीतिक कार्रवाई की ज़रूरत होगी.

शब्द अपना काम तभी ठीक कर सकते हैं जब मनुष्य ठीक तरीक़े से काम करे. कवि शायद तब तक सिर्फ़ यही कह सकता है,

प्रार्थना करता हूं
बढ़ती निराशा के ओसारे से
कि भले गढ़े अंधेरे में हाथ को हाथ न सूझता हो,
हाथ दूसरे हाथों को छू तो सकते हैं
और ऐसे हाथ मेरे हों.
दूसरों के जूते मेरे पैरों पर ठीक बैठें
मेरी आवाज़ में दूसरों की आवाज़ भी गूंजे
और मेरी कविता दूसरों को अपनी लगे.

अशोक वाजपेयी को कविता की ताक़त की सीमा का अहसास है. वे जानते हैं कि कविता का स्वप्न संभवतः कभी चरितार्थ न होगा. मनुष्यता हमेशा अधूरी रहेगी लेकिन उसी वजह से उसे हासिल करने की होड़ में रोमांच बना रहेगा, "हमारे समय और समाज में अपनी ही नहीं समूची कविता की विफलता का तीख़ा-गहरा अहसास मुझे है. लेकिन 'आस उस दर से छूटती ही नहीं, जा के देखा, न जा के देख लिया' जैसा कि फ़ैज़ ने कहा था. अगर कहीं भी मेरी मानवीयता पूरी होती या उसका भ्रम महसूस करती है तो कविता में ही. मेरे लिए जीना कविता के लिए जीना है. कविता के बाहर बहुत सारा जीवन है यह सही है और मुझे पता है. पर सही या ग़लत मेरे लिए वही जीवन अर्थ रखता है जो कविता में है या जिसे कविता रचती है. यह कविता में एक तरह की अबोध आस्था नहीं है: यह आस्था है उसकी घटती जगह और साख को जानते हुए. यह एक 'हारी होड़' है. हारी है पर होड़ है."अशोक वाजपेयी ने इसी होड़ में जीवन लगा दिया है. कम ही ऐसी जिंदगियां हैं जो कह सकती हैं कि उनका पूरा निवेश एक काल्पनिक लोक में था. इस निवेश से यह मर्त्य लोक किंचित समृद्ध होना चाहिए था. वैसा न हुआ देख यही कहने को जी चाहता है,

समय आ गया है
जब हम अपनी पराजय का स्तुतिगान लिखें:
बिना किसी वीरता या शहादत के
हमारा जीवन होम होने को है
और न इस्तगासे न किस स्मृतिगाथा में
हमारा ज़िक्र होगा:
शायद हम भी भूल जायें कि कभी हम थे.
हमसे हमारी गोधूलि तक छिनने की कगार पर है.
लेकिन फिर, निराला के शब्दों में वह जो एक और मन है, वह थकता नहीं:
अभी आवाज़ उठ सकती है, अभी पुकार का उत्तर दिया जा सकता है
अभी कविता से रूठे शब्दों को मनाकर वापस लाया जा सकता है
अभी झूठों की भीड़ में कम से कम एक सच को घुसाया जा सकता है
बस कैसे करूं?
बहुत से काम बाक़ी हैं
दूसरे साथ आने को तैयार हैं
लोग फिर सच की ओर मुड़ रहे हैं
बस कैसे करूं?

अशोकजी बस कर नहीं सकते और दूसरों को भी बस करने दे नहीं सकते.

अगर राम के नाम पर हमें बांटा जा रहा है तो हम कृष्ण के नाम पर एक हो जाएं

किस्सा है कि राम भक्त तुलसी एक बार घाट से स्नान करके घर जा रहे थे. रास्ते में उन्हें कन्हैया जी के दर्शन हो गए. और दर्शन भी क्या हुए! बांके बिहारी वाली छवि में खड़े हुए थे कन्हैया जी. यानी सिर पर मोर पंखी और होंठों पर बांसुरी और त्रिभंगी मुद्रा. तुलसी ने उन्हें प्रणाम किया और चल दिए. कृष्ण हतप्रभ रह गए! आख़िर तीन लोक के नाथ थे, महाभारत के सूत्रधार थे, द्वापर के सबसे बड़े पात्र थे. राम में तो 12 कलाएं मानी जाती हैं. कृष्ण 16 कलाओं से परिपूर्ण थे. उनकी अनदेखी! कृष्ण ने जब उनसे इस उपेक्षा का कारण पूछा तो तुलसी बोले, 'क्या कहूं छबि आपकी, भले बने हो नाथ. तुलसी मस्तक जब नवे, धनुस बान हो हाथ.'

अब तुलसी तो सबसे बड़े राम भक्त, शायद हनुमान से भी बड़े. पर कृष्ण के भी भक्त कम नहीं हुए हैं. हिंदू धर्म के अलावा इस्लाम, ईसाई, जैन और सिख मज़हबों के अनुयायी तक कृष्ण की लीला से विस्मित रहे हैं. ग़लत नहीं होगा अगर कहें कि कृष्ण गंगा-जमुनी तहज़ीब के सबसे बड़े प्रतीक हैं.

कृष्ण भक्ति और सूफ़ीवाद का मिलन

ग्यारहवीं शताब्दी के बाद इस्लाम भारत में तेज़ी से फैला. लगभग इसी समय भक्ति काल और सूफ़ीवाद में ज़बरदस्त संगम हुआ और भारत में इस्लाम कृष्ण के प्रभाव से अछूता नहीं रह पाया. सूफ़ीवाद ईश्वर और भक्त का रिश्ता प्रेमी और प्रेमिका के संबंध की मानिंद मानता है. इसलिए राधा या फिर गोपियां या सखाओं का कृष्ण से प्रेम सूफ़ीवाद की परिभाषा में एकदम सटीक बैठ गया. नज़र ज़ाकिर अपने लेख 'ब्रीफ़ हिस्ट्री ऑफ़ बांग्ला लिटरेचर' में लिखते हैं कि चैतन्य महाप्रभु के कई मुस्लिम अनुयायी थे.

स्वतंत्रता सेनानी, गांधीवादी और उड़ीसा के गवर्नर रहे बिशंभर नाथ पांडे ने वेदांत और सूफ़ीवाद की तुलना करते हुए एक लेख में कुछ मुसलमान कृष्ण भक्तों का ज़िक्र किया है. इनमें सबसे पहले थे सईद सुल्तान जिन्होंने अपनी क़िताब 'नबी बंगश' में कृष्ण को नबी का दर्ज़ा दिया. दूसरे, अली रज़ा. इन्होंने कृष्ण और राधा के प्रेम को विस्तार से लिखा. तीसरे, सूफ़ी कवि अकबर शाह जिन्होंने कृष्ण की तारीफ़ में काफी लिखा. बिशंभर नाथ पांडे बताते हैं कि बंगाल के पठान शासक सुल्तान नाज़िर शाह और सुल्तान हुसैन शाह ने महाभारत और भागवत पुराण का बांग्ला में अनुवाद करवाया. ये उस दौर के सबसे पहले अनुवाद का दर्ज़ा रखते हैं.

और उस दौर के सबसे मशहूर कवि अमीर ख़ुसरो की कृष्ण भक्ति की बात ही कुछ और है. बताते हैं एक बार निज़ामुद्दीन औलिया के सपने में श्रीकृष्ण आये. औलिया ने अमीर ख़ुसरो से कृष्ण की स्तुति में कुछ लिखने को कहा तो ख़ुसरो ने मशहूर रंग 'छाप तिलक सब छीनी रे से मोसे नैना मिलायके' कृष्ण को समर्पित कर दिया. इसमें कृष्ण का उल्लेख यहां मिलता है, '...ऐ री सखी मैं जो गई थी पनिया भरन को, छीन झपट मोरी मटकी पटकी मोसे नैना मिलाईके...'

भक्ति काल के रसखान

भक्ति काल के कबीर, नामदेव और एकनाथ तुकाराम जैसे चिंतकों ने निर्विकार की पूजा को महत्व दिया, पर वहीं कुछ मुसलमान कवियों पर कृष्ण हावी हो गए. इनमें सईद इब्राहिम उर्फ़ 'रसखान' का नाम सबसे पहले आता है. बिल्कुल सूरदास की तरह उन्होंने भी कृष्ण लीलाओं का वर्णन किया है. रसखान की कृष्ण भक्ति को अब क्या कहिए. भागवत पुराण का फ़ारसी में अनुवाद करने वाले रसखान की कृष्ण कल्पना में ठेठ ब्रज भाषा छलकती है. उनका कृष्ण वर्णन कुछ ऐसा है मानो कृष्ण उनके सामने ही लीला कर रहे हैं. मसलन, वे देख रहे हैं कि कभी कृष्ण पहाड़ उठा रहे हैं तो कभी धूल से सने हुए हैं. कभी व्यास, नारद को छका रहे हैं तो कभी कृष्ण गोपियों की चिरोरी करते हुए छाछ मांग रहे हैं.

सेस, गनेस, महेस, दिनेस, सुरेसहु जाहि निरंतर गावें
जाहि अनादि अनंत अखंड अछेद अभेद सुभेद बतावें
नारद से सुक ब्यास रहें पचि हारे तऊ पुनि पार न पावें
ताहि अहीर की छोहरियां छछिया भर छाछ पे नाच नचावें

गोस्वामी विट्ठलनाथ से दीक्षा लेने के बाद रसखान वृन्दावन में ही बस गए. अंतिम सांस उन्होंने मथुरा में ली थी और वहीं उनका मकबरा भी है.

आलम शेख़

आलम शेख़ रीति काल के कवि थे. उन्होंने 'आलम केलि', स्याम स्नेही' और माधवानल-काम-कंदला' नाम के ग्रंथ लिखे. 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं कि आलम हिंदू थे जो मुसलमान बन गए. उनका मानना है कि प्रेम की तन्मयता की दृष्टि से आलम की गणना 'रसखान' से होनी चाहिए.

'पालने खेलत नंद-ललन छलन बलि,
गोद लै लै ललना करति मोद गान है।
'आलम' सुकवि पल पल मैया पावै सुख,
पोषति पीयूष सुकरत पय पान है।
नंद सों कहति नंदरानी हो महर सुत,
चंद की सी कलनि बढ़तु मेरे जान है।

आइ देखि आनंद सों प्यारे कान्हा आनन में,
आन दिन आन घरी आन छबि आन है।

नज़ीर अकबराबादी

रीति काल के अंतिम सालों में नज़ीर अकबराबादी का कृष्ण प्रेम तो रसखान के कृष्ण प्रेम से टक्कर लेता हुआ दिखता है. कुछ ऐसी रार जैसी मीरा को राधा से रही होगी. वैसे इतिहास में राधा का पात्र जयदेव के 'गीत गोविन्द' के बाद ही आता है.

कृष्ण उपासना का प्रचलन इसी दौरान अधिक हुआ. नज़ीर की दृष्टि में श्रीकृष्ण दुःख हरने वाले, कृपा करने वाले और परम आराध्य ही हैं. उनके लिए कृष्ण पैगंबर जैसे हैं. उन्होंने कृष्णचरित के साथ रासलीला का वर्णन किया है तो कृष्ण के बड़े भाई बलदेव पर 'बलदेव जी का मैला' नामक कविता लिखी. कृष्ण की तारीफ़ में लिखते हुए वे उन्हें सबका ख़ुदा बताते हैं.

'तू सबका ख़ुदा, सब तुझ पे फ़िदा, अल्ला हो ग़नी, अल्ला हो ग़नी
है कृष्ण कन्हैया, नंद लला, अल्ला हो ग़नी, अल्ला हो ग़नी
तालिब है तेरी रहमत का, बन्दए नाचीज़ नज़ीर तेरा
तू बहरे करम है नंदलला, ऐ सल्ले अला, अल्ला हो ग़नी, अल्ला हो ग़नी.'
एक कविता में वे कृष्ण पर लिखते हैं:
'यह लीला है उस नंदललन की, मनमोहन जसुमत छैया की
रख ध्यान सुनो, दंडौत करो, जय बोलो किशन कन्हैया की.'
बताते हैं कि भीख मांगने वाले जोगी के निवेदन पर नज़ीर ने 'कन्हैया का बालपन' कविता कही
'क्या-क्या कहूं किशन कन्हैया का बालपन
ऐसा था बांसुरी के बजैया का बालपन.'

इस कविता में पूरे 32 छंद हैं जिनमें कृष्ण के एश्वर्य और माधुर्य दोनों का ज़बरदस्त वर्णन है.

वाजिद अली शाह का कृष्ण प्रेम

देखिये यूं तो फैज़ाबाद का राम लला प्रेम जगज़ाहिर है. पर वहां से निकले और लखनऊ आकर बसे नवाबों के आख़िरी वारिस वाजिद अली शाह कृष्ण के दीवाने थे. 1843 में वाजिद अली शाह ने राधा-कृष्ण पर एक नाटक करवाया था. लखनऊ के इतिहास की जानकार रोज़ी लेवेलिन जोंस 'द लास्ट किंग ऑफ़ इंडिया' में लिखती हैं कि ये पहले मुसलमान राजा (नवाब) हुए जिन्होंने राधा-कृष्ण के नाटक का निर्देशन किया था. लेवेलिन बताती हैं कि वाजिद अली शाह कृष्ण के जीवन से बेहद प्रभावित थे. वाजिद के कई नामों में से एक 'कन्हैया' भी था.

कृष्ण और बॉलीवुड

वाजिद अली शाह के बाद तो अंग्रेज़ आ गए थे. विलियम जे हंटर, जॉन मिल, जॉन बेर्वेर्ली निकोल्स जैसे लेखकों और विचारकों ने हमारे ज़हनों में झूठ ठूंस-ठूंस कर साबित कर दिया कि हिंदू और मुस्लिम साथ नहीं रह सकते क्यूंकि दोनों मुख्तलिफ़ कौमें हैं. आज़ादी के बाद बॉलीवुड में राजा मेहदी अली खान, शकील बदायूंनी जैसे गीतकारों का कृष्ण वर्णन बेहद शानदार है. पर एक शायर का नाम लिए बिना यह लेख ख़त्म नहीं हो सकता. वे थे निदा फ़ाज़ली. जितना अच्छा उन्होंने कृष्ण पर लिखा इस दौर में शायद ही कोई लिख पाया. उनका एक शेर देखिये:

'फिर मूरत से बाहर आकर चारों ओर बिखर जा
फिर मंदिर को कोई मीरा दीवानी दे मौला.'
हम मुख्तलिफ़ थे, कोई शक नहीं. पर साथ थे, इसमें भी कोई शक नहीं.

आखिर कैसे एक जनजातीय नायक श्रीकृष्ण हमारे परमपिता परमेश्वर बन गए?

- हिंदू धर्मग्रंथों में जितने भी देवी-देवताओं का जिक्र मिलता है, उनमें श्रीकृष्ण सबसे लोकप्रिय हैं - ग्वालों के बालगोपाल, प्रेम के देवता, धर्मोपदेशक और एक अजेय योद्धा. उनकी पूरी कहानी, जिसे कृष्णगाथा भी कह सकते हैं, कई बिलकुल अलग-अलग तरह के तत्वों को बडी सुंदरता से जोड़ने पर बनी है. यह करीब 800-900 साल के लंबे अंतराल में विकसित हुई. दिलचस्प बात यह है कि इस गाथा का विकास उल्टे क्रम में हुआ है. इसमें पहले पांडवों के मित्र और द्वारका के संस्थापक के रूप में युवा कृष्ण सामने आते हैं फिर गायें चराने वाले बाल कृष्ण और ग्वालिनों के साथ रास रचाने वाले प्रेम के प्रतीक कृष्ण का वर्णन आता है.

कृष्ण का सबसे पहला जिक्र छठी शताब्दी ईसापूर्व 'छंदोग्य उपनिषद' में मिलता है. इसमें उन्हें एक साधु और उपदेशक बताया गया है

वासुदेव और कृष्ण

- ब्रिटेन में लैंकैस्टर विश्वविद्यालय के धार्मिक अध्ययन विभाग में मानद शोधकर्ता रहीं फ्रीडा मैशे ने एक किताब लिखी है - 'कृष्ण, ईश्वर या अवतार? कृष्ण और विष्णु के बीच संबंध'. इसमें वे लिखती हैं कि कृष्ण-वासुदेव, पहले यादव समुदाय की सत्वत्त और वृष्णि जनजातियों के नायक हुआ करते थे. इन्हें समय के साथ-साथ देवता मान लिया गया. फिर दोनों एक हो गए.
- कृष्ण का सबसे पहला जिक्र छठी शताब्दी ईसापूर्व में 'छंदोग्य उपनिषद' में मिलता है. इसमें उन्हें एक साधु और उपदेशक बताया गया है. साथ ही इसमें उनका देवकीपुत्र के रूप में भी उल्लेख है. चौथी शताब्दी ईसापूर्व में पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' (संस्कृत व्याकरण का ग्रंथ) में कृष्ण को एक देव की तरह प्रस्तुत किया गया है. साथ ही इसमें वृष्णिवंशी यादव जनजाति के बारे में भी विस्तार से बताया गया है, जिससे कृष्ण जुड़े हुए थे. मौर्य राजदरबार में यूनान (ग्रीस) के दूत रहे मेगस्थनीज की किताब 'इंडिका' में बताया गया है कि किस तरह शूरसेनियों (वृष्णिवंशी यादवों की ही एक शाखा) ने मथुरा में कृष्ण को देवता की तरह पूजना शुरू किया. इस तरह चौथी शताब्दी ईसापूर्व में कृष्ण-वासुदेव न सिर्फ नायक से देवता के रूप में परिवर्तित हुए, बल्कि काफी लोकप्रिय भी हो चुके थे.

विष्णु रूप कृष्ण

- दूसरी शताब्दी ईसापूर्व तक वैदिक पूजा पद्धति कठोर हो चुकी थी और उसके धार्मिक संस्कार महंगे. इसी दौरान सम्राट अशोक के समर्थन और प्रचार कार्य की वजह से बौद्ध दर्शन अपना आधार बढ़ाता जा रहा था. इसी बीच, बड़े पैमाने पर विदेशी आक्रमणकारियों (जैसे शक आदि) का भारत में आगमन शुरू हो गया. वे बौद्ध दर्शन आदि से ज्यादा सहानुभूति रखते थे. ऐसे में, पुरोहित वर्ग के अधिकार और असर में कमी आने लगी. निचले वर्णों की आर्थिक स्थिति भी बेहतर हुई और उन्होंने वर्ण व्यवस्था को चुनौती देना शुरू कर दिया. और जैसा कि सुवीरा जायसवाल अपनी किताब 'वैष्णववाद की उत्पत्ति और विकास' में लिखती हैं - 'ब्राह्मणों ने कृष्ण-वासुदेव के भक्ति-पंथ पर कब्जा कर लिया. वे कृष्ण को नारायण-विष्णु का स्वरूप बताने लगे. इसके पीछे उनका मकसद संभवत: सामाजिक आचार-व्यवहार में अपना अधिकार और प्रभुत्व एक बार फिर से स्थापित करना था.' यहां जिक्र करना दिलचस्प होगा कि नारायण और विष्णु भी पहले अलग देवों की तरह पूजे जाते थे. बाद में दोनों को एक ही मान लिया गया.

महाभारत में तमाम जगहों पर उस असमंजस या दुविधा का भी जिक्र मिलता है कि किसी अनार्य जनजातीय देव (कृष्ण) को परमेश्वर का दर्जा कैसे दिया जाए

- यानी इस काल में कृष्ण-वासुदेव का नारायण-विष्णु के साथ घालमेल हो गया. उन्हें महाभारत के युद्ध के नायक का दर्जा मिला. साथ ही भगवद् गीता का उपदेश देने वाले उपदेशक के रूप में भी मान्यता मिली. हालांकि महाभारत में ही तमाम जगहों पर इस असमंजस या दुविधा का भी जिक्र मिलता है कि किसी अनार्य जनजातीय देव (कृष्ण) को परमेश्वर का दर्जा कैसे दिया जाए. इसीलिए शुरू-शुरू में कृष्ण-वासुदेव का विवरण नारायण-विष्णु के अंशावतार के रूप में ही दिया जाता है.

बाल कृष्ण

- इस तरह, पहली शताब्दी ईसापूर्व तक कृष्ण की पूजा सिर्फ उनके युवा स्वरूप में ही होती थी. वे पांडवों के मित्र, एक उपदेशक, वृष्णिवंशी यादवों के नायक और विष्णु के अंशावतार माने जा चुके थे. लेकिन उनकी महागाथा में एक सबसे अहम चीज अब भी नदारद थी - उनका बचपन. जबकि आज उनके बारे में सबसे ज्यादा जिक्र उनके बचपन का ही होता है. कालांतर में जब कृष्ण को अभीर (अहीर) जनजाति के देव का दर्जा मिला तो यह कमी भी पूरी हो गई. कृष्ण के साथ गोपाल (गाय चराने और पालने वाले) का मेल भी हो गया. हालांकि यह अब तक साफ नहीं है कि अभीर जनजाति भारतीय उपमहाद्वीप की ही मूल निवासी थी या किसी और जगह से आकर यहां बसी थी. लेकिन इतना साफ है कि पहली सदी ईसवी में यह जनजाति सिंधु घाटी के निचले इलाकों में निवास करती थी और बाद में पलायन कर सौराष्ट्र (अब गुजरात) में जा बसी. शक और सातवाहन के शासनकाल में यह जनजाति राजनीतिक रूप से भी सक्रिय हुई.
- वृष्णिवंशी यादवों और अभीरों में काफी समानताएं थीं. खासकर दोनों समाजों में महिलाओं को किस तरह देखा जाता था. संभवत: इन्हीं समानताओं की वजह से वृष्णिवंशियों के कृष्ण-वासुदेव को अभीरों का आराध्य भी मान लिया गया. उदाहरण के लिए दो प्रसंग सामने रखे जा सकते हैं. पहला, महाभारत में अर्जुन को कृष्ण अपनी बहन का हरण कर लेने की सलाह देते हैं. इसके पक्ष में वे यह दलील देते हैं कि इस तरह धर्म की रक्षा होगी. यह शायद इस बात का संकेत भी है कि महिलाओं का हरण करना वृष्णिवंशियों में एक सामान्य परंपरा रही होगी. दूसरा, कृष्ण के श्रीधाम सिधारने के बाद जब अर्जुन अपनी छत्रछाया में वृष्णिवंशी महिलाओं को लेकर मथुरा की ओर जाते हैं, तो उन पर अभीरों का हमला हो जाता है और हमलावर उनके काफिले में शामिल कई महिलाओं का अपहरण कर लेते हैं.

पहली से पांचवीं शताब्दी तक विष्णु पुराण और हरिवंश पुराण जैसे महाकाव्यों ने टूटी हुई उन कड़ियों को जोड़ने का काम किया, जिनसे कृष्ण-वासुदेव और विष्णु-नारायण को समग्र रूप से एक ही रूवरूप में स्थापित किया जा सके

- बहरहाल, कृष्ण-वासुदेव को अभीरों के देव की मान्यता मिलते ही गोपियों के साथ उनके हास-परिहास-रास की कहानियां और प्रसंग भी सामने आने लगते हैं. चूंकि अभीर खानाबदोश किस्म की जनजाति थी, इसलिए उनकी संस्कृति में महिलाओं-पुरुषों के लिए ज्यादा उन्मुक्तता का माहौल था. अभीरों में उन्मुक्तता की यही संस्कृति कृष्ण की रासलीलाओं का आधार भी बनी.

परमपिता परमेश्वर श्रीकृष्ण

- हम जानते हैं कि कृष्ण की कहानी में कृष्ण-गोपाल का सम्मिश्रण बाद में हुआ. क्योंकि महाभारत की मूल कहानी में कहीं भी कृष्ण के बचपन का जिक्र नहीं मिलता. चौथी सदी ईसवी में जब परिशिष्ट या उपबंध के रूप में महाभारत के साथ हरिवंश पुराण का जोड़ हुआ, तब कृष्ण-अभीर की पहचान को एक सुनिश्चित आकार मिला. इस तरह, पहली से पांचवीं शताब्दी ईसवी तक विष्णु पुराण और हरिवंश पुराण जैसे महाकाव्यों ने टूटी हुई उन कड़ियों को जोड़ने का काम किया, जिनसे कृष्ण-वासुदेव और विष्णु-नारायण को समग्र रूप में स्थापित किया जा सका.
- इस तरह, कृष्ण की जो कहानी अब सामने आती है, उसके मुताबिक, वे यादव क्षत्रियों (एक योद्धा जाति) के कुल में पैदा हुए. उनके पिता का नाम वसुदेव था, इसी आधार पर उनका एक नाम वासुदेव भी पड़ गया. उनका मामा कंस आततायी था, उन्हें मारना चाहता था, इसलिए उसके डर से उन्हें रातों-रात चोरी-छिपे ले जाकर अभीरों के संरक्षण में (नंद नामक गोप के घर) छोड़ आया गया. इसके बाद इस गाथा में समय के साथ-साथ गोपियों के प्रेमी, अर्जुन के सारथी और गीता में धर्म का उपदेश देने वाले उपदेशक के तौर पर कृष्ण परिपक्व होते हैं. और इस तरह कृष्णगाथा आखिरकार पूरी होती है. इसके बाद जनजातीय समुदाय के देवता को परम ईश्वर मानने को लेकर महाभारत में शुरू-शुरू में दिखी दुविधा भी खत्म हो जाती है. और छठी शताब्दी ईस्वी में लिखी गई भागवत पुराण में उन्हें परमपिता परमेश्वर का दर्जा मिल जाता है.

मान्यता के लिए हर जतन करने वाले आज के युवाओं को उस उजले मुक्तिबोध की याद दिलानी चाहिए

- आज याने 13 नवम्बर 2018 को गजानन माधव मुक्तिबोध अगर जीवित होते तो अपनी आयु के 103वें वर्ष में प्रवेश कर रहे होते. यह, सब कुछ के बावजूद, हिंदी की आलोचना-बुद्धि की शक्ति और तेजस्विता को पहचानने की उसकी सामर्थ्य का ज्वलंत प्रमाण है: अपने जीवनकाल में अपना पहला कविता संग्रह तक प्रकाशित न देख पाने वाले मुक्तिबोध, अपनी मृत्यु के आधी सदी बाद भी आज प्रासंगिकता और सार्थकता के शिखर पर हैं.
- यह भी उल्लेखनीय है कि उनकी उत्कृष्टता पर जो मतैक्य विकसित हुआ है और उन्हें लेकर जो लिखा गया है उसका श्रेय सिर्फ विचारधारात्मक प्रयत्नों को ही नहीं दिया जा सकता. वाम से असहमत रहने वाले अनेक लेखकों ने उन पर गइराई और समझ के साथ लिखा है. इस मतैक्य में उनकी भी भागीदारी है जो उन्हें, पिछले लगभग 75 वर्षों के दौरान, हिंदी का एक श्रेष्ठ लेखक मानते रहे हैं.
- मुक्तिबोध के लेखन में एक बुनियादी अंतर्विरोध लगभग शुरू से रहा है. अपनी कविता में वे बराबर अंत तक आत्मसंशयग्रस्त रहे लेकिन अपनी आलोचना में उनका आत्मविश्वास अनेक रूपों में प्रगट और विन्यस्त होता है. यह बात पहले भी कई बार कही जा चुकी है कि अपने जीवनकाल में मुक्तिबोध को कभी इसकी आश्वस्ति नहीं थी कि वे एक बड़े लेखक हैं॰: यह कोई ओढ़ा हुआ विनय नहीं था - यह एक आत्मचेतस् लेखक का ईमानदार खरा संशय था. यह भी दिलचस्प है कि उनके निकट जो लेखक-मित्र थे - नेमिचन्द्र जैन, शमशेर बहादुर सिंह, हरिशंकर परसाई, नरेश मेहता, श्रीकांत वर्मा, प्रमोद वर्मा आदि - उनमें से कोई भी उन्हें आश्वस्त नहीं कर पाया जबकि उनमें से हरेक बहुत शिद्दत से उनके महत्व को महसूस करता था.
- साहित्य के इतिहास में दोनों तरह के उदाहरण मिलते हैं॰: ऐसे बड़े लेखक जो मुक्तिबोध की तरह संशयग्रस्त रहे और ऐसे भी जो आत्मविश्वास से भरे-पूरे थे. यह तर्क किया जा सकता है कि कम से कम हमारे समय में जब सब कुछ प्रायः संशय-ग्रस्त हो गया है, संशय ही बड़े सृजन का आधार बन सकता है, उसका अभाव नहीं. पर संशय प्रतिभा का हनन भी कर सकता है. लेकिन वह बड़ी प्रतिभा का ऐसा हनन नहीं कर पाता.
- याद करें कि महान् कथाकार फ्रैंज काफ़्का को अपने साहित्य की अकिंचनता पर इतना भरोसा था कि उन्होंने अकालमृत्यु से पहले अपने घनिष्ठ मित्र से सारी पांडुलिपियां नष्ट करने का मित्राग्रह किया था जो, सौभाग्य से, उसने नहीं माना. बाद में वे सभी कृतियां प्रकाशित हुई और काफ़्का की अक्षय कीर्ति का आधार बनीं.
- अपनी उपलब्धि और कीर्ति के इस व्यापक एहतराम पर मुक्तिबोध को कभी यक़ीन न आता. उनकी ज्ञानात्मक संवेदना और संवेदनात्मक ज्ञान इतने प्रखर और प्रश्नवाची थे कि वे कुछ भी आसानी से स्वीकार नहीं कर सकते थे. आज जब बहुत सारे महत्वाकांक्षी युवा मान्यता के लिए तरह-तरह के जतन और समझौते करते हैं तो उन्हें उस उजले मुक्तिबोध की याद दिलाना चाहिये.

'बारीक बेइमानियों का सूफ़ियाना अन्दाज़'

- मुक्तिबोध को भाषा-शिल्पी नहीं माना जाता है. उनकी भाषा के अटपटेपन और उनकी कविता के अराजक शिल्प को काफ़ी देखा-समझा गया है. पर यह भी याद करने की ज़रूरत है कि उनके गढ़े अनेक पद हिंदी आलोचना में बहुमान्य रहे हैं॰: 'सभ्यता-समीक्षा', 'ज्ञानात्मक संवेदन', 'संवेदनात्मनक ज्ञान', 'सत्-चित्-वेदना' आदि.
- इधर उनकी प्रसिद्ध कहानी 'पक्षी और दीमक' फिर पढ़ते हुए उसके अंतिम अंश की ओर ध्यान गया, विशेषतः इस पंक्ति की ओरः 'बारीक बेइमानियों का सूफ़ियाना अन्दाज़ उसमें कहां'! आगे का अंश आख्यानपरक नहीं एक तरह का आत्मस्वीकार या आत्माभियोग है जो, वैसे भी मुक्तिबोध की विशेषता है, भले हिंदी कहानी में वह उनसे पहले या बाद में कम ही नज़र आते हैं.
- अंश हैः 'और अब मुझे सज्जायुक्त भद्रता के मनोहर वातावरण वाला अपना कमरा याद आता है... अपना अकेला धुंधला-धुंधला कमरा. उसके एकांत में प्रत्यावर्तित और पुनः प्रत्यावर्तित प्रकाश के कोमल वातावरण में मूल-रश्मियों और उनके उद्गम स्रोतों पर सोचते रहना, खयालों की लहरों में बहते रहना कितना सरल, सुंदर और भद्रतापूर्ण है. उससे न कभी गर्मी लगती है, न पसीना आता है, न कभी कपड़े मैले होते हैं. किन्तु प्रकाश के उद्गम के सामने रहना, उसका सामना करना, उसकी चिलचिलाती दोपहर में रास्ता नापते रहना और धूल फांकते रहना कितना त्रासदायक है! पसीने से तरबतर कपड़े इस तरह चिपचिपाते हैं ओर इस क़दर गंदे मालूम होते हैं कि लगता है... कि अगर कोई इस हालत में हमें देख ले तो वह बेशक हमें निचले दर्ज़े का आदमी समझेगा. सजे हुए टेबल पर रखे

क़ीमती फाउंटेनपेन - जैसे नीरव - शब्दांकनवादी हमारे व्यक्तित्व, जो बड़े खुशनुमा मालूम होते हैं - किन्हीं महत्वपूर्ण परिवर्तनों के कारण - जब वे आंगन में और घर-बाहर चलती झाड़ू- जैसे काम करने वाले दिखायी दें तो इस हालत में वे यदि सड़क-छाप समझे जायें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है. लेकिन, मैं अब ऐसे कामों की शर्म नहीं करूँगा, क्योंकि जहां मेरा हृदय है, वहीं मेरा भाग्य है.'

- यह कहानी 1959 के बाद कभी लिखी गयी ओर 1962 में 'कल्पना' पत्रिका में प्रकाशित हुई थी. उस समय किसी कहानी का समापन ऐसा नहीं होता था. कथा में मनोजगत् आदि का प्रवेश हो चुका था लेकिन शायद ही कोई किसी कहानी का समापन ऐसे वाक्य से कर सकता थाः '.. क्यों कि जहां मेरा हृदय है, वहीं मेरा भाग्य है.' एक दुर्दम्य बौद्धिक साहित्यकार बुद्धि और ज्ञान पर नहीं संवेदना पर ज़ोर दे रहा है और उसे भाग्यविधायक बता रहा है. यह अनूठा है - मुक्तिबोध के यहां ज्ञान, बुद्धि और संवेदना के बीच की दूरियां उनकी आत्मा के ताप में पिघलकर एकमेक हो जाती थीं. आज के 'तुमुल कोलाहल' में क्या हममें यह ताब बची है कि हम 'हृदय की बात' सुन सकें जिसे मुक्तिबोध ने दारुण संत्रणा के बावजूद कहा और सुना था? क्या हमारे समय में हम लगभग रोज़ बारीक बेइमानियों को सूफ़ियाना अंदाज़ में ज़ाहिर होते नहीं देख रहे हैं?

'नर्मदा की सुबह'

- 1956-57 की बात है. श्रीकांत वर्मा ने बिलासपुर से एक पत्रिका निकाली थी 'नयी दिशा'. उस समय वे संभवतः किसी मिडिल स्कूल में अध्यापक थे. उसमें एक विज्ञापन छपा था जिसमें यह सूचना थी कि गजानन माधव मुक्तिबोध के संपादन में मध्यप्रदेश के युवा कवियों का एक संकलन प्रकाशित होने जा रहा है जिसका नाम होगा 'नर्मदा की सुबह'. उनके बड़े बेटे रमेश मुक्तिबोध को अपने दिवंगत पिता के कागज़ात में इस संकलन के लिए एकत्र की गयी कविताओं की पांडुलिपि मिल गयी है. रायपुर के राजेन्द्र मिश्र ने इस पांडुलिपि को देखकर उसे विन्यस्त किया है. मुक्तिबोध शती के दौरान उसे प्रकाशित करने की योजना है.
- जिस समय मुक्तिबोध यह उपक्रम कर रहे थे उस समय बल्कि उसके आठ साल बाद तक, उनकी मृत्यु होने तक उनका अपना कोई कविता-संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ था. फिर भी उनकी कोशिश, इस संचयन के माध्यम से, मध्यप्रदेश की युवा प्रतिभा को सामने लाने की थी. यह संकलन प्रकाशित नहीं हो पाया और अब लगभग 60 वर्ष बाद प्रकाशित होने जा रहा है.
- संकलन में कुल आठ कवि शामिल किये जा रहे थेः श्रीकांत वर्मा, प्रमोद वर्मा, श्रीकृष्ण अग्रवाल 'शैल', जीवनलाल वर्मा 'विद्रोही', विपिन जोशी, हरि ठाकुर, रामकृष्ण श्रीवास्तव, अनिल कुमार और रामकृष्ण श्रीवास्तव. इन कवियों में से श्रीकांत और प्रमोद वर्मा ही आगे चलकर कुछ यश और उपलब्धि अर्जित कर पाये. यह कहना कठिन है कि इस संकलन के पीछे एक चुनौती के रूप में उस समय तक प्रकाशित और अज्ञेय द्वारा संपादित 'तार सप्तक' और 'दूसरा सप्तक' की क्या भूमिका थी. 'तार सप्तक' में तो स्वयं मुक्तिबोध भी शामिल थे.
- अपनी समवर्ती रचनाशीलता में किसी लेखक की दिलचस्पी और उसमें हस्तक्षेप करने के कई रूप हो सकते हैं. बहुत सारे लेखक पत्रिकाएं निकालते हैं. कई अपनी समवयसियों पर आलोचना लिखते और पुस्तकों की समीक्षा करते हैं. आजकल फ़ेसबुक इत्यादि पर आत्मसंवर्द्धन का जो बड़ा मंच मिल गया है उसमें परस्पर टिप्पिणयों की बाढ़ भी ऐसी ही कोशिश का हिस्सा है. बहुत कम अज्ञेय और मुक्तिबोध की तरह इस तरह के संकलन कर ऐसी अधिक एकाग्र और सुनियोजित कोशिश करते हैं.
- अब यह देखा जा सकता है कि उस समय मध्य प्रदेश में जो कवि थे उनमें से मुक्तिबोध का किया चयन विवादास्पद ही हो सकता था. यह भी स्पष्ट है कि उनमें से बहुत कम आगे चलकर प्रसिद्धि या उपलब्धि पा सके. पर, यह एक ऐतिहासिक दस्तावेज़ फिर भी है. अगर तभी प्रकाशित हो जाता तो निश्चय ही यह तबके मध्यप्रदेशीय परिदृश्य में एक विचारोत्तेजक हस्तक्षेप होता. यह भी उल्लेखनीय है कि इस चयन में मुक्तिबोध ने अपनी वैचारिक दृष्टि को थोपने का यत्न नहीं किया और उनकी संपादकीय दृष्टि समावेशी है. अज्ञेय और मुक्तिबोध दोनों ने ऐसे संपादन में ऐसी समावेशी दृष्टि और रुचि का परिचय दिया थाः ऐसा समावेश आज कितना दुर्लभ है!

जो मुक्तिबोध में सिर्फ अंधेरा, भीषण या भयानक ही देखते हैं वे उन्हें जानते नहीं

- अशोक वाजपेयी ने मुक्तिबोध के पहले काव्य संग्रह के नामकरण की बहस के बारे में एक बार बताया था कि ख़ुद कवि की इच्छा उस संग्रह का नाम 'सहर्ष स्वीकारा है' रखने की थी लेकिन अशोकजी और उनके मित्रों को यह मुक्तिबोध के काव्य स्वभाव के अनुरूप नहीं लगा. उनकी समझ थी कि मुक्तिबोध में न तो हर्ष है, न स्वीकार. फिर उनके काव्य संग्रह के लिए यह नाम नितांत असंगत ठहरता. इसलिए बहुत सोच-विचार कर संग्रह का नाम 'चांद का मुंह टेढ़ा है' रखा गया. यह संग्रह मुक्तिबोध की अचेतावस्था में छपा. वे इसे देख न पाए.
- इस एक घटना और निर्णय ने मुक्तिबोध को पढ़े जाने का एक कोण तय कर दिया जहां से पिछले पचास साल से मुक्तिबोध के पाठक उन्हें देखते रहे हैं. दिलचस्प यह है कि ये पाठक दूसरे मामलों में एक-दूसरे से मतभेद रखते हैं लेकिन इस पर उनकी सहमति है कि मुक्तिबोध की कविताओं की दुनिया दहशत, डर, आशंकाओं की दुनिया है. वे मनुष्य के मन के अंधेरे के कवि हैं. दोष भावना और अपराध बोध से उनकी कविताएं बिंधी हुई हैं.
-
- मुक्तिबोध का ज़िक्र आते ही 'अंधेरे में' की याद आती है. इस वजह से अंधेरापन मुक्तिबोध को परिभाषित करने वाले प्रत्यय में बदल गया है. नकार, निषेध, अभाव, शिकायत, आलोचना, चेतावनी ऐसे शब्द हैं, जो मुक्तिबोध को पहली बार पढ़ने वाले पाठकों के पास, जिनमें ख़ासकर हिंदी के छात्र शामिल हैं, कविता के पहले पहुंच जाते हैं. कुछ वैसे ही जैसे प्रेमचंद की किसी कहानी या उपन्यास को हाथ में लेने के पहले से ही यह मालूम रहता है कि वे एक यथार्थवादी, अर्ध मार्क्सवादी, अर्ध गांधीवादी, या आदर्शोन्मुख यथार्थवादी हैं. या, जैसे अज्ञेय अस्तित्ववादी हैं, यह धारणा उनकी रचना से पहले पाठकों के पास मौजूद होती है. इन धारणाओं के धुंधलके को पारकर रचना और लेखक का साक्षात्कार करने की यात्रा कई पाठकों के लिए बहुत लंबी और तकलीफ़देह होती है.
- अंधेरे का कवि कहने के साथ-साथ मुक्तिबोध को भारतीय जनतंत्र के साथ होने वाली दुर्घटना का भविष्यवक्ता भी मान लिया गया है. कहा जाता रहा है कि 'अंधेरे में' फ़ासिस्म की आशंका की कविता है. जिस वक़्त यह कविता लिखी गई, भारत में मुक्तिबोध के प्रिय नेहरू प्रधानमंत्री थे. नेहरू के बाद क्या होगा, यह आशंका तो थी लेकिन भारत में फ़ासिस्म आ सकता है, इसके इमकानात नहीं थे. मुक्तिबोध की एक किताब के ख़िलाफ़ अभियान और उस पर पाबंदी के कारण मुक्तिबोध को यह भयंकर आशंका थी कि कुछ ऐसा-वैसा हो सकता है. लेकिन यह अपने आप में पर्याप्त कारण नहीं कि आगे फ़ासिस्म की आशंका की जाए. फिर मुक्तिबोध की इस कविता को क्या सिर्फ़ भारतीय संदर्भ में ही समझा जाए, या इस प्रकार का विचार भी संभव है कि वे भारतीय संदर्भों के सहारे, जिनमें तिलक और गांधी भी हैं, जो कह रहे थे वह भारत तक सीमित न था?
- मुक्तिबोध की अन्य कविताओं से यह बात और भी ज़ाहिर होती है. वे अनुपयोग के कारण मुरझा गई मानवीय क्षमताओं की ट्रेजेडी की कथा कहते हैं. साथ-साथ बुद्धि के कारण मनुष्य के सुख-चैन छिन जाने की भी. मानवीय उत्तरदायित्व और उससे जुड़े कर्तव्य के अहसास की तीव्रता की अभिव्यक्ति उनकी कविताओं में है. यह भी मात्र भारतीय संदर्भ तक सीमित क्यों माना जाए?
- जैसे मुक्तिबोध को अंधेरेपन का कवि कहा जाता रहा है, उसी तरह उन्हें मार्क्सवादी कहकर मान लिया जाता है कि इससे उनके बारे में सबकुछ समझ लिया गया है. मार्क्सवादी होने से किसी लेखक में क्या विशेष पैदा होता है जो उसमें नहीं है जो मार्क्सवादी नहीं है, विशेषकर उसकी कविता या कहानी में, यह अब तक स्पष्ट नहीं हो सका है. क्या यह सिर्फ़ विषय के चुनाव से ही पता चलेगा? तो क्या साहित्य में सारा कुछ विषय का चयन है?
- अगर साहित्य और उसमें भी कविता में भाषा प्रमुख है तो मार्क्सवाद उसे किस प्रकार प्रभावित करता है? प्रायः जनसाधारण की भाषा में लिखने को मार्क्सवादी होने का लक्षण और परिणाम, दोनों ही मान लिया जाता है. मार्क्सवाद रचनात्मक संवेदना को किस

प्रकार निर्णायक रूप में बदलता है, इसके बारे में ठीक-ठीक बात नहीं की गई है. इसी वजह से प्रेमचंद हों या निराला, मार्क्सवाद को इसका श्रेय दिया जाता है कि वे किसानों या मज़दूरों या जनसाधारण के दुःखदर्द और संघर्ष का चित्रण करते हैं

- मुक्तिबोध में भी अंधेरा ही अंधेरा और भीषण या भयानक देखना ऐसी ही प्रवृत्ति की वजह से है. जबकि उनमें उल्लास, कोमल और उदात्त का एक साथ निवास और दोनों की बेचैन तलाश, अपने वजूद की खोज के साथ बार-बार उसकी कठोर परख, और सबसे बढ़कर दोस्तों या मित्रों की खोज, सब कुछ है. वहां सिर्फ़ असुरक्षा जनित भय नहीं है.
- मुक्तिबोध कहते भी हैं कि ज़िंदगी मुश्किल है लेकिन इतनी मीठी कि जी चाहता है, एक घूंट में पी जाएं. उनका यह एक वाक्य ही उनकी कविता के स्वभाव को समझने के लिए दिए का काम कर सकता है.

भारतेंदु हरिश्चंद्र : आधुनिक हिंदी के पितामह जिनकी जिंदगी लंबी नहीं बड़ी थी

- बाबू मोशाय!!! जिंदगी लंबी नहीं...बड़ी होनी चाहिए...!' यह डायलॉग 1971 की चर्चित फिल्म 'आनंद' का है. फिल्म में कैंसर के मरीज बने राजेश खन्ना ने जिंदगी का यह फलसफा अपने दोस्त अमिताभ बच्चन को दिया था. लेकिन यह फलसफा हिंदी साहित्य की महान विभूति भारतेंदु हरिश्चंद्र पर भी सटीक बैठता है. उन्होंने सिर्फ 34 साल चार महीने की छोटी सी आयु में दुनिया को अलविदा कह दिया, लेकिन दुनिया छोड़ने से पहले वे अपने क्षेत्र में इतना कुछ कर गए कि हैरत होती है कि कोई इंसान इतनी छोटी सी उम्र में इतना कुछ कैसे कर सकता है. हमें मालूम हो या न हो लेकिन यह सच है कि आज का हिंदी साहित्य जहां खड़ा है उसकी नींव का ज्यादातर हिस्सा भारतेंदु हरिश्चंद्र और उनकी मंडली ने खड़ा किया था. उनके साथ 'पहली बार' वाली उपलब्धि जितनी बार जुड़ी है, उतनी बहुत ही कम लोगों के साथ जुड़ पाती है. इसलिए कई आलोचक उन्हें हिंदी साहित्य का महान 'अनुसंधानकर्ता' भी मानते हैं. ऐसी महान विभूति का जन्म नौ सितंबर, 1850 को हुआ था.

हिंदी साहित्य को आधुनिक बनाया

- भारतेंदु ने न केवल नई विधाओं का सृजन किया बल्कि वे साहित्य की विषय-वस्तु में भी नयापन लेकर आए. इसलिए उन्हें भारत में नवजागरण का अग्रदूत माना जाता है. उनसे पहले हिंदी साहित्य में मध्यकाल की प्रवृत्तियां मौजूद थीं, इसलिए उनसे पहले का का साहित्य दुनियावी जरूरतों से बिल्कुल कटा हुआ था. साहित्य का पूरा माहौल प्रेम, भक्ति और अध्यात्म का था. इसे अपने प्रयासों से उन्होंने बदल डाला. उन्होंने हिंदी साहित्य को देश की सामासिक संस्कृति की खूबियों के साथ-साथ पश्चिम की भौतिक और वैज्ञानिक सोच से लैस करने की भरसक कोशिश की.
- आधुनिक विचार ईश्वर और आस्था की जगह मानव और तर्क को केंद्र में रखता है, इसलिए इसके प्रभाव में रचा गया साहित्य लौकिक जीवन से जुड़ा होता है. लेकिन उस समय का भारत गुलामी और मध्यकालीन सोच की जंजीरों में जकड़ा था. भारतेंदु पर भारतीय संस्कृति के अलावा आधुनिक और पश्चिमी विचारों का भी असर था. इसलिए वे साहित्य में बुद्धिवाद, मानवतावाद, व्यक्तिवाद, न्याय और सहिष्णुता के गुण लेकर आए. उन्होंने अपनी लेखनी से लोगों में अपनी संस्कृति और भाषा के प्रति प्रेम की अलख जगाने का प्रयास किया.
- 1850 के आसपास के भारत में भ्रष्टाचार, प्रांतवाद, अलगाववाद, जातिवाद और छुआछूत जैसी समस्याएं अपने चरम पर थीं. हरिश्चंद्र बाबू को ये समस्याएं कचोटती थीं. इसलिए उन्होंने इन समस्याओं को अपने नाटकों, प्रहसनों और निबंधों का विषय बनाया. वे उन चंद शुरुआती लोगों में से थे जिन्होंने साहित्यकारों से आह्वान किया कि वे इस दुनिया की खूबियों-खामियों पर लिखें न कि परलोक से जुड़ी व्यर्थ की बातों पर. अपनी मंडली के साहित्यकारों की सहायता से उन्होंने नए-नए विषयों और विधाओं का सृजन किया. कुल मिलाकर उन्होंने पुरानी प्रवृत्तियों का परिष्कार कर नवीनता का समावेश करने की कोशिश की.

खड़ी बोली के सरल रूप को गद्य में स्थापित किया

- आलोचकों की नजर में भारतेंदु हरिश्चंद्र का दूसरा सबसे बड़ा योगदान हिंदी भाषा को नई चाल में ढालने का माना जाता है. उनसे पहले हिंदी भाषा में दो तरह के 'स्कूल' चलते थे. एक राजा लक्ष्मण सिंह की संस्कृतनिष्ठ हिंदी और दूसरा राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' की फारसीनिष्ठ शैली का. दोनों ही शैलियां अपनी अति को छू रही थीं. एक हिंदी भाषा में संस्कृत के शब्दों को चुन-चुनकर डाल रही थी तो दूसरा फारसी के शब्दों को. हरिश्चंद्र बाबू ने इन दोनों प्रवृत्तियों का मिलन कराया. उन्होंने अपनी पत्रिका 'हरिश्चंद्र मैगजीन' में 1873 से हिंदी की नई भाषा को गढ़ना शुरू किया. इसके लिए उन्होंने खड़ी बोली का आवरण लेकर उसमें उर्दू के प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया. वहीं तत्सम और उससे निकले तद्भव शब्दों को भी पर्याप्त महत्व दिया. इसके साथ ही उन्होंने कठिन और अबूझ शब्दों का प्रयोग वर्जित कर दिया. भाषा के इस रूप को हिंदुस्तानी शैली कहा गया, जिसे बाद में प्रेमचंद जैसे साहित्यकारों ने आगे और परिष्कृत किया. हालांकि कविता में वे खड़ी बोली के बजाय ब्रज का ही इस्तेमाल करते रहे.

हिंदी नाटक और रंगमंच के प्रवर्त्तक भी

- आलोचकों की नजर में भाषा के बाद भारतेंदु का सबसे बड़ा योगदान नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में रहा. उन्होंने पहली बार हिंदी में मौलिक नाटकों की रचना की. अपने छोटे से जीवन में भारतेंदु ने मौलिक और अनूदित मिलाकर 17 नाटक रचे. इसके अलावा वे एक अच्छे अभिनेता भी थे लिहाजा रंगमंच में भी उन्होंने कई प्रयोग किए. इसलिए उन्हें हिंदी का पहला आधुनिक नाटककार और मौलिक नाट्य चिंतक माना गया. उन्हें हिंदी नाटक का युग प्रवर्त्तक करार दिया गया.
- उन्होंने नाटक के कथानक को काफी विविध बना दिया. उनसे पहले के नाटक धार्मिक और भावुकता प्रधान थे. इसकी जगह उन्होंने पौराणिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक और सामाजिक नाटक लिखे. इसके जरिए उन्होंने तार्किक चिंतन विकसित करने की कोशिश की. इनके लिखे भारत-दुर्दशा, अंधेर नगरी, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति जैसे नाटक अभी भी मंचित हो रहे हैं. ये सभी प्रहसन की श्रेणी में भी आते हैं. हिंदी में पहली बार प्रहसन लिखने की शुरुआत इन्होंने ही की और उसे उसके शीर्ष तक भी पहुंचाया. इस विधा के जरिए उन्होंने समाज में गहरी पैठी समस्याओं पर व्यंग्य के माध्यम से करारा प्रहार किया था. इनका रंगमंच के क्षेत्र में काफी योगदान रहा. वेश, वाणी, अभिनय के स्वरूप और गीतों के स्वाभाविक प्रयोग आदि पर इन्होंने काफी काम किया. इन्होंने पारसी और पश्चिमी थिएटर के अति प्रभाव से दूर करते हुए हिंदी रंगमंच की स्थापना की.

उनका काव्य रचना-संसार बहुत विस्तृत था

- भारतेंदु का काव्य रचना संसार बहुत विस्तृत था. इतनी छोटी सी उम्र में ही उन्होंने 21 काव्यग्रंथ, 48 प्रबंध काव्य और कई मुक्तक रच डाले थे. वे गद्य खड़ी बोली में लिखते थे लेकिन कविता के लिए उन्होंने ब्रज भाषा को चुना था. इस प्रवृत्ति को 'भाषा का द्वैध' कहा गया, जो इनके दो दशक बाद तक चलता रहा. भारतेंदु ने कहा कि कविता के लिए जिन भाव-बोधों की जरूरत होती है वे काफी प्रयास करने के बाद भी खड़ी बोली में नहीं आ सके. इसे उनकी विलक्षण प्रतिभा की सीमा माना जाता है. हालांकि बाद में महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनके शिष्य कवि 1900 के बाद खड़ी बोली में भी सुंदर काव्य रचने में सफल रहे. वैसे उनकी कविता में कवित्त, सवैया, दोहा, छप्पय जैसे पारंपरिक छंदों के अलावा लावनी, कजली जैसी लोकप्रचलित शैलियों का भी जमकर प्रयोग हुआ.

वे एक श्रेष्ठ पत्रकार भी थे

- भारतेंदु एक श्रेष्ठ पत्रकार भी थे. उन्होंने बालाबोधनी, कविवचन सुधा और हरिश्चंद्र मैगजीन (बाद में हरिश्चंद्र पत्रिका) जैसी पत्रिकाओं का प्रकाशन और संपादन कर साहित्य से अलग विषयों और समस्याओं पर लिखा. इन पत्रिकाओं के जरिए उन्होंने न केवल नई किस्म की भाषा का विकास किया बल्कि आधुनिक भारत की समस्याओं पर भी खुलकर चिंतन किया. वे इन पत्रिकाओं के जरिए अक्सर

देशप्रेम विकसित करने की कोशिश किया करते थे. हरिश्चंद्र बाबू ने इन पत्रिकाओं के लिए ढेरों निबंध, आलोचना और रिपोर्ताज लिखे. आलोचकों के अनुसार इन विधाओं की स्थापना भारतेंदु और इनके साथियों के प्रयासों से ही हुई. अपनी पत्रिकाओं में विविध विषयों पर लिखे अपने लेखों से उन्होंने अन्य लेखकों को भी प्रेरित किया. आलोचकों के अनुसार उनके साथी बालकृष्ण भट्ट और प्रताप नारायण मिश्र की लेखनी पर भारतेंदु का स्पष्ट प्रभाव दिखता था. उन्होंने दिखाया कि कैसे साहित्य से इतर विधाओं में भी आम-जीवन से जुड़े विषयों पर लिखा जा सकता है. इन वजहों से उनकी पत्रिका लोगों में हिंदी के प्रति अभिरुचि विकसित करने में कामयाब हुई.

- हरिश्चंद्र बाबू का व्यक्तित्व और कृतित्व बहुआयामी था. उन्होंने आधुनिक हिंदी साहित्य की लगभग सभी विधाओं में योगदान दिया विशेषकर गद्य साहित्य में. आधुनिक हिंदी साहित्य के सभी विधाओं के बीज इनकी रचनाओं में मिल जाते हैं. इन्होंने अपने को किसी एक विधा तक सीमित नहीं रखा था. वे 'कुछ आपबीती, कुछ जगबीती' नामक उपन्यास भी लिख रहे थे, लेकिन असमय निधन से वे यह काम पूरा न कर सके. उनका यह सपना बाद में उनके साथी श्रीनिवास दास ने हिंदी का पहला उपन्यास 'परीक्षा गुरु' लिखकर पूरा किया. ऐसी अद्वितीय प्रतिभा दुर्भाग्य से अपने जीवन के चौथे ही दशक में छह जनवरी, 1885 को दुनिया से कूच कर गई.

रामधारी सिंह 'दिनकर' : कवि जो सत्ता के करीब रहकर भी कभी जनता से दूर नहीं हुआ

- रामधारी सिंह 'दिनकर' (23 सितंबर 1908- 24 अप्रैल 1974) अपने समय के ही नहीं बल्कि हिंदी के ऐसे कवि हैं, जो अपने लिखे के लिए कभी विवादित नहीं रहे, जिंदगी के लिए भले ही थोड़े-बहुत रहे हों. वे ऐसे कवि रहे जो एक साथ पढ़े-लिखे, अपढ़ और कम पढ़े-लिखों में भी बहुत प्रिय हुए. यहां तक कि अहिंदी भाषा-भाषियों के बीच भी वे उतने ही लोकप्रिय थे. पुरस्कारों की झड़ी भी उनपर खूब होती रही, उनकी झोली में गिरनेवाले पुरस्कारों में बड़े पुरस्कार भी बहुत रहे - साहित्य अकादमी पुरस्कार, पद्मविभूषण, भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार इस बात की तस्दीक खुद करते हैं. बावजूद इसके वे धरती से जुड़े लोगों के मन को भी उसी तरह छूते रहे.
- हिंदी साहित्य के इतिहास में कि ऐसे लेखक बहुत कम हुए हैं जो सत्ता के भी करीब हों और जनता में भी उसी तरह लोकप्रिय हों. जो जनकवि भी हों और साथ ही राष्ट्रकवि भी. दिनकर का व्यक्तित्व इन विरोधों को अपने भीतर बहुत सहजता से साधता हुआ चला था. वहां अगर भूषण जैसा कोई वीर रस का कवि बैठा था, तो मैथिलीशरण गुप्त की तरह लोगों की दुर्दशा पर लिखने और रोनेवाला एक राष्ट्रकवि भी. हालंकि दिनकर छायावाद के तुरंत बाद के कवि थे पर आत्मा से वे हमेशा द्विवेदीयुगीन कवि रहे.
- दिनकर और हरिवंशराय बच्चन दोनों समकालीन थे. समकालीनों के बीच की जलन और प्रतिस्पर्धा किसी के लिए भी छिपी हुई बात नहीं. पर दिनकर ऐसे कवि थे जो अपने समकालीनों के बीच भी उतने ही लोकप्रिय थे. दिनकर को जब उर्वशी के लिए ज्ञानपीठ मिला तो किसी आग-लगाऊ पाठक ने बच्चन जी को पत्र लिखकर पूछा कि - 'क्या यह एक सही निर्णय था. बच्चन जी दिनकर को मिले इस पुरस्कार के सन्दर्भ में क्या सोचते हैं.' इसपर बच्चन जी का जवाब था, 'दिनकर जी को एक नहीं बल्कि गद्य, पद्य, भाषा और हिंदी के सेवा के लिए अलग-अलग चार ज्ञानपीठ मिलने चाहिए थे.'
- उनके समकालीन लेखकों में से एक और समकालीन रामवृक्ष बेनीपुरी जी की मान्यता थी कि - 'दिनकर ने देश के क्रांतिकारी आंदोलनों को अपना स्वर बखूबी दिया.' नामवर सिंह के अनुसार – 'दिनकर अपने युग के सचमुच के सूर्य थे.' यथार्थ और मध्यमवर्गीय समाज को अपनी रचनाओं के केंद्र में लेकर चलनेवाले लेखक राजेंद्र यादव कहते थे – 'दिनकर जी की रचनाओं से मैं किशोरावस्था से ही बहुत प्रभावित रहा.' राजेंद्र यादव दिनकर से किस हद तक प्रभावित थे यह इस वाकये से समझा जा सकता है. दिनकर की बड़ी प्रसिद्ध पंक्तियां हैं - 'सेनानी करो प्रयाण अभय सारा इतिहास तुम्हारा है / अब नखत निशा के सोते हैं सारा आकाश तुम्हारा है.' राजेंद्र जी ने जब अपने उपन्यास 'प्रेत बोलते हैं' फिर से लिखना तय किया तो उसका शीर्षक दिनकर की इन्हीं पंक्तियों से लिया था. शीर्षक था - 'सारा आकाश'
- दिनकर के शब्दों की ही यह शक्ति थी कि लोगों के बीच वे कहावतों और लोक-श्रुतियों की तरह प्रचलित हुए. उन्हें अपनी बातों में उद्धृत करने वाले किसान और मजदूर तक होते हैं. इसका एक कारण जहां उनका किसानों के घर से आना था वहीं दूसरा सीधी सरल भाषा को भी बहुत प्रभावी ढंग से प्रयोग किया जाना भी था. तीसरी इसे लोकप्रिय बनानेवाली उनकी संबोधनात्मक शैली रही. 1933 में जब उन्होंने पहली बार किसी कवि सम्मेलन (बिहार हिंदी कवि सम्मलेन) में मच्छरों के काटने से जागने के कारण एक रात पूर्व

लिखी हुई कविता – 'मेरे नगपति, मेरे विशाल' पढ़ी तो दर्शक जैसे उन्हें बार-बार सुनने के लिए पागल हो गए. उन्होंने भी आमलोगों की फरमाइश पर इस कविता को चार बार सुनाया.

- स्वतन्त्रतापूर्व के इस विद्रोही कवि और स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के इस राष्ट्रकवि ने देश में नवजीवन के संचार के लिए शुरू में 'परशुराम' और 'कर्ण' जैसे उपेक्षित पात्रों को चुना, वीरता और पुरुषार्थ जिनका निज स्वभाव थी. इनका 'कुरुक्षेत्र' भी महाभारत की कहानी को केंद्र में लेकर द्वितीय विश्वयुद्ध के परिप्रेक्ष्य में लिखा गया. कुरुक्षेत्र कहता है कि - युद्ध कोई नहीं चाहता, लेकिन जब युद्ध के सिवाय और कोई चारा नहीं हो तो लड़ना ही आखिरी विकल्प है. अंग्रेजी सरकार की नौकरी के बावजूद उनका रवैया सदा उस शासन के विरुद्ध रहा. सरकार को भी यह महसूस होने लगा था कि वे शासन विरोधी हैं. इसका उदाहरण चार साल के वक़्त के बीच हुए उनके 22 तबादले हैं और बार-बार उनकी पेशी भी. 'हुंकार' के लिए जब उन्हें कहा गया कि उन्होंने इसे लिखने के लिए इजाजत क्यों नहीं ली, तो उनका साफ़ जवाब यह था – 'मेरा भविष्य इस नौकरी में नहीं साहित्य में है और इजाजत लेकर लिखने से बेहतर मैं यह समझूंगा कि मैं लिखना छोड़ दूं.'
- दरअसल दिनकर का मुख्य सरोकार जनता के लिए था, उनके दुःख दर्द लिखने, उनकी पीड़ा कहने से था. उनके दुख और बदहाली उन्हें हर हाल में उद्वेलित करते रहे, आजादी के बाद अपने शासन काल में भी. वे जब राज्यसभा सदस्य बने तो संसद में जाने से पहले नेहरू जी ने उन्हें किसी कविता का पाठ करने को कहा था. निर्भीक दिनकर उस वक़्त भी अपनी बात कहने से नहीं चूके. 'भारत का रेशमी नगर' दिल्ली और राजनीतिज्ञों को केंद्र में रखकर लिखी गई वही कविता थी, जिसमें इस शासन काल में भी किसानों मजदूरों और आम लोगों के दुख की बात कही गई थी.
- दिनकर वह पहले लेखक थे जो अपने लेखन के सबसे बड़े आलोचक थे. वे समय-समय पर अपने लिखे की विवेचना और पड़ताल करते रहते थे. यही कारण है कि उनकी शैली में समय-समय पर बदलाव आते रहे. एक लेखक अगर परिवर्तनजीवी न हो तो वह मरा हुआ लेखक होता है. दिनकर को देखकर इस बात की तस्दीक और ज्यादा होती है. शुरू के ओजस्वी कवि, 'उर्वशी' के रचयिता बिलकुल नहीं लगते और 'उर्वशी' का रचनाकार 'हारे को हरिनाम' का कवि नहीं लगता.
- दिनकर का 'संस्कृति के चार अध्याय' जहां देश से संबंधित सारगर्भित लेखों का जखीरा है, वहीं उन्होंने बच्चों के लिए भी कुछ अद्भुत मनोहारी कविताएं लिखीं. 'चांद का कुर्ता', 'सूरज की शादी', 'चूहे की दिल्ली यात्रा' कुछ ऐसी ही बहुत मनोरंजक और प्रेरक बाल-कविताएं हैं. उनके समकालीनों में से शायद ही कोई हो जिन्होंने बाल रचनाएं भी इस लगाव से लिखीं -'अगर सूर्य ने ब्याह किया, दस पांच पुत्र जन्मेगा / सोचो तब उन पुत्रों का ताप कौन सहेगा / अच्छा है सूरज कुंवारा है, वंशहीन अकेला है / इस प्रचंड का ब्याह जगत के खातिर एक झमेला है.' इन पंक्तियों से यह साबित तो होता है कि इस लेखक के दायरे से बाहर कोई नहीं था, उन्हें चिंता और लगाव था तो किसी एक से नहीं वरन सभी से.
- उर्वशी की शैली तो दिनकर के लेखन से इतनी भिन्न थी कि खुद वे इसके लिखे जाने पर अचरज करते थे. इसके लिखे जाने के वक़्त तक वे काफी अस्वस्थ रहने लगे थे. डॉक्टरों ने उन्हें लिखने के लिए एकदम मना कर दिया था. मूर्छा आना इसका मुख्य कारण था. उनकी चिरौरी पर डॉक्टरों ने यह इजाजत दी कि जब मूर्छा छाने लगे वे थोड़ी शहद चाट लें इससे मूर्छा का असर कम हो जाएगा. पर यह बार-बार करके भी लिखना उनके स्वास्थ्य के लिए बहुत खतरनाक था. दिनकर जी के अनुसार उन्होंने यह पूरी किताब एक तंद्रा में ही लिखी थी. और यह कब और कैसे लिखी, जैसे खुद उनकी समझ के भी बाहर की बात थी. इस आश्चर्य को दिनकर जी की इन पंक्तियों में देखा जा सकता है - मैं घोर चिन्तना में धंसकर, पहुंचा भाषा के उस तट पर / था जहां काव्य यह धरा हुआ / सब लिखा लिखाया पड़ा हुआ / बस झेल गहन गोते का सुख / ले आया इसे जगत सम्मुख.
- 'उर्वशी' प्रेम, वासना और अध्यात्म का अद्भुत संगम है. यह पुरुरवा और उर्वशी की कहानी है जो महाभारत के शान्ति पर्व से उठाई गई थी. इसमें मानव होने को देवदूत और ईश्वर से बहुत ऊपर रखा गया. इस वक़्त तक दिनकर के जीवन में अध्यात्म का प्रवेश भी होने लगा था. वे महर्षि रमण और अरविंद आश्रम के चक्कर लगाने लगे थे. अध्यात्म का भी उनके जीवन में अकस्मात प्रवेश नहीं हुआ. जगत जीतते दिनकर दरअसल अपने निजी मोर्चे पर लगातार हार रहे थे. उनका पत्नी के साथ वैचारिक असामंजस्य था. 13 वर्ष की अल्पायु में हुई शादी इसका मुख्य कारण था (हालांकि इस रिश्ते को उन्होंने आजीवन फिर भी निभाया). फिर बेटियों, पोतियों के

विवाह की चिंता, घर का अधिकतर भार सहकर उन्हें लेखन और लेखकीय यात्राओं के लिए तत्पर करनेवाले बड़े बेटे की असामयिक मृत्यु जैसे दुख लगातार उन्हें अध्यात्म की ओर धकेलते रहे.

- दुख और तकलीफों के पहाड़ों के बीच उनकी हुंकार और ओज अब कहीं खोने लगी थी. अपने समय का यह सूर्य अब अस्ताचल में डूबने को ही था. 'हारे को हरिनाम' की वह पराजित, दुविधाओं और द्वन्द से भरी आवाज कहीं से भी नहीं लगती कि इसी आवाज ने कभी हुंकार-भरकर जनजन के आक्रोश को स्वर दिया था और उसमें नई शक्ति का संचार किया था.
- हालांकि जीवन अनुभव और यथार्थ यहां भी है और ये कवितायें जीवन के बहुत करीब की कविताएं हैं. ओजस्वी दिनकर जिन्दगी में रूमानी और साफ दिल थे, जिसका उदहारण सिर्फ 'रसवंती', 'उर्वशी' ही नहीं, वे सारी स्त्रियां भी हैं, जो क, ख, ग के नाम से उनकी डायरी में वर्णित हैं. यह उनकी साफदिली ही थी कि डायरी के प्रकाशन के समय उन्होंने इसे हटाया नहीं, बल्कि वे तो चाहते थे स्त्रियों का असल नाम यहां दिया जाए पर उनके कुछ लेखक मित्रों के सुझाव से इन नामों को क, ख, ग की शक्ल अख्तियार करनी पड़ी. वे मानते थे, 'जब हम और आप एक ही नाव के सवार हैं तो शर्म कैसी और झिझक कैसी?'

जब दिनकर ने लिखा, 'मानवता की जो कब्र वही गांधी की भी होगी समाधि...'

- आज रामधारी सिंह दिनकर को याद करने का दिन है. सब उन्हें उनकी ओजमयी कविताओं के माध्यम से याद कर रहे हैं. जैसे महात्मा गांधी अब गुजरते हर दिन के साथ प्रासंगिक होते जा रहे हैं, ठीक यही बात दिनकर जी द्वारा उनके ऊपर लिखी कविताओं के बारे में कही जा सकती है. और इसलिए रामधारी सिंह दिनकर पर अलग से बात करने की जरूरत है.
- जून, 1947 में दिनकर का एक काव्य-संग्रह छपा. केवल चार कविताओं वाले इस संग्रह का नाम था- 'बापू'. इसके छह महीने के भीतर ही गांधी की हत्या हो गई. उनकी हत्या के बाद दिनकर का हृदय क्षोभ से भर उठा. उनकी कलम फिर से चल पड़ी. जीवित गांधी के प्रति व्यक्त किए गए अनुराग भरे शब्दों में उनके कुछ और कठोर शब्द भी जुड़ते चले गए. इन शब्दों का स्रोत थी गांधी की हत्या से उपजी मर्मांतक पीड़ा और आत्मग्लानि. जल्दी ही इस संग्रह का दूसरा संस्करण मई, 1948 में छापा गया.
- यह वह दौर था जब देश में जगह-जगह सांप्रदायिकता की आग लगी हुई थी. भारत का भौगोलिक और राजनीतिक विभाजन भारतीय समाज के द्वेषपूर्ण विभाजन का भी दंश लेकर आया था. द्वितीय विश्वयुद्ध के विनाशकारी परिणामों को पूरी दुनिया भुगत रही थी. हिंसा के इस विकट दौर में केवल बूढ़े गांधी ही थे जो अहिंसा, प्रेम और करुणा की अलख जगाने में लगे हुए थे.
- दिनकर जैसा अपेक्षाकृत युवा इसे देखकर अभिभूत था. कहते हैं दिनकर ने द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान प्रोपगेंडा विभाग में भी कार्य किया था. युद्ध की विभीषिका और इससे जुड़े साम्राज्यवादी और कूटनीतिक छल-प्रपंच को उन्होंने निकट से देखा था. इसलिए दिनकर के काव्य-सृजन का एक बड़ा हिस्सा युद्धमात्र के खिलाफ ही रचा गया है. असल वीरता और वीरता में छिपी कायरता के बीच के बारीक फर्क को दिनकर ने गांधी के माध्यम से ही समझा था. इसलिए उनकी यह किताब गांधी के बहाने हिंसा और द्वेष की प्रवृत्ति की तहें उधेड़ने वाली थी. तत्कालीन भयावह परिस्थितियों का चित्रण उनकी इन पंक्तियों में मिलता है-

'देवालय सूना नहीं, देवता हैं, लेकिन, कुछ डरे हुए ;
दानव के गर्जन-तर्जन से कुछ भीति-भाव में भरे हुए।'

- लेकिन इस डर को दूर भगाएगा कौन? तो वे गांधी के लिए कहते हैं, 'मानवता का मरमी सुजान आया तू भीति भगाने को'। लेकिन लाठी टेककर चलने वाला एक बूढ़ा कैसे यह सब कर सकेगा? इस पर वे कहते हैं -'तू चला, तो लोग कुछ चौंक पड़े, 'तूफान उठा या आंधी है?'
  ईसा की बोली रूह, अरे! यह तो बेचारा गांधी है '
- दिनकर की अन्य कविताओं की भांति ही इस कविता में भी दिनकर के उन्हीं शब्दों, भावों और उपमाओं के दर्शन होते हैं जो उनकी विशेष पहचान रही है. वही ओज, वही जोश, वही तीव्रता, उग्रता और आवेग यहां भी देखने को मिलते हैं. दिनकर भी अपनी इस शैली को खूब पहचान चुके थे. इसलिए इस पुस्तक की भूमिका में उन्होंने स्वयं लिखा था- 'कविता का एकाध अंश ऐसा है जिसे स्वयं

बापू, शायद, पसंद नहीं करें. किन्तु, उनका एकमात्र वही रूप तो सत्य नहीं है जिसे वे स्वयं मानते हों. हमारे जातीय जीवन के प्रसंग में वे जिस स्थान पर खड़े हैं वह भी तो भुलाया नहीं जा सकता.'

- तो दिनकर की नज़र में जातीय जीवन के प्रसंग में गांधी किस स्थान पर खड़े हैं? यह इस संग्रह में जगह-जगह अपने-आप उद्घाटित होता जाता है. वह जातीय प्रसंग अथवा सामाजिक और राष्ट्रीय प्रसंग भय, अशांति, घृणा और हिंसा का है, जिसमें गांधी ही उन्हें एकमात्र आशा की किरण नज़र आते हैं, क्योंकि उनकी उपस्थिति मात्र से भय और हिंसा दूर भागती है. मनुष्य तो मनुष्य पशु-पक्षी को भी गांधी की उपस्थिति में निर्भयता और निश्चिन्तता का अनुभव होता है. दिनकर कहते हैं -

'कोई न भीत, कोई न त्रस्त; सब ओर प्रकृति है प्रेम भरी,
निश्चिन्त जुगाली करती है, छाया में पास खड़ी बकरी।'

- कवि दिनकर को गांधी में सबसे ज्यादा क्या आकर्षित करता है? कवि कहता है कि प्रखर बुद्धिवाले मेधावी लोग ही इस दुनिया के लिए संकट बन चुके हैं. वह ज्ञानमात्र पर प्रश्नचिह्न लगाता है. कवि को ईसा और गांधी जैसों की सरलता और उनका त्याग और प्रेम ही आकर्षित करता है. दिनकर कहते हैं -

मानवता का इतिहास, युद्ध के दावानल से छला हुआ,
मानवता का इतिहास, मनुज की प्रखर बुद्धि से छला हुआ।
मानवता का इतिहास, मनुज की मेधा से घबराता सा,
मानवता का इतिहास, ज्ञान पर विस्मय-चिह्न बनाता सा।

और जब मनुष्य अपने ही बनाए इस जाल में फंस जाता है. तो गांधी जैसे संतो-महात्माओं की ओर दौड़ता है. कवि कहता है -

मानवता का इतिहास विकल, हांफता हुआ, लोहू-लुहान;
दौड़ा तुझसे मांगता हुआ, बापू! दुःखों से सपदि त्राण।

लेकिन क्या गांधी जैसे व्यक्तियों का जीवन जीना आसान होता है. नहीं, बिल्कुल नहीं. उस पर भी उंगलियां उठती हैं, आक्षेप किया जाता है. ऐसे व्यक्तित्वों को भी उकसाया जाता है कि वे प्रतिक्रिया करें. लेकिन यही तो उनकी परीक्षा होती है, और ऐसी परीक्षाओं को गांधी जैसे लोग सहज ही पार कर जाते हैं. कवि इसका साक्षी बनकर कहता है -

ली जांच प्रेम ने बहुत, मगर बापू तू सदा खरा उतरा,
शूली पर से भी बार-बार, तू नूतन ज्योति भरा उतरा।

प्रेमी की यह पहचान, परुषता को न जीभ पर लाते हैं,
दुनिया देती है जहर, किन्तु, वे सुधा छिड़कते जाते हैं।

जाने, कितने अभिशाप मिले, कितना है पीना पड़ा गरल,
तब भी नैनों में ज्योति हरी, तब भी मुख पर मुस्कान सरल।

दिनकर गांधी की एक ऐसी जीवंत तस्वीर खींचते हैं, मानो उस तस्वीर से गांधी की देह नहीं, बल्कि उनके विचार, उनके जीवनादर्श प्रकट होते जाते हैं. यहां गांधी एक ऐसे महामानव के रूप में उभरते हैं जिनके सामने कवि स्वयं को बहुत ही छोटा पाता है. श्रद्धावनत् होकर वह कह उठता है -

'सामान्य मृत्तिका के पुतले, हम समझ नहीं कुछ पाते हैं,
तू ढो लेता किस भांति पाप जो हम दिन-रात कमाते हैं।'

कितना विभेद! हम भी मनुष्य, पर, तुच्छ स्वहित में सदा लीन,
पल-पल चंचल, व्याकुल, विषण्ण, लोहू के तापों के अधीन।

पर, तू, तापों से परे, कामना-जयी, एकरस, निर्विकार,
पृथ्वी को शीतल करता है, छाया-द्रुम-सी बाहें पसार।'

कवि को लगता है कि गांधी संघर्ष का एक नया तरीका दुनिया को सिखाने आए हैं. उसे आश्चर्य होता है कि जिस साम्राज्यवादी सत्ता को बड़ी-बड़ी सेनाएं नहीं हरा सकीं, उससे यह एक अर्द्धनग्न आदमी बिना किसी हथियार के लोहा ले रहा है. यहां एक फिर से वह बहुत ही उद्‌भुत तरीके से प्रतीकात्मक रूप में गांधी की बकरी का इस्तेमाल करते हैं -

विस्मय है जिस पर घोर, लौह-पुरुषों का कोई बस न चला,
उस गढ़ में कूदा दूध और मिट्टी का बना हुआ पुतला।

सारे संबल के तीन खण्ड, दो वसन, एक सूखी लकड़ी,
सारी सेनाओं की प्रतीक, पीछे चलने वाली बकरी।

लेकिन समय की भयावहता कवि को बार-बार डरा देती है. वह डरता है कि कहीं गांधी इन शक्तियों ने हार न जाएं. यदि गांधी सचमुच हार गए, तो क्या होगा? इसपर कवि कहता है -

बापू जो हारे, हारेगा जगतीतल का सौभाग्य-क्षेम,
बापू जो हारे, हारेंगे श्रद्धा, मैत्री विश्वास प्रेम।

श्रद्धा, विश्वास, क्षमा, ममता, सत्यता, स्नेह, करुणा अथोर,
सबको सहेजकर बापू ने, सागर में दी है नाव छोड़।

कवि ने बापू से इतने अपनापन का नाता जोड़ लिया है कि उसे बहुत कुछ साधिकार कहने का मन करता है. कवि की ये पंक्तियां बहुत छूने वाली हैं -

बापू! मैं तेरा समयुगीन; है बात बड़ी, पर कहने दे ;
लघुता को भूल तनिक गरिमा के महासिंधु में बहने दे।

यह छोटी सी भंगुर उमंग, पर, कितना अच्छा नाता है,
लगता है पवन वही मुझको, जो छूकर तुमको आता है।

गांधी की हत्या के अगले दिन यानि 31 जनवरी, 1948 को लिखी गई एक कविता में दिनकर आत्मग्लानि भरे स्वर में कहते हैं -

लौटो, छूने दो एक बार फिर अपना चरण अभयकारी,
रोने दो पकड़ वही छाती, जिसमें हमने गोली मारी।

गांधी के हत्या में कवि स्वयं को भी दोषी करार देता है. लेकिन गांधी के असली हत्यारे उससे छिपे हुए नहीं हैं. कवि जानता है कि गांधी का हत्यारा कोई एक नहीं था. कई थे. गांधी का हत्यारा बल्कि कोई व्यक्तिमात्र नहीं था. उनकी हत्यारन तो एक संगठित विचारधारा थी. एक प्रवृत्ति थी. वह प्रवृत्ति थी द्वेष की, वह विचारधारा थी घृणा की. इस जहरीली विचारधारा से विषाक्त हो चुके वातावरण का वर्णन कवि ने इसी संग्रह में अन्यत्र करते हुए कहा है -

जल रही आग दुर्गन्ध लिये, छा रहा चतुर्दिक विकट धूम,
विष के मतवाले, कुटिल नाग, निर्भय फण जोड़े रहे घूम।

गांधी की मृत्यु पर अघटन घटना, क्या समाधान? शीर्षक से लिखी गई कविता में कई जगह पर इस विडंबना पर जोर देते हैं कि हत्यारा 'हिन्दू' था. कहते हैं, 'कहने में जीभ सिहरती है, मूर्च्छित हो जाती कलम, हाय, हिन्दू ही था वह हत्यारा।' अन्यत्र कहते हैं, 'गोली से डाला मार उन्हें, उन्मत्त एक हत्यारे ने, जो हिन्दू था।' एक स्थान पर फिर से पूछते हैं, 'हिन्दू भी करने लगे अगर ऐसा अनर्थ, तो शेष रहा जर्जर भू का भवितव्य कौन?'

और एक स्थान पर तो क्षोभ में भरकर कह उठते हैं -

लिखता हूं कुंभीपाक नरक के पीव कुण्ड में कलम बोर,
बापू का हत्यारा पापी था कोई हिन्दू ही कठोर।

कवि को विश्वास है कि गांधी के हत्यारे यदि अब भी गांधी से क्षमा मांग लें, तो उन्हें क्षमा मिल जाएगी. हत्यारों के हृदय-परिवर्तन की आशा लिए वह आह्वान करता है कि अब भी बापू को पहचानो. गांधी की हत्या के सात दिन बाद लिखी इस कविता में दिनकर कहते हैं -

रो-रो कर मांगो क्षमा, अश्रु से करो पितृ-शव काऽभिषेक,
अगुणी, कृतघ्न जन के अब भी हैं बापू ही आधार एक।

पहचानो, कौन चला जग से? पापी! अब भी कुछ होश करो
गति नहीं अन्य, गति नहीं अन्य, इन चरणों को पकड़ो, पकड़ो।

गांधी के प्रति दिनकर के इन भावों की प्रामाणिकता उनका गांधी के समयुगीन होने में भी है. इसे उन्होंने बार-बार कहा भी है. इतना तक कि एक स्थान पर कवि का मन गद्गद् होकर कह उठता है, 'हे धन्य विधाता! जिसने गांधी-युग में हमको जन्म दिया।'

गांधी की हत्या को दिनकर मानवता की हत्या करार देते हुए कहते हैं, 'मानवता की जो कब्र वही गांधी की भी होगी समाधि।' लेकिन अब तो उनकी हत्या हो गई. अब हम क्या करें? दिनकर इस कविता में अन्यत्र इसका समाधान देते हुए कहते हैं -

'बापू ने राह बना डाली, चलना चाहे संसार चले,
डगमग होते हों पांव अगर तो पकड़ प्रेम का तार चले।'

भारत में गांधी-युग के बाद के युग में हम कहां तक पहुंचे हैं? चौतरफा हिंसा, कपट, घृणा, अविश्वास और संवादहीनता के वातावरण में आज यदि दिनकर जीवित होते, तो क्या फिर से वह इसी प्रेम का ऐसे ही मुक्तकंठ से आह्वान नहीं करते? लेकिन क्या उनका यह आह्वान भांति-भांति के जयकारों की शोर में दब नहीं जाता? अंध-जयकारों के इस युग में हम गांधी की ही तरह दिनकर की भी जय-जयकार भले ही कर सकते हों, लेकिन उनके प्रेमाह्वान को सुनने, समझने और आत्मसात करने की मंशा, धैर्य और ईमानदारी कहां से लाएंगे?

हिंदी पहले राष्ट्रीय तो बने, अंतरराष्ट्रीय अपने आप बन जाएगी

- आबादी के लिहाज से दुनिया का दूसरा सबसे बड़ा और सभ्यता-संस्कृति की दृष्टि से सबसे पुराना देश भारत अंग्रेज़ों के चले जाने के बाद भी उनकी दी हुई अंग्रेजी की बड़े गर्व से गुलामी बजा रहा है. उसने सरकारी कामकाज की भाषा बनाकर उसे सर्वोच्च सिंहासन पर बिठा रखा है. यहां तक कि भारत का संविधान भी मूल रूप से अंग्रेजी में ही लिखा गया है. विवाद की स्थिति में अंग्रेज़ी शब्दावली को ही वैध माना जायेगा, हिंदी अनुवाद को नहीं.
- संविधान में कहा गया था कि 1965 में अंग्रेज़ी का स्थान हिंदी ले लेगी. तमिलनाडु के कट्टर हिंदी-विरोधियों की कृपा से सरकारी कामकाज आज तक न केवल मूलतः अंग्रेज़ी में ही हो रहा है. स्वयं हिंदीभाषियों के बीच भी - या तो हीनताग्रंथि के कारण या फिर शेखी बघारने के जोश में - अपना निजी कामकाज भी यथासंभव अंग्रेज़ी में ही करने की प्रवृत्ति हावी हो गयी है. लोगों के लेटरपैड, विज़िटिंग (परिचय) कार्ड, शादी-ब्याह के निमंत्रणपत्र, दुकानों-कार्यालयों के नामपट्ट और सामान बेचने-ख़रीदने की रसीदें तक, बिना किसी अनिवार्यता के, अंग्रेज़ी में ही लिखने का रिवाज़ बनता गया है.
- टुटपुंजिए माता-पिता भी अपने बच्चों को बड़े शौक से अंग्रेज़ी माध्यम के स्कूलों में भेज रहे हैं. हिंदी लिखने-पढ़ने-बोलने में जिन्हें जितनी शर्म आती है, वे उतने ही ऊंचे स्वर में हिंदी को संयुक्त राष्ट्र की भाषा बनाने का नारा लगाते हैं. ख़ुद तो हिंदी को हेठी समझते हैं और चाहते हैं कि सारी दुनिया हिंदी सीखे!
- जो देश आज़ादी के सात दशक बाद भी अंग्रेज़ी के मोहजाल में इस तरह फंसा हो कि उसकी अपनी ही सबसे बड़ी भाषा का कथित स्वतंत्र मीडिया भी, वाक्यरचना के समय सहज-स्वाभाविक देशज शब्दों को हटा कर अंग्रेज़ी के शब्द ठूंसने लगे, तो फ़िर विदेशी, बैसाखियों के सहारे चलने वाली एक ऐसी आधी-अधूरी लंगड़ी भाषा सीखने में समय व संसाधन बर्बाद क्यों करें? वे अंग्रेज़ी के अपने अधूरे या पूरे ज्ञान से ही काम चलाने की क्यों न सोचें? कम से कम यूरोपीय तो यही सोचते हैं और प्रायः पूछते भी हैं कि भारतीयों में अपनी भाषा से लगाव और आत्मसम्मान की इतनी कमी क्यों होती है? उन्हें आश्चर्य होता है कि हज़ारों वर्षों की अपनी सभ्यता का दावा करने वाला भारत इन हज़ारों वर्षों में अपनी कोई सर्वमान्य भाषा क्यों नहीं बना पाया? मुझ से जर्मनी में कई बार यही पूछा जाता है.

अंग्रेज़ी के प्रति दास-मानसिकता

- अंग्रेज़ी के प्रति भारतीयों की दास-मानसिकता और हिंदी को लेकर हीन-भावना के दो उदाहरण इस संदर्भ में अनुचित न होंगे. बात 1990 वाले दशक के अंत की है. जर्मन विश्वविद्यालयों में हिंदी के छात्र व्यावहारिक अनुभव पाने के लिए 'रेडियो डॉएचे वेले' के हिंदी कार्यक्रम में आया करते थे. मैं उस समय हिंदी विभाग का प्रमुख था. हिंदी की एक ऐसी ही छात्रा ने एक दिन मुझे बताया कि दो भारतीयों ने एक बार उसे इसलिए बुरी तरह से डांट दिया कि उसने उनसे हिंदी में बात करने की हिम्मत कर ली!
- उसने बताया कि वह एक बार कोलोन के एक व्यापार मेले में होस्टेस और दुभाषिये का काम कर रही थी. हिंदी जानने के कारण उसे एक भारतीय स्टॉल पर भेजा गया. स्टॉल के मालिक दो भारतीय सज्जन थे. उसने हिंदी में जैसे ही अपना परिचय देना शुरू किया, दोनों एकदम बरस पड़े! वह समझती क्या है कि उन्हें अंग्रेज़ी नहीं आती? वे अनपढ़ हैं कि उनसे हिंदी बोल रही है? उसे माफ़ी मांगनी

पड़ी और कहना पड़ा कि वह उनसे अंग्रेज़ी में ही बात करेगी, हिंदी का नाम तक नहीं लेगी. उस छात्रा ने बताया कि देखने-सुनने में दोनों दक्षिण नहीं, उत्तर भारत के ही लगते थे, यानी हिंदी उन्हें ज़रूर आती थी!

'अंग्रेजी पढ़े-लिखों की, हिंदी गंवारों की भाषा'

- भारत में लंबे समय तक बीबीसी के संवाददाता रहे मार्क टली का जन्म भारत में ही हुआ था. वे भारत के नागरिक बनकर वहीं बस भी गये हैं. हिंदी बहुत अच्छी बोलते हैं. उनका अनुभव भी यही है कि भारत में अंग्रेजी को पढ़े-लिखे लोगों की और हिंदी को अनपढ़ गंवारों की भाषा समझा जाता है. एक इंटरव्यू में उनका कहना था, 'मैं तो लोगों से बात हिंदी में शुरू करता हूं, पर लोग बार-बार अंग्रेज़ी में ही जवाब देते हैं.'' इससे तंग आकर उन्होंने अब कहना शुरू कर दिया है कि भारतीयों को 'हिंदी भूल कर अंग्रेज़ी ही बोलनी चाहिये!' उनका कहना है कि भारतीयों की मानसिकता के लिए यही सही है कि वे अंग्रेज़ी ही पढ़ें-लिखें और बोलें.
- यूरोप में ऐसी मानसिकता को दास-मानसिकता कहा जाता है. इस मानसिकता के पीछे भारत की दासता का लंबा इतिहास तो है ही, उसके बने रहने में स्वतंत्रता के बाद सबसे लंबे समय तक राज कर चुकी अंग्रेज़ी नामधारी 'कांग्रेस' पार्टी की भाषा और शिक्षा नीति का भी कुछ कम योगदान नहीं है. किंतु सबसे बड़ा विरोधाभास तो यह है कि अपनी स्वतंत्रता और निर्भीकता का ढिंढोरा पीटने वाला हिंदी मीडिया भी, 1990 वाले दशक से, अपनी भाषा में अनायास ही अंग्रेज़ी शब्दों को ठूंस कर हिंदी को हीन दिखाने की दास-मानसिकता का ही परिचय दे रहा है. हिंदी मीडिया ही हिंदी के साथ 'ग़रीब की जोरू, गांव की भाभी' जैसा बलात्कारी व्यवहार करने लगता है.
- विदेशियों को इससे यही संदेश मिलता है कि भारतीय, अंग्रेज़ी की ग़ुलामी के बिना जी नहीं सकते. उनका यह सोचना भी स्वाभाविक ही है कि जब भारतीय स्वयं ही अपनी भाषा का सम्मान नहीं करते, उसे ठीक से सीखना या बोलना नहीं जानते या नहीं चाहते, तो वे उसे सीखने का कष्ट भला क्यों करें? यूरोप का कोई भी देश कितना भी छोटा हो - चाहे केवल तीन लाख जनसंख्या वाला आइसलैंड हो या छह लाख जनसंख्या वाला लक्सेमबुर्ग - हर देश अपनी ही भाषा में अपने सारे काम करता है और अपनी भाषा की शुद्धता बनाये रखने पर भी पूरा ध्यान देता है. यूरोप के सभी देशों में लोग अंग्रेजी सीखते हैं, पर एक विदेशी भाषा के तौर पर. मात्र तीन देश अंग्रेज़ी में अपना काम करते हैं - ब्रिटेन, आयरलैंड और माल्टा. तीनों की मिली-जुली जनसंख्या केवल 10 करोड़ 80 लाख है.

हिंदी की पूछताछ प्रवासी भारतीयों के बीच ही

- भारत से बाहर हिंदी की पूछताछ अधिकतर उन्हीं देशों में है, जहां प्रवासी या अनिवासी भारतीयों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है. उदाहरण के लिए, लघु-भारत कहलाने वाले मॉरीशस के 13 लाख निवासियों में से 68 प्रतिशत भारतवंशी हैं. वहां के महात्मा गांधी संस्थान ने हिंदी की उच्च शिक्षा के लिए 1998 से डिप्लोमा कोर्स, 1990 से बीए ऑनर्स हिंदी, और 2001 से एमए हिंदी की व्यवस्था कर रखी है. तब भी हिंदी को मॉरीशस में आधिकारिक भाषा का दर्जा नहीं मिला है. हिंदी को यह दर्जा भारत के बाहर केवल फ़िजी में मिला हुआ है.
- भारत के पड़ोसी देशों में नेपाल के त्रिभुवन विश्वविद्यालय में और श्रीलंका के कोलंबो विश्वविद्यालय में हिंदी का अलग विभाग है. जापान में भी कम से कम आधे दर्जन विश्वविद्यालयों और संस्थानों में हिंदी के पाठ्यक्रम चलते हैं, जिनमें से कई में उच्च शिक्षा की व्यवस्था है.

- अमेरिका के 25 लाख भारतीय वहां रहने वाले मैक्सिको से आये आप्रवासियों के बाद दूसरा सबसे बड़ा प्रवासी समूह हैं. वहां के सभी भारतवंशी हिंदी भाषी नहीं हैं, तब भी वहां हिंदी की अच्छी मांग है. इसी कारण अमेरिका के 75 विश्वविद्यालयों में हिंदी-शिक्षण की व्यवस्था है. भारतीयों की ही तीन प्रमुख संस्थाएं - अंतरराष्ट्रीय हिंदी समिति, विश्व हिंदी समिति और हिंदी न्याय - अमेरिका में हिंदी भाषा के प्रचार-प्रसार का काम करती हैं. कम से कम चार प्रमुख हिंदी पत्रिकाएं भी प्रकाशित होती हैं - विश्व, सौरभ, क्षितिज और हिंदी जगत.
- आस्ट्रेलिया में न्यू साउथ वेल्स से मासिक 'हिंदी समाचार पत्रिका', ब्रिटेन से त्रैमासिक 'प्रवासिनी' और 'पुरवाई', म्यांमार (बर्मा) से मासिक 'ब्रह्मभूमि', गुयाना से मासिक 'ज्ञानदान', सूरीनाम से 'आर्यदिवाकर' और मासिक पत्रिका 'सरस्वती' आदि का प्रकाशन इन देशों में रहने वाले भारतवंशियों के हिंदी के प्रति लगाव को दिखाता है, न कि यह कि वहां के मूल निवासी भी हिंदी भाषा से परिचित हैं, जैसा कि भारत में आभास दिया जाता है.

हिंदी का कथित सरलीकरण

- 2014 में बीजेपी की सरकार बनने के बाद से भारत में हिंदी की भाषायिक स्वाभाविकता और स्वीकृति में सुधार हो रहा है. अंग्रेज़ी शब्दों की भरमार कुछ कम हुई है. अंग्रेज़ी के बहुप्रचलित सरल शब्दों को अपनाने में कोई दोष नहीं है. दोष है सरलीकरण की आड़ लेकर हिंदी में अंग्रेज़ी, अरबी या फ़ारसी शब्द ठूंसने में. यदि 10, 20 या 30 प्रतिशत अंग्रेज़ी शब्दों से हिंदी सरल बनती है, तो क्यों न इसी तर्क को आगे बढ़ाते हुए 100 प्रतिशत अंग्रेज़ी शब्दों को अपनाकर हिंदी का शत-प्रतिशत सरलीकरण कर दिया जाये! क्यों न अंग्रेज़ी को ही शत-प्रतिशत सरलीकृत हिंदी घोषित कर दिया जाये! सरलीकरण के नाम पर हिंदी की यह बलात्कारी विकृति स्वीकार्य नहीं हो सकती.
- इसी तरह यह कहना कि अंग्रेज़ी के बिना भारत विज्ञान और तकनीक में तेज़ी से प्रगति नहीं कर सकता, 'नाच न आए आंगन टेढ़ा' जैसा बेतुका तर्क है. चीन, जापान, ताइवान और दक्षिण कोरिया ने, हमारे देखते ही देखते, पिछले केवल 30, 40 या 50 वर्षों में उपभोक्ता इलेक्ट्रॉनिक, कंप्यूटर हार्डवेयर, ऑटोमोबाइल, आनुवंशिकी और चिकित्सा विज्ञान तथा तेज़गति बुलेट ट्रेनों के मामले में यूरोप-अमेरिका को जिस तरह पीछे छोड़ दिया है, उससे पहले क्या उन्होंने सारे देश को अंग्रेज़ी सिखाई-पढ़ाई? वे अपना सारा सरकारी-ग़ैर सरकारी कामकाज हम भारतीयों की तरह क्या अंग्रेज़ी में करते हैं?

अंग्रेज़ी ही सब कुछ नहीं

- इन सब देशों ने द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद प्रगति की दौड़ लगाई है. वहां के लोग हम भारतीयों से बेहतर अंग्रेज़ी नहीं जानते. हम भी तो लॉर्ड मैकाले की कृपा से 1835 से, यानी क़रीब दो सदियों से, अंग्रेज़ी लिख-पढ़ और बोल रहे हैं. हम अपने आप को बड़ा तीसमार खां समझते हैं, जबकि भारत के किसी भी अंग्रेज़ी-भाषी लेखक को कभी कोई नोबेल पुरस्कार तक नहीं मिला. यदि अंग्रेज़ी का ज्ञान ही विज्ञान-तकनीक वाले ताले की कुंजी है, तो 200 साल पहले मैकाले से मिली अंग्रेज़ी वाली कुंजी से हम जापान, ताइवान, कोरिया या चीन से पहले अपनी प्रगति का ताला क्यों नहीं खोल पाये? अंग्रेज़ी में पैदल अपने ही पास के इन एशियाई देशों से, जहां अंग्रेज़ी भाषा से अधिक भारत से ही गये बौद्ध धर्म का प्रभाव है, हम पिछड़ कैसे गये?

- सच्चाई यह है कि स्वयं अंग्रेज़ी मातृभाषा और रोमन लिपि वाले ब्रिटेन, अमेरिका, कनाडा और ऑस्ट्रेलिया जैसे देश भी आज चीन-जापान-कोरिया-ताइवान जैसे उन एशियाई देशों से पिछड़ते जा रहे हैं, जिनकी न तो मातृभाषा अंग्रेजी है और न जिनकी चित्रलिपी रोमन या लैटिन जैसी कोई सरल लिपि है. यदि अंग्रेज़ी का ज्ञान ही सर्वशक्तिमान होता, तो अंग्रेज़ी मातृभाषी इंग्लैंड-अमेरिका जैसे देशों को हर क्षेत्र में सदा-सर्वदा आगे-ही-आगे रहना चाहिये. पर वे पिछड़ रहे हैं. दूरपूर्व के एशियाई देश इसलिए उनसे आगे बढ़ने लगे हैं, क्योंकि वे अपनी प्रतिभा की अभिव्यक्ति के लिए अपनी मातृभाषा या राष्ट्रभाषा के इस्तेमाल पर अडिग रहे. सबसे पहले अपनी भाषा को ढंग से सीखा-पढ़ा. अंग्रेज़ी को केवल एक विदेशी या अंतरराष्ट्रीय भाषा के तौर पर देखा और जाना.
- भाषा न तो किसी जनता की स्वाभाविक प्रतिभा या बौद्धिकता के विकास में बाधक होती है और न ही उनके अभाव को दूर कर सकती है. हम यदि दूसरों से पिछड़े, तो इसमें हमारी ही कोई कमी है, न कि हमारी हिंदी या अन्य स्वदेशी भाषाओं की. कमी यही है कि हम 'घर के जोगी को जोगड़ा और आन गांव वाले को सिद्ध' मानने की हीन भावना से पीड़ित हैं. हिंदी अपने घर की भाषा है, अंग्रेज़ी आन गांव की. हमने मान लिया है कि सिद्धि तो आन गांव की अंग्रेज़ी से ही मिलेगी, अपने गांव की हिंदी से नहीं. हम खुद तो बड़े ताव से अंग्रेज़ी लिखते-पढ़ते हैं, पर चाहते हैं कि बाक़ी दुनिया हिंदी सीखे! राष्ट्रीय स्तर पर तो हिंदी को अपना नहीं पाते, हर साल बड़े धूम-धाम से विश्व हिंदी दिवस मनाते हैं.

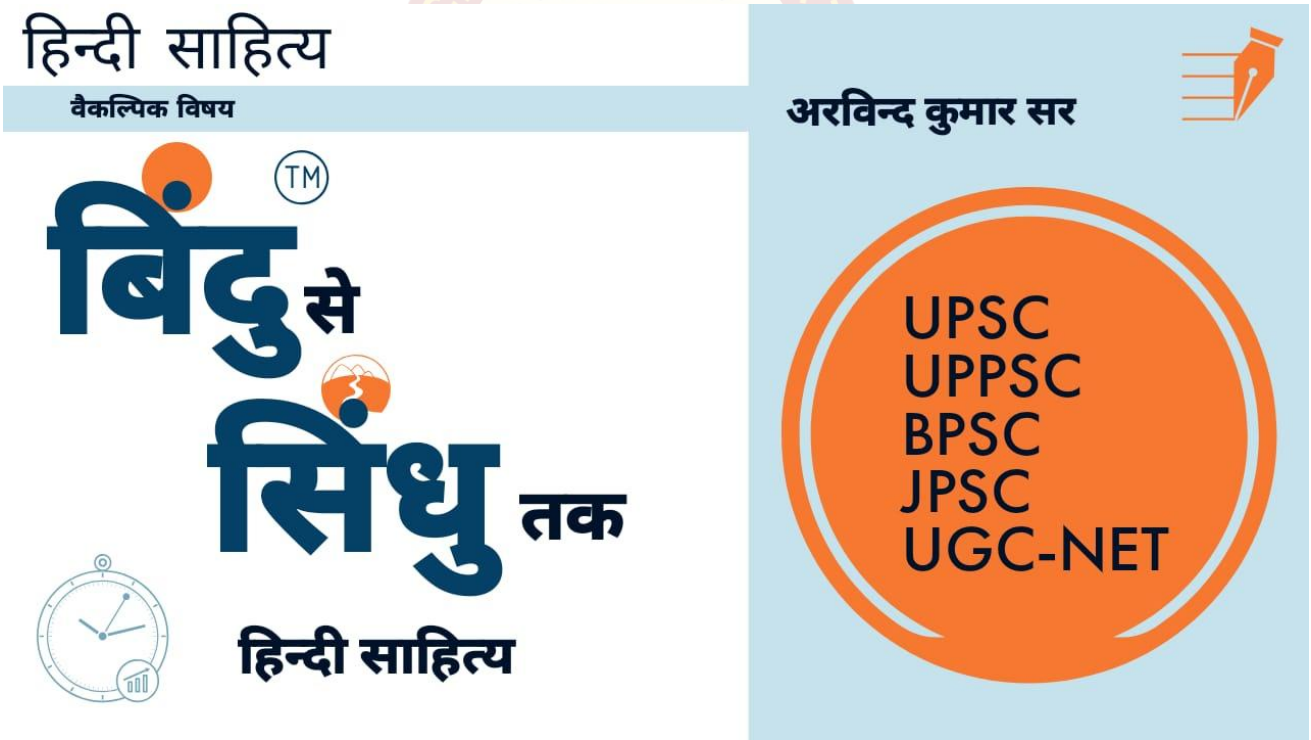

साहित्य अकादमी पुरस्कार

साहित्य अकादमी पुरस्कार, सन् १९५५ से प्रत्येक वर्ष भारतीय भाषाओं की श्रेष्ठ कृतियों को दिया जाता है, जिसमें एक ताम्रपत्र के साथ नक़द राशि दी जाती है। नक़द राशि इस समय एक लाख रुपए हैं। साहित्य अकादेमी द्वारा अनुवाद पुरस्कार, बाल साहित्य पुरस्कार एवं युवा लेखन पुरस्कार भी प्रतिवर्ष विभिन्न भारतीय भाषाओं में दिए जाते है

वर्ष	लेखक	कृति	शैली
१९५५	माखनलाल चतुर्वेदी	*हिमतरंगिनी*	काव्य
१९५६	वासुदेव शरण अग्रवाल	*पद्मावत संजीवनी व्याख्या*	व्याख्या
१९५७	आचार्य नरेन्द्र देव †	*बौद्ध धर्म दर्शन*	दर्शन
१९५८	राहुल सांकृत्यायन	*मध्य एशिया का इतिहास*	इतिहास
१९५९	रामधारी सिंह 'दिनकर'	*संस्कृति के चार अध्याय*	भारतीय संस्कृति
१९६०	सुमित्रानंदन पंत	*कला और बूढा चाँद*	काव्य
१९६१	भगवतीचरण वर्मा	*भूले बिसरे चित्र*	उपन्यास
१९६२	***पुरस्कार वितरण नही***		
१९६३	अमृत राय	*प्रेमचंद: कलम का सिपाही*	जीवनी
१९६४	सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'	*आँगन के पार द्वार*	काव्य
१९६५	डॉ॰ नगेन्द्र	*रस सिद्धांत (विवेचना)*	विवेचना
१९६६	जैनेन्द्र कुमार	*मुक्तिबोध*	उपन्यास
१९६७	अमृतलाल नागर	*अमृत और विष*	उपन्यास
१९६८	हरिवंशराय बच्चन	*दो चट्टाने*	काव्य
१९६९	श्रीलाल शुक्ल	*राग दरबारी*	उपन्यास
१९७०	राम विलास शर्मा	*निराला की साहित्य साधना*	जीवनी

वर्ष	लेखक	कृति	शैली
१९७१	नामवर सिंह	*कविता के नये प्रतिमान*	साहित्यिक आलोचना
१९७२	भवानीप्रसाद मिश्र	*बुनी हुई रस्सी*	काव्य
१९७३	हजारी प्रसाद द्विवेदी	*आलोक पर्व*	निबंध
१९७४	शिवमंगल सिंह सुमन	*मिट्टी की बारात*	काव्य
१९७५	भीष्म साहनी	*तमस*	उपन्यास
१९७६	यशपाल	*मेरी तेरी उसकी बात*	उपन्यास
१९७७	शमशेर बहादुर सिंह	*चुका भी हूँ मैं नहीं*	काव्य
१९७८	भारतभूषण अग्रवाल	*उतना वह सूरज है*	काव्य
१९७९	सुदामा पांडेय 'धूमिल' †	*कल सुनना मुझे*	काव्य
१९८०	कृष्णा सोबती	*ज़िन्दगीनामा - ज़िन्दा रुख़*	उपन्यास
१९८१	त्रिलोचन	*ताप के ताये हुए दिन*	काव्य
१९८२	हरिशंकर परसाईं	*विकलांग श्रद्धा का दौर*	व्यंग
१९८३	सर्वेश्वरदयाल सक्सेना †	*खूँटियों पर टँगे लोग*	काव्य
१९८४	रघुवीर सहाय	*लोग भूल गये हैं*	काव्य

वर्ष	लेखक	कृति	शैली
१९८५	निर्मल वर्मा	*कव्वे और काला पानी*	कहानी संग्रह
१९८६	केदारनाथ अग्रवाल	*अपूर्वा*	काव्य
१९८७	श्रीकांत वर्मा	*मगध*	काव्य
१९८८	नरेश मेहता	*अरण्या*	काव्य
१९८९	केदारनाथ सिंह	*अकाल में सारस*	काव्य
१९९०	शिव प्रसाद सिंह	*नीला चाँद*	उपन्यास
१९९१	गिरिजाकुमार माथुर	*मैं वक्त के हूँ सामने*	काव्य
१९९२	गिरिराज किशोर	*ढाई घर*	उपन्यास
१९९३	विष्णु प्रभाकर	*अर्द्धनारीश्वर*	उपन्यास
१९९४	अशोक वाजपेयी	*कहीं नहीं वहीं*	काव्य
१९९५	कुंवर नारायण	*कोई दूसरा नहीं*	काव्य
१९९६	सुरेन्द्र वर्मा	*मुझे चाँद चाहिये*	उपन्यास
१९९७	लीलाधर जगूड़ी	*अनुभव के आकाश में चांद*	काव्य
१९९८	अरुण कमल	*नये इलाके में*	काव्य
१९९९	विनोद कुमार शुक्ल	*दीवार में एक खिड़की रहती थी*	उपन्यास
२०००	मंगलेश डबराल	*हम जो देखते हैं*	काव्य
२००१	अलका सरावगी	*कलिकथा वाया बाईपास*	उपन्यास

वर्ष	लेखक	कृति	शैली
२००२	राजेश जोशी	*दो पंक्तियों के बीच*	काव्य
२००३	कमलेश्वर	*कितने पाकिस्तान*	उपन्यास
२००४	वीरेन डंगवाल	*दुष्चक्र में सृष्टा*	काव्य
२००५	मनोहर श्याम जोशी	*क्याप*	उपन्यास
२००६	ज्ञानेन्द्रपति	*संशयात्मा*	काव्य
२००७	अमरकांत	*इन्हीं हथियारों से*	उपन्यास
२००८	गोविन्द मिश्र	*कोहरे में कैद रंग*	उपन्यास
२००९	कैलाश वाजपेयी	*हवा में हस्ताक्षर*	काव्य
२०१०	उदय प्रकाश	*मोहन दास*	कहानी
२०११	काशीनाथ सिंह	*रेहन पर रग्घू*	उपन्यास
२०१२	चंद्रकांत देवताले	*पत्थर फेंक रहा हूँ*	काव्य
२०१३	मृदुला गर्ग	*मिलजुल मन*	उपन्यास
२०१४	रमेशचन्द्र शाह	*विनायक*	उपन्यास
२०१५	रामदरश मिश्र	*आग की हँसी*	काव्य
२०१६	नासिरा शर्मा	*पारिजात*	उपन्यास
२०१७	रमेश कुंतल मेघ	*विश्व मिथक सरित सागर*	साहित्यिक समालोचना
२०१८	चित्रा मुद्गल	*पोस्ट बॉक्स न. २०३ नाला सोपारा*	उपन्यास
२०१९	नंदकिशोर आचार्य	*छीलते हुए अपने को*	कविता

साहित्यिक आलोचना के रचना पुरुष थे नामवर सिंह,

- नामवर सिंह हिंदी साहित्य में आलोचना के रचना पुरुष कहे जाते थे. उनके लेखन पर जितनी चर्चा हुई, उतनी ही चर्चा उनके कथनों और भाषणों पर भी की गई थी. उन्हें आलोचना और साक्षात्कार विधा को नई ऊंचाई देने का श्रेय जाता है. कविता के नए प्रतिमान के लिए 1971 में नामवर सिंह को साहित्य अकादमी पुरस्कार से नवाजा गया था.

- नामवर सिंह का जन्म 28 जुलाई 1927 को जीयनपुर (अब चंदौली) वाराणसी में हुआ था. उन्होंने काशी हिंदू विश्वविद्यालय से हिंदी साहित्य में एमए और पीएचडी की और उसके बाद उन्होंने कई वर्षों तक वहां पढ़ाया भी. बीएचयू के साथ ही उन्होंने सागर, जोधपुर विश्वविद्यालय, आगरा विश्वविद्यालय में अध्यापन किया था. फिर वो दिल्ली के जेएनयू में आ गए और वहीं से रिटायर हुए. नामवर सिंह उर्दू के भी बड़े जानकार थे.
- वे 'आलोचना' त्रैमासिक के प्रधान संपादक रहे और उन्होंने 'जनयुग' साप्ताहिक (1965-67) का संपादन भी किया. साल 1992 से राजा राममोहन राय पुस्तकालय प्रतिष्ठान के अध्यक्ष रहे.
- अध्यापन और लेखन के अलावा उन्होंने राजनीति में भी हाथ आजमाया था. साल 1959 में वे सक्रिय राजनीति में उतरे और उन्होंने इस साल चकिया-चंदौली सीट से भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के बैनर तले लोकसभा चुनाव लड़ा था. हालांकि इस चुनाव में उन्हें हार का सामना करना पड़ा था.

आलोचना: बकलम खुद, हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, छायावाद, पृथ्वीराज रासो की भाषा, इतिहास और आलोचना, दूसरी परंपरा की खोज, वाद विवाद संवाद.

बनारस में मिले साहित्य के संस्कार

- कहा जाता है कि बनारस अपने आप में एक अद्भुत शहर है- तरह-तरह के मंदिर, गंगा के अनेक घाट, पंडे, पुरोहित और पाखंडी, पतली-पतली गलियां और सनातन काल से अपने पांडित्य, शास्त्रीयता के लिए प्रसिद्ध लोग! बनारस के विषय में नामवर सिंह कहते हैं कि काशी पंडे-पुरोहित और धार्मिक लोगों की है, किंतु उसमें कबीर और तुलसीदास की भी उपस्थिति है। उसी काशी में प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद हुए, इसलिए हमें कभी भूलना नहीं चाहिए कि काशी केवल एक पुरातनपंथी शहर ही नहीं है, बल्कि उसके विरोधी लड़ने वाले विचारक भी हुए। उसी काशी में सारनाथ भी है और विश्वनाथ भी है। काशी में क्वींस कॉलेज है, जो कभी अंग्रेज़ियत का गढ़ था और गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज हुआ करता था, जिसमें संस्कृत के बड़े-बड़े विद्वान् हुआ करते थे, जिसे अंग्रेज़ों ने बनाया था और वहीं मदनमोहन मालवीय ने काशी हिंदू विश्वविद्यालय स्थापित किया। वहीं बाबू शिवप्रसाद गुप्त और आदरणीय नरेन्द्र देव ने काशी विद्यापीठ स्थापित किया। उस काशी में आया तो एक ओर नागरी प्रचारिणी सभा और दूसरी ओर प्रगतिशील लेखक संघ था। उसी काशी में प्रेमचंद का 'हंस' निकलता था, जो तब प्रगतिशील लेखक संघ का मुख पत्र था। उस काशी में जहां एक ओर भारत धर्म मंडल था, वहां कम्युनिस्ट पार्टी का दफ्तर भी था। वहीं कांग्रेस का दफ्तर था, वहीं कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का भी दफ्तर था। तो काशी के कई रूप हैं।

व्यक्तित्व

- नामवर के व्यक्तित्व के विकास में काशी की परंपरा और परिवेश की अहम भूमिका है। काशी उनके संस्कार में रचा-बसा है। लेकिन उनके निर्माण में आवाजापुर की साहित्यिक मंडली के बाद बनारस के हीवेट क्षत्रिय स्कूल के परिवेश की महत्वपूर्ण भूमिका थी, जहां एक से एक तपे-तपाए शिक्षक थे। उस स्कूल के प्राचार्य पहले अंग्रेज़ हुआ करते थे, पहले भारतीय प्राचार्य जगदीश प्रसाद सिंह थे, जिन्हें लोग जे.पी. सिंह कहा करते थे। वे सेंट जोन्स कॉलेज, आगरा के पढ़े थे और अंग्रेज़ी पढ़ाते थे। उस समय बनारस में लोगों की यह धारणा थी कि बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति राधाकृष्णन सबसे अच्छी अंग्रेजी

बोलते हैं और दूसरे जे.पी. सिंह। उनका अंग्रेज़ी कविता पढ़ाने का प्रभावशाली ढंग था। नामवर कहते हैं- 'वे कविता बहुत अच्छी तरह पढ़ाते थे। 'गोल्डन ट्रेजरी' पढ़ाई थी। वे इस कदर पढ़ाते थे कि कविता याद तो हो ही जाती थी, यह भी कि कविता को किस तरह पढ़ना चाहिए। रिसाइट कैसे करना चाहिए, एप्रीशिएट कैसे करना चाहिए। समझाना कैसे चाहिए।'

खड़ी बोली का सवैया

- 'तान के सोता रहा जल चादर, वायु-सा खींच जगा गया कोई।' मैं जब उसे पढ़ता था तो वे साथ-साथ उसे गाते थे। बड़े सहृदय थे। संगीत के मर्मज्ञ थे। गाते अच्छा थे क्लासिकल। तो एक उनकी छाप पड़ी। उनकी याददाश्त अद्‌भुत थी। जिसका नाम वो एक बार सुन लेते थे, याद रहता था। स्कूल के हजार-बारह सौ विद्यार्थी और सबके नाम उन्हें याद थे। किसी को देख लेते तो नाम से बुलाते। एक बार की घटना है। कुछ विद्यार्थी छिपकर सिनेमा देखने गए थे और देर से लौटे थे। छह बजे शाम के बाद आए। सर्दियों के दिन थे। धुंधलका हो चुका था। तांगे पर से उतरकर जैसे ही अंदर घुसे कि प्रिंसिपल साहब छड़ी उठाकर सामने थे। टोका। बारहों विद्यार्थियों को खड़ा कर दिया। नए लड़के थे। सबका नाम पूछा और सबको जाने दिया। अगले दिन जिस क्रम से वे खड़े थे, उसी क्रम से नोटिस उनको पहुंच गया और उन्हें उसी क्रम से प्रिंसिपल रूम में बुलाया गया। तो अद्‌भुत स्मरणशक्ति थी। आवाज़ गूंजती थी।' हीवेट क्षत्रिय स्कूल, इंटर में उदय प्रताप कॉलेज के नाम से जाना जाता था। पहले वहां इंटर तक की पढ़ाई होती थी। अब तो वह पी.जी. कॉलेज हो गया है। नामवर सिंह ने 1941 से 1947 तक वहां पढ़ाई की। जे.पी. सिंह के कारण स्कूल में कड़ा अनुशासन था। एक से एक शिक्षक थे। सुबह पी.टी. से लेकर शाम तक के हर घंटे का हिसाब था। पढ़ने का, खेलने का निर्धारित समय था। साप्ताहिक सांस्कृतिक-साहित्यिक कार्यक्रम होते थे।

बनारस में निराला का अभिनंदन

- 1947 ई. में उन्होंने बारहवीं की परीक्षा पास की। इसी वर्ष बनारस में निराला का अभिनंदन किया गया था। समारोह का आयोजन नन्ददुलारे वाजपेयी ने किया था। इस आयोजन में कई युवा कवियों ने काव्य-पाठ किया था। निराला के हाथों नामवर सिंह को सौ रुपए का पुरस्कार भी मिला था। इस अवसर पर निराला ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'राम की शक्तिपूजा' का पाठ भी किया था। इसी वर्ष इलाहाबाद में प्रगतिशील लेखक संघ का सम्मेलन भी हुआ था, जिसमें पहली बार राहुल सांकृत्यायन से भेंट हुई। उन्होंने समारोह की अध्यक्षता की थी। अज्ञेय, सज्जाद जहीर, नेमिचन्द्र जैन, प्रभाकर माचवे आदि ने इसमें भाग लिया था। यशपाल ने 'शेखर : एक जीवनी' की कड़ी आलोचना करते हुए एक लेख पढ़ा था।

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रवेश

- नामवर सिंह ने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में बी.ए. में प्रवेश किया तो रहने के लिए विश्वविद्यालय के पास ही संकटमोचन के इलाके में स्थित एक छात्रवास में आ गए। त्रिलोचन जी तब लंका मोहल्ले के अकनू भवन में रहते थे। प्राय: रोज सुबह गंगा-स्नान त्रिलोचन के साथ होता। वे इस क्रम में बताते हैं- अक्षर-स्नान के साथ-साथ गंगा-स्नान भी रोज ही होता था। 1947 से 1951 तक रोज गंगा-स्नान करता था। यह क्रम बरसात में भी चलता था। बल्कि बरसात में जो चिकनी मिट्टी घुली रहती, बदन पर कुछ मलना नहीं पड़ता। उनको लहरों से होड़ करने में आनंद आता था। गंगा की चिकनी मिट्टी से बढ़िया साबुन आज तक नहीं बना। हम पैदल भी खूब चलते थे। इक्के-घोड़े पर चलना अय्याशी-सी लगती। तैरने और चलने में त्रिलोचन जी का साथ रहता। एक बार की बात है। त्रिलोचन ने नामवर से कहा- मैंने तो बनारस की बाढ़ आई गंगा तैरकर पार की है, चलो, फिर पार करते हैं। वे दोनों तैरने लगे। थोड़ी दूर जाने के बाद त्रिलोचन ने कहा- छोड़ो, लौट चलो। पर नामवर आगे बढ़ गए। आधी नदी पार करने के बाद बांहें भरी और थकी हुई लगने लगीं। आगे बढ़ने की हिम्मत जवाब

देने लगी। उस समय लगने लगा कि बचपन में तो डूबने से बच गया था, लेकिन आज तो डूब ही जाऊंगा। कोई बचाने वाला भी नहीं था। दूर-दूर तक कोई नाव भी नहीं दिखाई दे रही थी। लेकिन फिर हिम्मत जुटाई और केवल अपने को बचाया ही नहीं, गंगा भी पार की। शायद यह इसलिए कर सके कि तैरने का लगातार अभ्यास था।

योगदान

- बनारस में नामवर की अभिन्नता ठाकुर प्रसाद सिंह से थी। वे व्यक्तित्व के तरल और सरल आदमी थे। वे बनारस के ईश्वरगंगी मुहल्ले में रहते थे। 1940 ई. में उन्होंने 'नवयुवक साहित्यिक संघ' नामक एवं साहित्यिक संस्था अपने सहयोगी पारसनाथ मिश्र 'सेवक' के साथ निर्मित की थी, जिसमें हर सप्ताह एक साहित्यिक गोष्ठी होती थी। 1944 ई. से नामवर भी इसकी गोष्ठियों में शामिल होते थे। ठाकुर प्रसाद सिंह ने ईश्वरगंगी मुहल्ले में भारतेन्दु विद्यालय एवं 'ईश्वरगंगी पुस्तकालय' की स्थापना की थी। 1947 ई. में उनकी नियुक्ति बलदेव इंटर कॉलेज, बड़ागांव में हो गई। 'नवयुवक साहित्य संघ' की जिम्मेवारी उन्होंने नामवर और सेवक जी को दे दी। इसकी गोष्ठियां ठाकुर प्रसाद सिंह के बगैर भी बरसों चलती रहीं। बाद में इसका नाम सिर्फ साहित्यिक संघ हो गया। इसकी गोष्ठियों में बनारस के तत्कालीन प्राय: सभी साहित्यकार उपस्थित होते थे। नामवर के साथ त्रिलोचन एवं विजयदेव नारायण साही की इसमें नियमित उपस्थिति होती थी। नामवर की काव्य-प्रतिभा के निर्माण में इस संस्था का भी अप्रतिम योगदान है।

कार्यक्षेत्र

अध्यापन

- नामवर सिंह ने अध्यापन कार्य का आरम्भ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय (1953-1959) किया और फिर 'जोधपुर विश्वविद्यालय' में हिन्दी विभाग के प्रोफेसर और अध्यक्ष (1970-74), 'आगरा विश्वविद्यालय' के क.मु. हिन्दी विद्यापीठ के प्रोफेसर निदेशक (1974), जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली में 'भारतीय भाषा केन्द्र' के संस्थापक अध्यक्ष तथा हिन्दी प्रोफेसर (1965-92) और अब उसी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर इमेरिट्स हैं। नामवर सिंह महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय के कुलाधिपति भी रहे।

सम्पादन	सम्पादित ग्रंथ
• "आलोचना" त्रैमासिक के प्रधान सम्पादक। • "जनयुग" साप्ताहिक (1965-67) और "आलोचना" का सम्पादन (1967-91) • 2000 से पुन: आलोचना का सम्पादन । • 1992 से राजा राममोहन राय पुस्तकालय प्रतिष्ठान के अध्यक्ष	1. कहानी:नई कहानी, 2. कविता के नये प्रतिमान 3. दूसरी परम्परा की खोज 4. वाद विवाद सम्वाद 5. कहना न होगा

राज्यसभा में पहली बार संथाली बोली गई

- बीजेडी सदस्य सरोजिनी हेम्ब्रम ने शून्यकाल के दौरान लोक महत्व से जुड़ा अपना मुद्दा संथाली भाषा में उठाया. उन्होंने इस भाषा की लिपि 'ओल चिकी' तैयार करने वाले पंडित रघुनाथ मुर्मू को भारत रत्न दिए जाने की मांग भी की. बीजेडी सदस्य ने कहा कि 1925 में संथाली की लिपि तैयार करने वाले पंडित मुर्मू का आदिवासी जनजीवन में बहुत ही ऊंचा और खास स्थान है और राज्य में उन्हें महान सांस्कृतिक आदर्श का दर्जा दिया जाता है.
- संथाली 'ऑस्ट्रो-एशियाटिक' परिवार की एक शाखा से जुड़ी भाषा है. इसे भारत, बांग्लादेश, नेपाल और भूटान में करीब 60 लाख बोलते हैं. भारत में संथाली भाषा का प्रयोग झारखंड, असम, बिहार, उड़ीसा, त्रिपुरा और पश्चिम बंगाल में होता है.

महात्मा गांधी कैसा रामराज्य चाहते थे?

- दांडी मार्च के दौरान ही ऐसी ही भ्रांतियों के निवारण के लिए उन्हें 20 मार्च, 1930 को हिन्दी पत्रिका 'नवजीवन' में 'स्वराज्य और रामराज्य' शीर्षक से एक लेख लिखना पड़ा था. इसमें गांधीजी ने कहा था- 'स्वराज्य के कितने ही अर्थ क्यों न किए जाएं, तो भी मेरे नजदीक तो उसका त्रिकाल सत्य एक ही अर्थ है, और वह है रामराज्य. यदि किसी को रामराज्य शब्द बुरा लगे तो मैं उसे धर्मराज्य कहूंगा. रामराज्य शब्द का भावार्थ यह है कि उसमें गरीबों की संपूर्ण रक्षा होगी, सब कार्य धर्मपूर्वक किए जाएंगे और लोकमत का हमेशा आदर किया जाएगा. ...सच्चा चिंतन तो वही है जिसमें रामराज्य के लिए योग्य साधन का ही उपयोग किया गया हो. यह याद रहे कि रामराज्य स्थापित करने के लिए हमें पाण्डित्य की कोई आवश्यकता नहीं है. जिस गुण की आवश्यकता है, वह तो सभी वर्गों के लोगों- स्त्री, पुरुष, बालक और बूढ़ों- तथा सभी धर्मों के लोगों में आज भी मौजूद है. दुःख मात्र इतना ही है कि सब कोई अभी उस हस्ती को पहचानते ही नहीं हैं. सत्य, अहिंसा, मर्यादा-पालन, वीरता, क्षमा, धैर्य आदि गुणों का हममें से हरेक व्यक्ति यदि वह चाहे तो क्या आज ही परिचय नहीं दे सकता?'
- इससे पहले अहसहयोग आंदोलन के दौरान 22 मई, 1921 को गुजराती 'नवजीवन' में महात्मा गांधी लिख चुके थे -'कुछ मित्र रामराज्य का अक्षरार्थ करते हुए पूछते हैं कि जब तक राम और दशरथ फिर से जन्म नहीं लेते तब तक क्या रामराज्य मिल सकता है? हम तो रामराज्य का अर्थ स्वराज्य, धर्मराज्य, लोकराज्य करते हैं. वैसा राज्य तो तभी संभव है जब जनता धर्मनिष्ठ और वीर्यवान् बने. ...अभी तो कोई सद्गुणी राजा भी यदि स्वयं प्रजा के बंधन काट दे, तो भी प्रजा उसकी गुलाम बनी रहेगी. हम तो राज्यतंत्र और राज्यनीति को बदलने के लिए प्रयत्न कर रहे हैं; बाद में हमारे सेवक के रूप में अंग्रेज रहेंगे या भारतीय हमें इसकी चिंता नहीं करनी पड़ेगी. हम अंग्रेज जनता को बदलने का प्रयास भी नहीं करते. हम तो स्वयं अपने-आप को बदलने का प्रयास कर रहे हैं.'
- अपने अर्थों वाले रामराज्य के निर्माण में महिलाओं की भागीदारी अनिवार्य बताते हुए 16 जनवरी, 1925 को महिलाओं की एक विशेष सभा में महात्मा गांधी ने कहा था - '...मैं सदा से कहता आया हूं कि जब तक सार्वजनिक जीवन में भारत की स्त्रियां भाग नहीं लेतीं, तब तक हिन्दुस्तान का उद्धार नहीं हो सकता. लेकिन सार्वजनिक जीवन में वही भाग ले सकेंगी जो तन और मन से पवित्र हैं. जिनके तन और मन एक ही दिशा में - पवित्र दिशा में चलते जा रहे हों, जब तक ऐसी स्त्रियां हिन्दुस्तान के सार्वजनिक जीवन को पवित्र न कर दें, तब तक रामराज्य अथवा स्वराज्य असंभव है. यदि ऐसा स्वराज्य संभव भी हो गया, तो वह ऐसा स्वराज्य होगा जिसमें स्त्रियों का पूरा-पूरा भाग नहीं होगा, और वह मेरे लिए निकम्मा स्वराज्य होगा.'
- गांधी जाति-व्यवस्था को रामराज्य के लिए सबसे घातक मानते थे. 24 जनवरी, 1928 को सौराष्ट्र के मोरबी रियासत के राजा की उपस्थिति में मोढ़ बनिया जाति के लोगों ने महात्मा गांधी को मानपत्र भेंट किया. वही मोढ़ बनिया जाति जिसने गांधी के लंदन पढ़ने जाने के निर्णय के बाद उन्हें जाति से बहिष्कृत कर दिया था. मानपत्र लेने के अवसर पर गांधी ने समूची

जाति-व्यवस्था को ही रामराज्य अथवा स्वराज्य के लिए घातक बताते हुए कहा था - 'मैं यह माननेवाला रहा हूं कि (जाति के) इन छोटे-छोटे बाड़ों का नाश होना चाहिए. मुझे इस बारे में कोई शक नहीं कि हिन्दू-धर्म के भीतर जातियों के लिए कोई जगह नहीं है. और यह मैं मोढ़ या दूसरी जो भी जातियां यहां पर हों उन्हें ध्यान में रखकर कहता हूं. ...आप सबसे मोढ़ जाति के निमित्त मैं यह कहना चाहता हूं कि जाति के बाड़ों को भूल जाइये. आज जो जातियां हैं उनको यज्ञ की आहूति के रूप में उपयोग कर स्वाहा कीजिए और नई जाति न बनने दीजिए.'

- उन्होंने आगे कहा - '...आप (जाति के) इन छोटे-छोटे बाड़ों के खड्डों में पड़े रहेंगे तो बदबू उठेगी. डॉक्टर खड्डे भर देने की सलाह देते हैं, उसी तरह यह भी समझ लीजिए कि जाति के बाड़े भी मनुष्य के लिए घातक हैं. यह समझ लीजिए कि ईश्वर कभी ऐसी घातक रचना नहीं कर सकता. ...(जाति के बचाव में चल रही) बहस और अज्ञान को ज्ञान मत कहिए. आज दुनिया में जुदा-जुदा धर्मों का मुकाबला हो रहा है. लेकिन यदि हम खुले मन से देखें तो जान पड़ेगा कि हमारी जातियां हमारी तरक्की को, (वास्तविक मनुष्य) धर्म को, स्वराज्य को और रामराज्य को रोकने का कार्य करती है. मैं तो इन बाड़ों को तोड़ने की कोशिशें तेज करना चाहता हूं. आपको पता नहीं होगा कि मैंने अपने एक लड़के का ब्याह जाति से बाहर किया है.'
- आज रामराज्य को एक खास धार्मिक संप्रदाय से जोड़ा जा रहा है. गांधी के समय भी ऐसा प्रयास हुआ था. इसका जवाब देते हुए 26 फरवरी, 1947 को एक प्रार्थना-सभा में महात्मा गांधी ने कहा था - 'जिस आदमी की कुर्बानी की भावना अपने संप्रदाय से आगे नहीं बढ़ती, वह खुद तो स्वार्थी है ही, वह अपने संप्रदाय को भी स्वार्थी बनाता है. ...मैंने अपने आदर्श समाज को रामराज्य का नाम दिया है. कोई यह समझने की भूल न करे कि राम-राज्य का अर्थ है हिन्दुओं का शासन. मेरा राम खुदा या गॉड का ही दूसरा नाम है. मैं खुदाई राज चाहता हूं जिसका अर्थ है धरती पर परमात्मा का राज्य. ...ऐसे राज्य की स्थापना से न केवल भारत की संपूर्ण जनता का, बल्कि समग्र संसार का कल्याण होगा.'
- 25 मई, 1947 को एक साक्षात्कार में महात्मा गांधी ने आर्थिक असमानता को रामराज्य के लिए खतरा बताते हुए कहा था - 'आज आर्थिक असमानता है. समाजवाद की जड़ में आर्थिक असमानता है. थोड़ों को करोड़ और बाकी लोगों को सूखी रोटी भी नहीं, ऐसी भयानक असमानता में रामराज्य का दर्शन करने की आशा कभी न रखी जाए. इसलिए मैंने दक्षिण अफ्रीका में ही समाजवाद को स्वीकार कर लिया था. मेरा समाजवादियों से और दूसरों से केवल यही विरोध रहा है कि सभी सुधारों के लिए सत्य और अहिंसा ही सर्वोपरि साधन है...' प्रश्नकर्ता ने इस पर तपाक से गांधी से दूसरा सवाल पूछा - 'आप कहते हैं कि शासक, जमींदार और पूंजीपति केवल संरक्षक (ट्रस्टी) बनकर रहें. क्या आप इनलोगों से यह उम्मीद करते हैं कि ये अपनी प्रवृत्ति बदलेंगे?'
- इस पर महात्मा गांधी का जवाब था - '...यदि वे लोग अपने आप संरक्षक नहीं बने तो समय उन्हें बनाएगा या फिर उनका नाश हो जाएगा. जब पंचायत-राज (सही मायनों में) बनेगा, तब लोकमत सब कुछ करवा लेगा. जमींदारी, पूंजी अथवा राजसत्ता की ताकत तब तक ही कायम रह सकती है, जब तक आम लोगों में अपनी ताकत की समझ नहीं होती. लोग अगर रूठ गए तो राजसत्ता, पूंजीपति या जमींदार क्या कर सकता है?'

विजयादशमी के दिन हर जगह संत तुलसीदास के 'रामचरितमानस' की गूंज रहती है. उसी रामचरितमानस में तुलसीदास ने लिखा था -

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा।।

सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीत।।

- यानी 'रामराज्य' में किसी भी मनुष्य को दैहिक, दैविक और भौतिक समस्याओं से परेशान नहीं होना पड़ता. सभी मनुष्य आपस में प्रेम से रहते हैं. वे नीति और मर्यादा में तत्पर रहकर अपने-अपने मनुष्योचित धर्म का पालन करते हैं.
- लेकिन अब तुलसीदास को भी कथित 'रामभक्तों' ने इतना संकीर्ण बना दिया है कि आज तुलसीदास यदि स्वयं मौजूद होते तो अवश्य ही कुछ कहते. हालांकि ऐसे भेड़ियाधसान 'भक्तों' की आशंका उन्हें पहले से ही रही होगी इसलिए उन्होंने अपनी एक अन्य पुस्तक 'दोहावली' में लिखा है -

तुलसी भेड़ी की धंसनि, जड़ जनता सनमान।
उपजत ही अभिमान भो, खोवत मूढ़ अपान।।

- तुलसीदास कहते हैं कि भोली जनता तो भेड़ियाधसान के समान है - एक भेड़ जहां गिरा, सब वहीं गिरने लगते हैं. इसलिए ऐसी जनता से मिली मान-बड़ाई भी मिथ्या है. इसे पाकर जिसके मन में अहंकार उत्पन्न होता है, वह मनुष्य मूढ़तावश अपना आपा खो बैठता है और अपने पद से गिर जाता है.

चलते-चलते तुलसीदास जी की इसी पुस्तक से एक और दोहा पढ़ते चलें -
बलि मिस देखे देवता, कर मिस मानव देव।
मुए मार सुविचार हत, स्वारथ साधन एव।।

- यानी बलि के बहाने देवताओं की देवताई भी देख ली. और कर (टैक्स) के बहाने शासकों को भी देख लिया. ये सब अच्छे विचार से हीन होते हैं. ये मरे हुए को ही मारते हैं और केवल अपना स्वार्थ ही साधते हैं.
- दाशरथि राम के विजयोत्सव के शोर में सुधिजन समझें और समझाएं कि तुलसीदास और महात्मा गांधी के अर्थों वाला वास्तविक रामराज्य कैसे और कब आएगा!

जामुन का पेड़: कृश्न चंदर की वो कहानी, जिसे आईसीएसई ने पाठ्यक्रम से हटा दिया है

इस कहानी को नीचे पढ़ सकते हैं.

— o —

रात को बड़े ज़ोर का झक्कड़ (आंधी) चला. सेक्रेटेरियट के लॉन में जामुन का एक दरख़्त गिर पड़ा. सुबह जब माली ने देखा तो इसे मालूम पड़ा कि दरख़्त के नीचे एक आदमी दबा पड़ा है.

माली दौड़ा-दौड़ा चपरासी के पास गया. चपरासी दौड़ा-दौड़ा क्लर्क के पास गया. क्लर्क दौड़ा-दौड़ा सुपरिटेंडेंट के पास गया. सुपरिटेंडेंट दौड़ा-दौड़ा बाहर लॉन में आया. मिनटों में गिरे हुए दरख़्त के नीचे दबे हुए आदमी के गिर्द मज़मा इकट्ठा हो गया.

'बेचारा! जामुन का पेड़ कितना फलदार था.' एक क्लर्क बोला.

'इसकी जामुन कितनी रसीली होती थीं.' दूसरा क्लर्क बोला.

'मैं फलों के मौसम में झोली भर के ले जाता था. मेरे बच्चे इस की जामुनें कितनी ख़ुशी से खाते थे.' तीसरे क्लर्क ने तक़रीबन आबदीदा (रुआंसे) होकर कहा.

'मगर ये आदमी?' माली ने दबे हुए आदमी की तरफ़ इशारा किया.

'हां, यह आदमी!' सुपरिटेंडेंट सोच में पड़ गया.

'पता नहीं ज़िंदा है कि मर गया!' एक चपरासी ने पूछा.

'मर गया होगा. इतना भारी तना जिनकी पीठ पर गिरे, वह बच कैसे सकता है!' दूसरा चपरासी बोला.

'नहीं मैं ज़िंदा हूं!' दबे हुए आदमी ने बमुश्क़िल कराहते हुए कहा.

'ज़िंदा है!' एक क्लर्क ने हैरत से कहा.

'दरख़्त को हटाकर इसे निकाल लेना चाहिये.' माली ने मशविरा दिया.

'मुश्क़िल मालूम होता है.' एक काहिल और मोटा चपरासी बोला. 'दरख़्त का तना बहुत भारी और वज़नी है.'

'क्या मुश्क़िल है?' माली बोला. 'अगर सुपरिटेंडेंट साहब हुक्म दे तो अभी पंद्रह-बीस माली, चपरासी और क्लर्क ज़ोर लगाकर दरख़्त के नीचे से दबे आदमी को निकाल सकते हैं.'

'माली ठीक कहता है.' बहुत-से क्लर्क एक साथ बोल पड़े. 'लगाओ ज़ोर, हम तैयार हैं.'

एकदम बहुत से लोग दरख़्त को काटने पर तैयार हो गए.

'ठहरो!', सुपरिटेंडेंट बोला, 'मैं अंडर-सेक्रेटरी से मशविरा कर लूं .'

सुपरिटेंडेंट अंडर-सेक्रेटरी के पास गया. अंडर-सेक्रेटरी डिप्टी सेक्रेटरी के पास गया. डिप्टी सेक्रेटरी जॉइन्ट सेक्रेटरी के पास गया. जॉइन्ट सेक्रेटरी चीफ सेक्रेटरी के पास गया.

चीफ सेक्रेटरी ने जॉइन्ट सेक्रेटरी से कुछ कहा. जॉइन्ट सेक्रेटरी ने डिप्टी सेक्रेटरी से कुछ कहा. डिप्टी सेक्रेटरी ने अंडर सेक्रेटरी से कुछ कहा. एक फाइल बन गयी.

फाइल चलने लगी. फाइल चलती रही. इसी में आधा दिन गुज़र गया. दोपहर को खाने पर दबे हुए आदमी के गिर्द बहुत भीड़ हो गयी थी. लोग तरह-तरह की बातें कर रहे थे. कुछ मनचले क्लर्कों ने मामले को अपने हाथ में लेना चाहा.

वह हुक़ूमत के फ़ैसले का इंतज़ार किए बग़ैर दरख़्त को ख़ुद से हटाने का तहैया कर रहे थे कि इतने में सुपरिटेंडेंट फाइल लिए भागा-भागा आया, बोला, 'हम लोग ख़ुद से इस दरख़्त को यहां से हटा नहीं सकते. हम लोग महक़मा तिज़ारत (वाणिज्य विभाग) से मुताल्लिक़ (संबंधित) हैं और यह दरख़्त का मामला है जो महकमा-ए-ज़िराअत (कृषि विभाग) की तहवील (कब्ज़े) में है. इसलिए मैं इस फाइल को अर्जेन्ट मार्क करके महक़मा-ए-ज़िराअत में भेज रहा हूं . वहां से जवाब आते ही इस को हटवा दिया जाएगा.'

दूसरे दिन महक़मा-ए-ज़िराअत से जवाब आया कि दरख्त हटवाने की ज़िम्मेदारी महकमा-ए-तिज़ारत पर आईद (लागू) होती है. यह जवाब पढ़कर महक़मा-ए-तिज़ारत को ग़ुस्सा आ गया. उन्होंने फ़ौरन लिखा कि पेड़ों को हटवाने या न हटवाने की ज़िम्मेदारी महक़मा-ए-ज़िराअत पर आईद होती है. महक़मा-ए-तिज़ारत का इस मामले से कोई ताल्लुक़ नहीं है.

दूसरे दिन भी फाइल चलती रही. शाम को जवाब भी आ गया. 'हम इस मामले को हॉर्टीकल्चरल डिपार्टमेंट के सुपुर्द कर रहे हैं क्योंकि यह एक फलदार दरख़्त का मामला है और एग्रीकल्चरल डिपार्टमेंट सिर्फ अनाज और खेतीबाड़ी के मामलों में फ़ैसला करने का मजाज़ (अधिकार) है. जामुन का पेड़ एक फलदार पेड़ है इसलिए पेड़ हॉर्टीकल्चरल डिपार्टमेंट के दाइरे-अख़्तियार (अधिकारक्षेत्र) में आता है.'

रात को माली ने दबे हुए आदमी को दाल-भात खिलाया हालांकि लॉन के चारों तरफ पुलिस का पहरा था कि कहीं लोग क़ानून को अपने हाथ में ले के दरख़्त को ख़ुद से हटवाने की कोशिश न करें. मगर एक पुलिस कॉन्स्टेबल को रहम आ गया और इसने माली को दबे हुए आदमी को खाना खिलाने की इजाज़त दे दी.

माली ने दबे हुए आदमी से कहा, 'तुम्हारी फाइल चल रही है. उम्मीद है कि कल तक फ़ैसला हो जाएगा.'

दबा हुआ आदमी कुछ न बोला.

माली ने पेड़ के तने को ग़ौर से देखकर कहा, 'हैरत गुज़री कि तना तुम्हारे कूल्हे पर गिरा. अगर कमर पर गिरता तो रीढ़ की हड्डी टूट जाती.'

दबा हुआ आदमी फिर भी कुछ न बोला.

माली ने फिर कहा, 'तुम्हारा यहां कोई वारिस हो तो मुझे उसका अता-पता बताओ. मैं उसे ख़बर देने की कोशिश करूंगा.'

'मैं लावारिस हूं.' दबे हुए आदमी ने बड़ी मुश्क़िल से कहा.

माली अफ़सोस ज़ाहिर करता हुआ वहां से हट गया.

तीसरे दिन हॉर्टीकल्चरल डिपार्टमेंट से जवाब आ गया. बड़ा कड़ा जवाब था और तंज़आमेज़ (व्यंग्यपूर्ण). हॉर्टीकल्चरल डिपार्टमेंट का सेक्रेटरी अदबी मिजाज़ का आदमी मालूम होता था.

इसने लिखा था, 'हैरत है, इस समय जब 'दरख़्त उगाओ' स्कीम बड़े पैमाने पर चल रही हैं, हमारे मुल्क़ में ऐसे सरकारी अफ़सर मौजूद हैं जो दरख़्त काटने का मशवरा देते हैं, वह भी एक फलदार दरख़्त को! और फिर जामुन के दरख़्त को! जिस की फल अवाम बड़ी रग़बत (चाव) से खाते हैं! हमारा महक़मा किसी हालत में इस फलदार दरख़्त को काटने की इज़ाजत नहीं दे सकता.'

'अब क्या किया जाए?' एक मनचले ने कहा. 'अगर दरख़्त काटा नहीं जा सकता तो इस आदमी को काटकर निकाल लिया जाए! यह देखिए, उसी आदमी ने इशारे से बताया. अगर इस आदमी को बीच में से यानी धड़ के मुकाम से काटा जाए तो आधा आदमी इधर से निकल आएगा और आधा आदमी उधर से बाहर आ जाएगा, और दरख्त वहीं का वहीं रहेगा.'

'मगर इस तरह से तो मैं मर जाऊंगा!' दबे हुए आदमी ने एहतजाज़ किया.

'यह भी ठीक कहता है!' एक क्लर्क बोला.

आदमी को काटने वाली तजवीज़ (प्रस्ताव) पेश करने वाले ने पुरज़ोर-एहतजाज़ (कड़ा विरोध) किया, 'आप जानते नहीं हैं. आजकल प्लास्टिक सर्जरी के ज़रिये धड़ के मुकाम पर इस आदमी को फिर से जोड़ा जा सकता है.'

अब फाइल को मेडिकल डिपार्टमेंट में भेज दिया गया. मेडिकल डिपार्टमेंट ने फ़ौरन इस पर एक्शन लिया और जिस दिन फाइल मिली उसने उसी दिन इस महक़मे का सबसे क़ाबिल प्लास्टिक सर्जन तहकीकात के लिए भेज दिया.

सर्जन ने दबे हुए आदमी को अच्छी तरह टटोलकर, उसकी सेहत देखकर, ख़ून का दबाव, सांस की आमदो-रफ़्त, दिल और फेफड़ों की जांचकर के रिपोर्ट भेज दी कि, 'इस आदमी का प्लास्टिक सर्जरी का ऑपरेशन तो हो सकता है और ऑपरेशन कामयाब भी हो जाएगा, मगर आदमी मर जाएगा.'

लिहाज़ा यह तज़वीज़ भी रद्द कर दी गयी.

रात को माली ने दबे हुए आदमी के मुंह में खिचड़ी के लुक़मे डालते हुए उसे बताया, 'अब मामला ऊपर चला गया है. सुना है कि सेक्रेटेरियट के सारे सेक्रेटेरियों की मीटिंग होगी. इसमें तुम्हारा केस रखा जाएगा. उम्मीद है सब काम ठीक हो जाएगा.'

दबा हुआ आदमी एक आह भरकर आहिस्ते से बोला, 'हमने माना कि तग़ाफुल न करोगे लेकिन ख़ाक़ हो जाएंगे हम, तुमको ख़बर होने तक!'

माली ने अचंभे से मुंह में उंगली दबायी. हैरत से बोला, 'क्या तुम शायर हो?'

दबे हुए आदमी ने आहिस्ते से सिर हिला दिया.

दूसरे दिन माली ने चपरासी को बताया. चपरासी ने क्लर्क को और क्लर्क ने हेड-क्लर्क को. थोड़े ही अरसे में सेक्रेटेरियट में यह बात फैल गयी कि दबा हुआ आदमी शायर है.

बस फिर क्या था. लोग जोक-दर-जोक (झुंड बनाकर) शायर को देखने के लिए आने लगे. इसकी ख़बर शहर में फैल गयी. और शाम तक मुहल्ले-मुहल्ले से शायर जमा होना शुरू हो गए. सेक्रेटेरियट का लॉन भांत-भांत के शायरों से भर गया. सेक्रेटेरियट के कई क्लर्क और अंडर-सेक्रेटरी तक, जिन्हें अदब और शायर से लगाव था, रुक गए.

कुछ शायर दबे हुए आदमी को अपनी ग़ज़लें और नज़्में सुनाने लगे. कई क्लर्क इससे अपनी ग़ज़लों पर इस्लाह (सुधार) लेने के लिए मुसिर होने (ज़िद करने) लगे.

जब यह पता चला कि दबा हुआ आदमी शायर है तो सेक्रेटेरियट की सब-कमेटी ने फ़ैसला किया कि चूंकि दबा हुआ आदमी एक शायर है लिहाज़ा इस फाइल का ताल्लुक़ न एग्रीकल्चरल डिपार्टमेंट से है, न हार्टीकल्चरल डिपार्टमेंट से बल्कि सिर्फ़ और सिर्फ़ कल्चरल डिपार्टमेंट से है.

कल्चरल डिपार्टमेंट से इसतदअ (गुज़ारिश) की गयी कि जल्द से जल्द इस मामले का फ़ैसला करके बदनसीब शायर को इस शजरे-सायादार (छांव देने वाला पेड़) से रिहाई दिलायी जाए.

फाइल कल्चरल डिपार्टमेंट के मुख़्तलिफ़ शुआबों (विभाग) से गुज़रती हुई अदबी अकादमी के सेक्रेटरी के पास पहुंची. बेचारा सेक्रेटरी इसी वक़्त अपनी गाड़ी में सवार हो कर सेक्रेटेरियट पहुंचा और दबे हुए आदमी से इंटरव्यू लेने लगा.

'तुम शायर हो?' इसने पूछा.

'जी हां.' दबे हुए आदमी ने जवाब दिया.

'क्या तख़ल्लुस करते हो?'

'अवस.'

'अवस!' सेक्रेटरी ज़ोर से चीखा. 'क्या तुम वही हो जिसका मजमुआ-ए-कलाम (शायरी संग्रह) अवस के फूल हाल ही में शाया (प्रकाशित) हुआ है?'

दबे हुए शायर ने इस बात में सिर हिलाया.

'क्या तुम हमारी अकादमी के मेंबर हो?' सेक्रेटरी ने पूछा.

'नहीं!'

'हैरत है!' सेक्रेटरी ज़ोर से चीखा. 'इतना बड़ा शायर! 'अवस के फूल' का मुसन्निफ़ (लेखक) ! और हमारी अकादमी का मेंबर नहीं है! उफ़, उफ़ कैसी ग़लती हो गयी हमसे! कितना बड़ा शायर और कैसे गोशिया-ए-गुमनामी (गुमनामी के कोने) में दबा पड़ा है!'

'गोशिया-ए-गुमनामी में नहीं बल्कि एक दरख़्त के नीचे दबा हुआ... बराहे-क़रम मुझे इस पेड़ के नीचे से निकालिए.'

'अभी बंदोबस्त करता हूं.' सेक्रेटरी फ़ौरन बोला और फ़ौरन जाकर इसने अपने महकमे में रिपोर्ट पेश की.

दूसरे दिन सेक्रेटरी भागा-भागा शायर के पास आया और बोला, 'मुबारक़ हो, मिठाई खिलाओ, हमारी सरकारी अकादमी ने तुम्हें अपनी मर्क़ज़ी कमेटी (केंद्रीय समिति) का मेंबर चुन लिया है. यह लो परवाना-ए-इन्तख़ाब!'

'मगर मुझे इस दरख़्त के नीचे से तो निकालो.' दबे हुए आदमी ने कराहकर कहा. उसकी सांस बड़ी मुश्क़िल से चल रही थी और उसकी आंखों से मालूम होता था कि वह शदीद तशन्नुज और करब (काफ़ी तकलीफ़) में मुब्तला है.

'यह हम नहीं कर सकते.' सेक्रेटरी ने कहा. 'जो हम कर सकते थे वह हमने कर दिया है. बल्कि हम तो यहां तक कर सकते हैं कि अगर तुम मर जाओ तो तुम्हारी बीवी को वज़ीफा दिला सकते हैं. अगर तुम दरख़्वास्त दो तो हम यह भी कर सकते हैं.'

'मैं अभी ज़िंदा हूं.' शायर रुक-रुककर बोला. 'मुझे ज़िंदा रखो.'

'मुसीबत यह है,' सरकारी अकादमी का सेक्रेटरी हाथ मलते हुए बोला, 'हमारा महक़मा सिर्फ़ कल्चर से मुताल्लुक़ है. इसके लिए हमने 'फॉरेस्ट डिपार्टमेंट' को लिख दिया है. 'अर्जेंट' लिखा है.'

शाम को माली ने आकर दबे हुए आदमी को बताया कि कल फॉरेस्ट डिपार्टमेंट के आदमी आकर इस दरख़्त को काट देंगे और तुम्हारी जान बच जाएगी.

माली बहुत ख़ुश था कि गो दबे हुए आदमी की सेहत जवाब दे रही थी मगर वह किसी-न-किसी-तरह अपनी ज़िंदगी के लिए लड़े जा रहा है. कल तक... सुबह तक... किसी न किसी तरह इसे ज़िंदा रहना है.

दूसरे दिन जब फॉरेस्ट डिपार्टमेंट के आदमी आरी-कुल्हाड़ी लेकर पहुंचे तो इनको दरख़्त काटने से रोक दिया गया. मालूम यह हुआ कि महकमा-ए-ख़ारज़ा (विदेश विभाग) से हुक्म आया कि इस दरख़्त को न काटा जाए.

वजह यह थी कि इस दरख़्त को दस साल पहले हुकूमते पिटोनिया के वज़ीरे-आज़म (प्रधानमंत्री) ने सेक्रेटेरियट के लॉन में लगाया था. अब यह दरख़्त अगर काटा गया तो इस अम्र (बात) का शदीद अंदेशा था कि हुकूमते-पिटोनिया से हमारे ताल्लुक़ात हमेशा के लिए बिगड़ जाएंगे.

'मगर एक आदमी की जान का सवाल है!' एक क्लर्क ग़ुस्से से चिल्लाया.

'दूसरी तरफ़ दो हुकूमतों के ताल्लुक़ात का सवाल है.' दूसरे क्लर्क ने पहले क्लर्क को समझाया. 'और यह भी तो समझो कि हुकूमते-पिटोनिया हमारी हुकूमत को कितनी इमदाद (ग्रांट) देती है. क्या हम इन की दोस्ती की ख़ातिर एक आदमी की ज़िंदगी को भी कुर्बान नहीं कर सकते?'

'शायर को मर जाना चाहिये.'

'बिलाशुबा.' (निसंदेह)

अंडर-सेक्रेटरी ने सुपरिटेंडेंट को बताया. 'आज सुबह वज़ीरे-आज़म बाहर-मुल्कों के दौरे से वापस आ गए हैं. आज चार बजे महकमा-ए-ख़ारज़ा इस दरख़्त की फाइल उन के सामने पेश करेगा. जो वह फ़ैसला देंगे वही सबको मंज़ूर होगा.'

शाम पांच बजे ख़ुद सुपरिटेंडेंट शायर की फाइल ले कर उसके पास आया. 'सुनते हो?' आते ही ख़ुशी से फाइल हिलाते हुए चिल्लाया, 'वज़ीरे-आज़म ने दरख़्त को काटने का हुक्म दे दिया है और इस वाकये की सारी बैनुल-अक़्वामी (अंतरराष्ट्रीय) ज़िम्मेदारी अपने सिर पर ले ली है. कल वह दरख़्त काट दिया जाएगा और तुम इस मुसीबत से छुटकारा हासिल कर लोगे.'

'सुनते हो? आज तुम्हारी फाइल मुकम्मल हो गयी!' सुपरिटेंडेंट ने शायर के बाजू को हिलाकर कहा. मगर शायर का हाथ सर्द था. आंखों की पुतलियां बेजान थीं और चींटियों की एक लंबी क़तार उसके मुंह में जा रही थी.

उसकी ज़िंदगी की फाइल भी मुकम्मल हो चुकी थी.

तमाम दावों के बावजूद दुनिया में हमारी हिंदी कहां है?

- भाषाई आधार पर हम दुनिया को दो हिस्सों में देख सकते हैं. एक तो वे देश हैं, जो अपनी ही भाषा को सबसे आगे रखते हैं– जैसे ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, जापान, अमेरिका आदि. वे ही आजकल के सबसे विकसित देश हैं. दूसरे वे देश हैं जिन्होंने अपनी भाषा के बदले किसी ऐसे देश की भाषा को अपना लिया, जिसके वे कभी गुलाम थे. वे ही आजकल के अविकसित या विकासशील देश कहलाते हैं.
- भारत जनसंख्या की दृष्टि से दुनिया का ऐसा सबसे बड़ा देश है, जिसने अपनी गुलामी वाली अंग्रेजी को ही सरकारी कामकाज की भाषा बना दिया. तब भी, सात दशक बाद, केवल तीन प्रतिशत लोग ठीक-ठाक अंग्रेज़ी जानते हैं.
- भारत के भीतर और बाहर हिंदी बोलने-समझने वालों की सही संख्या बताना बहुत मुश्किल है. एक हालिया रिपोर्ट के अनुसार, 2015 में दुनिया में करीब एक अरब तीस करोड़ लोग हिंदी बोल रहे थे. यदि यह सही है, तो 2015 से हिंदी, चीन की मुख्य भाषा मंदारिन को पीछे छोड़ कर दुनिया में सबसे बड़ी भाषा बन गयी है.
- चीनी समाचार एजेंसी सिन्हुआ के अनुसार, 70 प्रतिशत चीनी जनता मंदारिन बोलती है जबकि भारत में हिंदी बोलने वालों की संख्या करीब 78 प्रतिशत बतायी जाती है. भारत सहित दुनिया में 64 करोड़ लोगों की मातृभाषा हिंदी है. भारत के अलावा मॉरीशस, सूरीनाम, फिजी, गुयाना, ट्रिनिडाड और टोबैगो आदि देशों में हिंदी का काफ़ी प्रचलन है.
- मार्क टली कहते हैं कि वे तो लोगों से बात हिंदी में शुरू करते हैं, पर लोग बार-बार अंग्रेज़ी में ही जवाब देते हैं. तंग आकर उन्होंने अब कहना शुरू कर दिया है कि बेहतर है कि भारतीय हिंदी भूल कर अंग्रेज़ी को ही अपना लें!
- हिंदी सबसे बड़ी भाषा न भी हो, तब भी दुनिया की दूसरी या तीसरी सबसे बड़ी भाषा ज़रूर है. जिस रिपोर्ट का ऊपर जिक्र हुआ वह कहती है कि तेजी से हिंदी सीखने वाले देशों में चीन सबसे आगे है. वहां के 20 विश्वविद्यालयों में हिंदी पढ़ाई जा रही है. 2020 तक यह संख्या 50 भी हो सकती है.
- मैं 1971 से जर्मनी में हूं. उसी समय से एक ईसाई मिशनरी फ़ादर बुल्के का लिखा 900 पेज का अंग्रेज़ी-हिंदी शब्दकोश इस्तेमाल कर रहा हूं. फादर कामिल बुल्के 26 साल की उम्र में, 1927 में, ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए बेल्जियम से भारत भेजे गये थे. हिंदी ने ऐसा मोहित किया कि उन्होंने अपना पूरा जीवन हिंदी की सेवा में समर्पित दिया. 1950 में उन्होंने भारत की नागरिकता ले ली. 1974 में भारत का तीसरा सबसे बड़ा सम्मान पद्मभूषण भी पाया.
- फादर कामिल बुल्के ने एक बार लिखा कि उन्हें यह देखकर बहुत दुख हुआ कि भारत के पढ़े-लिखे लोग अंग्रेजी बोलना गर्व की बात समझते हैं. उन्होंने निश्चय किया कि अब वे भारत के लिए हिंदी की महत्ता को सिद्ध करेंगे.
- केवल पांच वर्षों में, वे न सिर्फ हिंदी और संस्कृत में ही पारंगत हो गए. अवधी, ब्रज, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश भी सीख ली. 1950 में उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से अपनी पीएचडी के लिए अपना शोध प्रबंध (थीसिस) 'रामकथा : उत्पत्ति और विकास' अंग्रेजी के बदले हिंदी में ही लिखा. फ़ादर बुल्के के कारण इलाहाबाद विश्वविद्यालय को अपने नियम बदलने पड़े. इसके बाद दूसरे विश्वविद्यालयों में भी भारतीय भाषाओं में थीसिस लिखने की अनुमति मिलने लगी.
- कामिल बुल्के के अंग्रेजी-हिंदी शब्दकोश, और उससे 13 साल पहले के हिंदी-अंग्रेजी शब्दकोश को हिंदी भाषा की बेजोड़ सेवा माना जाता है. ठीक 35 साल पहले वे दुनिया से विदा हो गये. एक विदेशी ईसाई धर्म प्रचारक रहे फ़ादर कामिल बुल्के का जीवन दिखाता है कि दुनिया हिंदी को मान्यता देने को तैयार है. कमी हिंदी में नहीं, हमारे भीतर है.
- भारत से बाहर हिंदी की पूछ अधिकतर उन्हीं देशों में है, जहां प्रवासी या निवासी भारतीयों की संख्या काफ़ी अधिक है. उदाहरण के लिए, लघु-भारत कहलाने वाले मॉरीशस के 13 लाख निवासियों में से 68 प्रतिशत भारतवंशी हैं. वहां के महात्मा गांधी संस्थान ने हिंदी की उच्च शिक्षा के लिए डिप्लोमा कोर्स, बीए ऑनर्स और एमए तक की व्यवस्था कर रखी है.

- भारत के पड़ोसी देशों में नेपाल के त्रिभुवन विश्वविद्यालय में और श्रीलंका के कोलम्बो विश्वविद्यालय में हिंदी का अलग विभाग है. जापान में भी कम से कम आधे दर्जन विश्वविद्यालयों और संस्थानों में हिंदी के पाठ्यक्रम चलते हैं.
- 53 वर्षों तक हिंदी में रेडियो कार्यक्रम प्रसारित करने के बाद वॉयस ऑफ अमेरिका ने आज से नौ साल पहले हिंदी कार्यक्रम बंद कर दिया. बदले में उसने उर्दू का समय काफ़ी बढ़ा दिया
- अमेरिका के 25 लाख भारतवंशी वहां का दूसरा सबसे बड़ा प्रवासी समूह हैं. वहां के 75 विश्वविद्यालयों में हिंदी की व्यवस्था है. तीन प्रमुख संस्थाएं– अर्न्तराष्ट्रीय हिंदी समिति, विश्व हिंदी समिति और हिंदी न्याय– अमेरिका में हिंदी भाषा के प्रचार-प्रसार का काम करती हैं. कम से कम चार प्रमुख हिंदी पत्रिकाएं भी प्रकाशित होती हैं– विश्व, सौरभ, क्षितिज और हिंदी जगत. हिंदी की कम से कम एक मासिक या त्रैमासिक पत्रिका आस्ट्रेलिया, ब्रिटेन, म्यांमार (बर्मा), गुयाना और सूरीनाम से भी प्रकाशित होती है.
- यूरोप में क़रीब एक दर्जन देशों के तीन दर्जन विश्वविद्यालयों और संस्थानों में हिंदी की व्यवस्था है. लेकिन बर्लिन दीवार के गिरने और यूरोप में शीतयुद्ध का अंत होने के बाद से हिंदी के छात्र कम होते जा रहे हैं. जर्मनी इससे सबसे अधिक प्रभावित है. देश के एकीकरण के ठीक बाद लगभग दो दर्जन विश्वविद्यालयों में भारतविद्या के अंतर्गत हिंदी सीखी जा सकती थी. आज उनकी संख्या केवल एक दर्जन रह गयी है. ठीक इस समय, कोलोन और बॉन विश्वविद्यालयों के भारतविद्या संस्थान पर भी बंद होने का खतरा मंडरा रहा है.
- हिंदी के प्रति घटती रुचि के अनेक कारण हैं. पर एक बड़ा कारण ऐसा है, जिसके लिए हम भारतीय स्वयं दोषी हैं. जर्मन विश्वविद्यालयों में हिंदी के छात्र व्यावहारिक अनुभव पाने के लिए अक्सर रेडियो डॉएचे वेले के हमारे हिंदी कार्यक्रम में आया करते थे. हिंदी की एक ऐसी ही छात्रा ने, कोई दो दशक पहले, मुझे बताया कि एक बार वह कोलोन के एक व्यापार मेले में होस्टेस व दुभाषिये का काम कर रही थी. उसे एक भारतीय स्टॉल पर भेजा गया. स्टॉल के मालिक दो भारतीय सज्जन थे. उसने हिंदी में जैसे ही अपना परिचय देना चाहा, दोनों एकदम भड़क गये. उसे डांटने लगे कि वह समझती क्या है कि उन्हें अंग्रेज़ी नहीं आती? वे अनपढ़ हैं कि वह उनसे हिंदी बोल रही है? उसे माफ़ी मांगनी पड़ी और कहना पड़ा कि वह अंग्रेज़ी में ही बात करेगी, हिंदी का नाम तक नहीं लेगी.
- हिंदी के विपरीत, जर्मनी में पिछले 30 वर्षों में उन विश्वविद्यालयों की संख्या बढ़ कर 28 हो गयी है जहां चीनी भाषा की पढ़ाई होती है. चीन में चीनी भाषा नहीं जानने पर विदेशियों को नीचा देखना पड़ता है. और भारत में हिंदी जानने पर नीचा देखना पड़ सकता है.
- भारत में लंबे समय तक बीबीसी के संवाददाता रहे मार्क टली भारत की नागरिकता ले कर वहीं बस गये हैं. उनका भी यही अनुभव है कि वहां अंग्रेजी को तो पढ़े-लिखे लोगों और हिंदी को अनपढ़ गंवारों की भाषा समझा जाता है. मार्क टली कहते हैं कि वे तो लोगों से बात हिंदी में शुरू करते हैं, पर लोग बार-बार अंग्रेज़ी में ही जवाब देते हैं. तंग आकर उन्होंने अब कहना शुरू कर दिया है कि बेहतर है कि भारतीय हिंदी भूल कर अंग्रेज़ी को ही अपना लें!
- 53 वर्षों तक हिंदी में रेडियो कार्यक्रम प्रसारित करने के बाद वॉयस ऑफ अमेरिका ने आज से नौ साल पहले हिंदी कार्यक्रम बंद कर दिया. बदले में उसने उर्दू का समय काफ़ी बढ़ा दिया. उसकी देखादेखी कुछ समय बाद जर्मनी के डॉयचे वेले ने भी 1964 से चल रही हिंदी सेवा बंद कर दी. पर उर्दू कार्यक्रम आज भी चल रहा है.
- लेकिन रूस, चीन जापान, उज़बेकिस्तान, मिस्र और वेटिकन से भारत के लिए हिंदी कार्यक्रम आज भी प्रसारित हो रहे हैं. इस सूची में तीन नए देश भी हैं– ऑस्ट्रेलिया, ईरान और ताजिकिस्तान. तीन ईसाई धर्मप्रचारक रेडियो स्टेशन भी भारत के लिए हिंदी में प्रसारण कर रहे हैं– मोल्दाविया से ट्रांसवर्ल्ड रेडियो, और जर्मनी से गॉस्पल फॉर एशिया और क्रिश्चियन विजन.

- अंग्रेज़ी वास्तव में हमारी प्रगति की राह का सबसे बड़ा रोड़ा सिद्ध हुई है. उसके कारण देश की वह 97 प्रतिशत जनता, जो अंग्रेज़ी लिख-पढ़ नहीं सकती, बाक़ी तीन प्रतिशत से पीछे रह जाती है
- मैं नहीं मानता कि अंग्रेज़ी के बिना भारत विज्ञान और तकनीक में तेज़ी से प्रगति नहीं कर सकता. चीन, जापान, ताइवान और दक्षिण कोरिया ने हमारे देखते ही देखते, पिछले केवल 30, 40 साल में ही यूरोप-अमेरिका को जिस तरह पीछे छोड़ दिया, उसके लिये क्या उन्होंने सबसे पहले सारे देश को अंग्रेज़ी सिखाई? और क्या वहां भी, भारत की तरह, सारा घरेलू और सरकारी कामकाज अंग्रेज़ी में होता है?
- इन देशों के लोग हम से बेहतर अंग्रेज़ी नहीं जानते. वहां कभी किसी लॉर्ड मैकाले का राज नहीं था. हम तो लॉर्ड मैकाले की कृपा से दो सदियों से अंग्रेज़ी ही पढ़-लिख और इस्तेमाल कर रहे हैं. यदि अंग्रेज़ी का ज्ञान ही विज्ञान और तकनीक तक पहुंचने की बुलेट ट्रेन है तो हमें तो चीन-जापान-कोरिया से बहुत आगे होना चाहिये था!
- अंग्रेज़ी वास्तव में हमारी प्रगति की राह का सबसे बड़ा रोड़ा सिद्ध हुई है. उसके कारण देश की वह 97 प्रतिशत जनता, जो अंग्रेज़ी लिख-पढ़ नहीं सकती, बाक़ी तीन प्रतिशत से पीछे रह जाती है, अपना पूरा योगदान नहीं दे पाती. छात्रों की 40 प्रतिशत ऊर्जा अकेले अंग्रेज़ी सीखने पर ख़र्च हो जाती है. बाक़ी सभी विषय पीछे रह जाते हैं.
- अंग्रेज़ी जिसकी न तो मातृभाषा है और न रोमन जिसकी लिपि, उस चीन-जापान-कोरिया से आज ब्रिटेन और अमेरिका तक कांप रहे हैं. ये देश इसलिए आगे बढ़े, क्योंकि आपसी बातचीत और सरकारी कामकाज में वे अपनी मातृभाषा या राष्ट्रभाषा के महत्व पर अटल रहे. अंग्रेज़ी उनके लिए अंतरराष्ट्रीय महत्व वाली एक विदेशी भाषा है, न कि भारत की तरह स्वदेशी भाषा. अपनी भाषा न तो स्वाभाविक प्रतिभा के रास्ते में बाधक होती है, और न कोई विदेशी भाषा प्रतिभा की कमी को दूर कर सकती है.
- क्या अंग्रेज़ी में तुलसी दास के रामचरितमानस या रसखान के गीत गोविंद से हमें वही आनंद मिल सकता है जो हिंदी में मिलता है? राष्ट्रगान जन मन गण... के अंगेज़ी अनुवाद से क्या हमारे मन में वही भाव पैदा हो सकता है, जो आज पैदा होता है? नहीं. हिंदी हमें भारतीयता से जोड़ती है. वह हमारी भावनात्मक ज़रूरत भी है.

हिंदी डाल-डाल और हिंदी सेवक पात-पात

- हिंदी दिवस है. आप इसे हिंदी का हैप्पी बर्थ डे, यौमे पैदाइश, सालगिरह, जन्म दिवस जो चाहें कह सकते हैं. इस दिन हिंदी की ढूंढ-खोज होती है. हिंदी इतनी शैतान है कि आजादी के बाद से आसानी से मिल नहीं रही है. हिंदी दिवस के कार्यक्रम के भाषण अभी ठीक से रटे भी नहीं जा पाते हैं कि वह भाग निकलती है और किसी सरकारी प्राइमरी स्कूल में मिड डे मील खाने लगती है. अफसरों से लेकर बुद्धिजीवी तक उसका पीछा करते हैं और वह चकमा देकर थोड़ी देर के लिए किसी कान्वेंटगामी बच्चे के पास जाकर बैठ जाती है. बच्चा उससे पूछता है - अरे, यार इतने दिन कहां थी तू हिंदी. मेरे, मार्क्स फिर से हिंदी में कम आए हैं. कुछ कर न. क्यों मेरा ग्रेड खराब कर रही है. हिंदी मुस्कराते हुए कहती है - चुप हो, इतनी हिंदी न झाड़, कहीं फाइन-वाइन लग गया तो मुझे मत कहना.
- और फिर हिंदी वहां से भी भाग निकलती है. हिंदी डाल-डाल और सारे हिंदी सेवक पात-पात. हिंदी दिवस वाले दिन हरेक डिजाइन के बुद्धिजीवी अपने मतभेद भुला देते हैं और संयुक्त मोर्चा बनाकर हिंदी का पीछा करते हैं. लेकिन वह फिर भी किसी के हाथ नहीं आती.
- खुद को राष्ट्रवादी रूझान का बताने वाले हिंदी सेवक उसका पीछा करते हुए कहते हैं, 'हे, मां भारती की जिह्वा, मेरी संस्कृति का गौरव तुम कहां जा रही हो. तुम्हारे लिए कितनी सारी गोष्ठियां, कार्यक्रम किए जा रहे हैं. तुम्हारे स्वागत के लिए लाये गए दीप प्रज्वलन वाले दीपक का तेल सूख रहा है. तुम्हारे इंतजार में खाली बैठे मुख्य अतिथि महोदय सिगरेट की तलब में मरे जा रहे हैं.'

- दूसरी तरफ हिंदी के पीछे-पीछे दौड़ते वामपंथी अपने हालिया प्रकाशित काव्य संग्रह के साथ नारा लगाते हैं - लाल सलाम, लाल सलाम, हिंदी तुझको लाल सलाम. छठे वेतनमान और मोटी तनख्वाहों से लैस प्रोफेसर अपने युवा दस्ते का साथ देते हुए आह्वान करते हैं - तुम कहां जा रही हो हिंदी. तुम गरीबों-मजदूरों-सर्वहाराओं की भाषा हो. रुक जाओ, तुम्हें क्रांति की कसम.
- इधर, हिंदी का पीछा चल रहा होता है. उधर, हिंदी दिवस के एक सेमिनार में आमंत्रित आलोचक सोच रहा होता है कि जिस कार्यक्रम में मैं बुलाया गया हूं उसके आयोजक की विचारधारा के बारे में ठीक से पता नहीं कर सका हूं. भाषण में दृष्टिकोषण से ज्यादा जरूरी राजनीतिक कोण है. खैर, उससे ज्यादा कौन जानता है कि विचारधारा तो द्रव जैसी मानसिक अवस्था है. जिस बर्तन में रख दो उसी का आकार ले लेती है. और वह तो इस मामले में गैस है.
- इसी कार्यक्रम में आमंत्रित एक कवियत्री इस जुगाड़ में होती है कि आज के हिंदी दिवस पर इधर-उधर की फालतू बातों के बीच कम से कम एक काम की बात हो जाए और उन्हें पाब्लो नेरूदा का भारतीय-महिला संस्करण घोषित कर दिया जाए. हाल ही में एक कार्यक्रम में उसे आधुनिक महादेवी घोषित किया ही जा चुका है. उसके बाद उसने तय किया है कि अब भारतीय कवियत्रियों से अपनी तुलना करवाने से बचेगी. पिछले दिनों उसने एक कार्यक्रम में जाने से इसीलिए इनकार कर दिया था क्योंकि वहां पर उसकी तुलना मीराबाई से की जानी थी. अब वह चाहती है कि गद्य लेखन के लिए उसकी तुलना वर्जीनिया वुल्फ से की जाए.
- इन सारी गतिविधियों के बीच हिंदी इन सबसे बचकर दौड़ती-भागती रहती है. लेकिन, आखिरकार बुद्धिजीवी, राजभाषा विभाग, साहित्य अकादमियां, प्रकाशक, बेस्ट सेलर वगैरह मिलकर उसे पकड़ ही लेते हैं. सड़क पर चलने वाले आम राहगीर जिन्हें हिंदी के अलावा और कोई जबान बोलनी नहीं आती है, ये सारा तमाशा देखकर समझते हैं कि कोई हिंदी नाम का खतरनाक अपराधी फरार हो गया था, चलो अच्छा हुआ कि वह देश के मुस्तैद तंत्र की पकड़ में आ गया.
- हिंदी को हिरासत में लेने के बाद उसे तुरंत हिंदी दिवस पर हो रहे सरकारी-गैर सरकारी कार्यक्रमों में वक्ता रूपी मजिस्ट्रेटों की ज्यूरी के सामने पेश कर दिया जाता है. वे तुरंत हिंदी को कठघरे में खड़ा कर देते हैं और भाषण के रुप में अपना फैसला सुनाने लगते हैं. हिंदी तुम्हारी हालत बहुत खराब है, तुम्हें फौरन बुद्धिजीवियों द्वारा संचालित भाषा के किसी दवाखाने में भर्ती करा देना चाहिए. इसी बीच वे अपने फोन पर देखते हैं कि कवियत्री ने उनके भाषण के बारे में यह फेसबुक टिप्पणी की है कि अगर हिंदी समाज को उन जैसा सार्वजनिक बुद्धिजीवी नहीं मिला होता तो गड्ढे में पढ़ी हिंदी की हालत लगातार गिरते भूजल स्तर जैसी हो जाती. आलोचक वक्ता महोदय की इच्छा थी कि कार्यक्रम की भसड़ में फिलहाल कवियत्री की प्रतिभा की उपेक्षा कर दी जाए. लेकिन, फेसबुक टिप्पणी देखकर वे कवियत्री को नेरूदा और कालिदास का मिला-जुला संस्करण घोषित कर देते हैं.
- इस बात से एक युवा कवि काफी निराश होता है. उसे लग रहा था कि उसकी कविताओं में नई प्रवृत्ति को रेखांकित करते हुए आज आलोचक जी उसके नाम से किसी नए 'वाद' की घोषणा करेंगे. लेकिन नौजवान कवि संयम बरकरार रखते हुए तुरंत अपनी आशु कविता के जरिये आलोचक का आभार प्रकट करता है. उसके आभार प्रकट करने के दौरान माहौल काफी भारी हो जाता है, कार्यक्रम में मौजूद तमाम गणमान्यों के चमचों को नींद आने लगती है. गणमान्य को भी उबासी आती है, लेकिन सार्वजनिक मौके पर इंद्रियों को जीत लेने की कला ही उन्हें गणमान्य बनाती है.
- हिंदी की सेवा करने वाला एक दूसरा खेमा भी होता है. यह मानता है कि हिंदी के कारनामे देखने हैं तो वाट्सएप और फेसबुक पर देखो. कितनी चंचल और शोख है, वहां हमारी हिंदी. इस मत के समर्थकों में से किसी से नाराज होकर कोई आलोचक महोदय लिख-कह देते हैं कि इसकी कविता ट्रांसपोर्ट कारोबारियों के लिए काफी मुफीद है. ट्रकों के पीछे लिखी जाने वाली शायरी में वह सदैव प्रासंगिक रहेगा. इसके बाद वह कवि फिल्मों, विज्ञापन वाली हिंदी में चला जाता है और काफी पैसे बनाता है.

- लेकिन, वह बार-बार साहित्य की दुनिया में लौटकर आता है और अपनी जेब से पैसे लगाकर, या नाममात्र की हिंदी वाले साहित्योत्सवों में अकादमिक टाइप के लोगों से इंतकाम लेता है. इसके बाद अकादमिक आलोचक के समर्थकों और उस लोकप्रिय लेखक के समर्थकों के बीच मंच और मंचेत्तर जगहों पर काफी गाली-गलौज होता है. इन गालियों के बहुत हल्के और निम्न स्तर पर हिंदी दिवस पर चिंता जताई जाती है. इसके बाद मंत्री जी अपने अफसरों से कहते हैं - अब से हर काम हिंदी में. अफसर उनसे कहते हैं - यस सर. और इस प्रकार हिंदी दिवस अपनी गति को प्राप्त हो जाता है.

10 कदम जिनसे हिंदी पर जोर देने वाली सरकार इस भाषा की ताकत और बढ़ा सकती है

- भारत में हिंदी समझने और बोलने वालों की संख्या करीब 70 करोड़ है. देश से बाहर भी करोड़ों लोग इसे जानते-समझते हैं. प्रयोग करने वालों की संख्या के लिहाज से यह चीन की मंदारिन के बाद दुनिया की दूसरी सबसे बड़ी भाषा है.
- लेकिन इसका मतलब कतई नहीं कि यह विश्व की दूसरी सबसे शक्तिशाली भाषा भी है. इस मामले में तो अंग्रेजी सबसे अव्वल है. हमारे देश में 12 से 15 फीसदी लोग ही अंग्रेजी समझ पाते हैं, जबकि अच्छी अंग्रेजी महज तीन फीसदी लोग बोल पाते हैं. इसके बावजूद यह हिंदी समेत तमाम भारतीय भाषाओं पर हावी है.
- ऐसे में हिंदी के तमाम समर्थकों को उम्मीद है कि ये हिंदी भाषा और साहित्य के विकास के लिए कुछ ऐसा करेंगे जो पिछले 70 सालों में नहीं हुआ. आखिर सवाल उठता है कि ऐसे कौन से कदम उठाने चाहिए, जिससे हिंदी तेजी से फैल सके. भाषाविदों सहित तमाम जानकारों से हुई बातचीत के मुताबिक ऐसे दस जरूरी फैसले ये हो सकते हैं:

1. सबसे पहले हिंदी प्रदेश के सभी 10 राज्यों (दिल्ली, उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखंड, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, राजस्थान, हरियाणा, उत्तराखंड और हिमाचल प्रदेश) को अपने यहां 'त्रिभाषा सूत्र' को सख्ती से लागू करना चाहिए. दौलत सिंह कोठारी के नेतृत्व में बने प्रथम शिक्षा आयोग द्वारा सुझाए गए इस सूत्र के अनुसार देश के स्कूलों में तीन भाषाओं को पढ़ाया जाना था. इन तीन भाषाओं में मातृभाषा, अंग्रेजी और दूसरे राज्य की कोई एक भाषा पढ़ाने का सुझाव दिया गया था. लेकिन हिंदी पट्टी के इन राज्यों ने इस मामले में 'राजनीति' कर दी. इन राज्यों ने अपने यहां दूसरे राज्यों की भाषा पढ़ाने के बजाय संस्कृत को पढ़ाना शुरू कर दिया.
2. दूसरी ओर इन्होंने गैर-हिंदी राज्यों पर पूरा कामकाज हिंदी में ही करने का दबाव डालना शुरू कर दिया. लेकिन ये राज्य कभी नहीं समझ पाए कि उनकी यह 'चतुराई' खुद उन्हें ही भारी पड़ेगी. इससे हुआ यह कि गैर-हिंदी प्रदेश आज तक उत्तर भारतीय राज्यों का यह दोहरा रवैया स्वीकार नहीं कर पाए. विश्लेषकों के मुताबिक यदि उत्तर भारत के राज्य चाहते हैं कि उनकी हिंदी देश के दूसरे इलाकों में भी फैले तो उन्हें अपनी 'गलती' ठीक करनी होगी. उन्हें संस्कृत की जगह दूसरे राज्यों की भाषा पढ़ना शुरू करना चाहिए. ऐसा करने के बाद ही गैर-हिंदी भाषी राज्यों को हिंदी पढ़ने और उसमें काम-काज करने के लिए सहमत किया जा सकेगा.
3. जानकारों के मुताबिक भाजपा चाहे तो यह काम आसानी से कर सकती है क्योंकि इन 10 राज्यों में से छह में अभी उसकी या सहयोगियों की सरकार है. वहीं इन राज्यों में देश की 42 फीसदी जनता रहती है. हालांकि पार्टी के लिए ऐसा करना आसान नहीं है क्योंकि माना जाता है कि वह संस्कृत के प्रति जरूरत से ज्यादा मोह रखती है. जानकारों के अनुसार भाजपा को इस मामले में व्यावहारिक रुख अपनाना होगा.
4. पचास के दशक में गठित वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली आयोग का पुनर्गठन किया जाना चाहिए. साथ ही शब्द निर्माण के मामले में अब तक की नीति को छोड़ना होगा. सरकार की मौजूदा नीति ने संस्कृत से जुड़ी ऐसी मशीनी भाषा ईजाद की है जो आम तो छोड़िए, हिंदी के जानकार लोगों को भी समझ में नहीं आती. जानकारों के मुताबिक सरकार को चाहिए कि वह जनसंघ के पूर्व अध्यक्ष और महान भाषाविद् आचार्य रघुवीर की नीति को छोड़ दे. वे भले ही महान भाषाविद थे जिन्होंने हिंदी के छह लाख शब्द गढ़े, पर यह भी सच है कि उन्होंने कई ऐसे शब्द भी बनाए जिसके चलते आज तक हिंदी

का मजाक उड़ाया जाता है. इसलिए हिंदी के सरकारी शब्दकोशों और दस्तावेजों से कठिन शब्द को हटाए बिना हिंदी का विकास संभव ही नहीं.

5. शब्दों के मामले में किसी भी भाषा के प्रचलित शब्दों को स्वीकारने की नीति होनी चाहिए. हम ऑक्सफोर्ड शब्दकोश से भी बहुत कुछ सीख सकते हैं, जो हर साल अपने भंडार में आम प्रचलन के कई शब्दों को जोड़ता रहता है. सरकार पत्रकारिता जगत से भी बहुत कुछ सीख सकती है जहां अप्रचलित और कठिन शब्द शायद ही प्रयोग किए जाते हैं.
6. केंद्र और राज्य सरकारों को दसवीं के बजाय 12वीं कक्षा तक हिंदी भाषा और साहित्य को अनिवार्य भाषा बनाना चाहिए. केंद्र सरकार की मौजूदा नीति में कई झोल हैं जिसके चलते अनेक बच्चे अपनी मातृभाषा पढ़ने के बजाय विदेशी भाषा पढ़ने को तवज्जो देते हैं. ऐसी प्रवृत्ति को दूर करना होगा, नहीं तो बच्चे अंग्रेजी, जर्मन तो सीख लेंगे पर हिंदी के बारे में 'गर्व' से कहेंगे कि हिंदी में उनका हाथ तंग है.
7. यह जमाना अब कंप्यूटर, लैपटॉप और स्मार्टफोन का है. हम अब कागज पर लिखने के बजाय कीबोर्ड पर ज्यादा लिखते हैं. इसलिए सरकार को चाहिए कि स्कूलों में बच्चों को कागज पर हिंदी लिखना सिखाने के साथ-साथ उन्हें हिंदी टाइपिंग में भी दक्ष बनाए. ऐसा किए बगैर हिंदी पढ़ाने-लिखाने का मकसद अधूरा ही रहेगा.
8. केंद्र सरकार का मूल कामकाज हिंदी में होना भले संभव न हो, लेकिन यह तो हो ही सकता है कि सरकार अपने सभी दस्तावेजों और वेबसाइटों का सहज हिंदी में अनुवाद अनिवार्य रूप से कराए. इसके लिए संसाधनों की कमी का बहाना बनाते रहने से हमारी मातृभाषा लगातार पिछड़ती जाएगी और एक दिन हम अपने ही देश में अंग्रेजी के गुलाम बन जाएंगे. सरकार के इस फैसले से रोजगार के भी बड़े अवसर पैदा होंगे.
9. केंद्र सरकार अभी राजभाषा हिंदी सीखने के लिए अपने कर्मचारियों को आर्थिक प्रोत्साहन देती है. इसके तहत सेवा में रहते हुए हिंदी की परीक्षा पास करनी होती है. उसके बाद कर्मचारियों को एक निश्चित समय पर तय राशि दी जाती है. जानकारों के मुताबिक यहां तक तो ठीक है पर गड़बड़ी यह होती है कि हिंदी प्रोत्साहन के नाम पर पैसे पाने वाले ज्यादातर कर्मचारी कभी हिंदी में कामकाज नहीं करते. सरकार को इस बुरी प्रवृत्ति पर लगाम लगानी चाहिए.
10. देश में इंटरनेट पर करीब 20 प्रतिशत लोग हिंदी में सामग्री खोजते हैं. लेकिन इंटरनेट पर इस भाषा में अच्छी सामग्री का काफी अभाव है. इसलिए सरकार को चाहिए कि वह अपने संसाधनों और निजी प्रयासों से सभी विषयों की हिंदी में सामग्री तैयार करवाकर इंटरनेट पर डलवाए. यह काम धीरे-धीरे करने से बात नहीं बनेगी. सरकार को इसके लिए युद्ध स्तर पर प्रयास करना होगा. ऐसा करके ही हिंदी पर लगने वाले उन लांछनों को दूर किया जा सकेगा कि यह ज्ञान और विज्ञान की भाषा नहीं है.
11. सरकार को शब्दों की वर्तनी से जुड़ी विसंगतियों को दूर करने का प्रयास करना चाहिए. अंग्रेजी जैसी भाषाओं के विपरीत हिंदी में कई ऐसे शब्द हैं जिन्हें कई तरह से लिखा जाता है. इस समस्या के चलते कई लोगों को हिंदी लिखने ओर सीखने में दिक्कत होती है.
12. सरकार को सुप्रीम कोर्ट से परामर्श करके देश की अदालतों में हिंदी को जिरह करने और फैसला लिखने की भाषा बनाने का प्रयास करना चाहिए.
13. केंद्र सरकार का राजभाषा विभाग अभी गृह मंत्रालय के तहत काम करता है. इसका जिम्मा कई बार अहिंदी-भाषी मंत्री के जिम्मे होता है. ऐसे मंत्री हिंदी के विकास में रुचि नहीं लेते. इसलिए सरकार को तय करना चाहिए कि यह विभाग या तो प्रधानमंत्री कार्यालय के तहत काम करे या इसे वैसे किसी मंत्री को सौंपा जाए जो हिंदी की अहमियत समझता हो. इसके अलावा राजभाषा विभाग को इसके अलावा पर्याप्त अधिकार और बजट भी सौंपने की जरूरत है.

सरकार को इन उपायों के अलावा हिंदी के अनुकूल तकनीकी विकास में भी दिलचस्पी बढ़ानी चाहिए. उसे इस क्षेत्र में अनुसंधान तेज करने के लिए निजी क्षेत्र को भी प्रोत्साहित करना होगा. हालांकि बिना राजनीतिक इच्छाशक्ति, स्पष्ट कार्ययोजना, संवेदनशीलता और ईमानदारी के कोई भी प्रयास इस दिशा में महज रस्म अदायगी बनकर रह जाएगा. अब तक का अनुभव तो ऐसा ही रहा है.

वैचारिक जकड़न से आजाद होते उपन्यास

- हिंदी कथा परिदृश्य की अगर बात करें तो हम पाते हैं कि पिछले कुछ वर्षो में इसने अपने भूगोल का विस्तार किया है। वामपंथी विचार के प्रभाव में खास तरह की कहानियां या उपन्यास लिखे जा रहे थे। ये दौर बहुत लंबे समय तक चला और एक खास तरह की फॉमरूलाबद्ध कहानियां और उपन्यास लिखे जाते रहे। एक गरीब होगा, उसका संघर्ष होगा, समाज के प्रभावशाली व्यक्ति के गरीबों के शोषण का चित्र होगा, उसमें लंबे लंबे वैचारिक आख्यान होंगे और फिर कई बार सुखांत तो कई बार दुखांत होगा। ये कथा-प्रविधि चलती रही। कुछ लेखक इससे हटकर भी लिखते रहे, लेकिन जोर इसी तरह के लेखन का रहा। दुनिया को बदलने का स्वप्न देखनेवाले कथा लेखक अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता की वजह से अपनी कहानियों या उपन्यासों को भी दुनिया को बदलने का औजार बनाते चले गए। जब इस तरह के औजार का प्रयोग हुआ तो उसने हिंदी के पाठकों को चौंकाया। लेकिन जब यही प्रविधि ज्यादातर लेखक उपयोग करने लगे तो पाठकों के बीच ऊब सी पैदा हुई।
- विचारधारा की जकड़न वाले ऐसे कथा लेखक इस बात का प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से उद्घोष भी करते रहे कि वो विचारधारा के पोषण के लिए और उसको मजबूत करने के लिए लिखते हैं। वो पाठकों की परवाह भी नहीं करते थे, बाजार की परवाह करना तो खैर उनके मातृ-विचार के खिलाफ था। इसका दुष्परिणाम हिंदी साहित्य को डोलना पड़ा। एक समय ऐसा भी आया जब हिंदी साहित्य जगत में पाठकों की कमी को लेकर विमर्श शुरू हो गया। बड़े बड़े संस्थानों से लेकर साहित्यिक पत्रिकाओं में हिंदी के पाठकों की कमी का रोना रोते हुए लेख छपने लगे। पाठकों की कमी की बात जब मुखर होने लगी तो उसी दौर में ये हिंदी के कहानी संग्रह और उपन्यासों का संस्करण तीन सौ प्रतियों का होने लगा। लेकिन कभी भी इस बात की पड़ताल करने की कोशिश नहीं की गई कि पाठक क्यों कथा साहित्य से दूर जाने लगे हैं। लेखकों ने पाठकों की रुचि का ध्यान नहीं रखा और कहते भी थे कि वो रुचि का ध्यान रखकर लेखन नहीं कर सकते हैं। अगर बाजार की भाषा में इसको समझने की कोशिश करें तो कह सकते हैं कि वामपंथी लेखकों ने उपभोक्ता यानी पाठकों की रुचि का ध्यान नहीं रखा। वो रवींद्रनाथ टैगोर का कहा भी भूल गए। टैगोर साहब ने 'साहित्य की सामग्री' नामक अपने लेख की शुरुआत में ही कहा था- 'केवल अपने लिए लिखने को साहित्य नहीं कहते हैं। जैसे पक्षी अपने आनंद के उल्लास में गाता है उसी प्रकार हम भी अपने आनंद में विभोर होकर केवल अपने लिए ही लिखते हैं, मानो श्रोता या पाठक का उससे कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं होता। यह बात बिल्कुल निर्विवाद रूप से नहीं कही जा सकती कि पक्षी जब गाता है तब पक्षी समाज जरा भी उसके ध्यान में नहीं होता। यदि नहीं होता तो न सही, इस बात पर तर्क करने से लाभ ही क्या है? परंतु यह तो मानना ही पड़ेगा कि लेखक की रचना का प्रधान लक्ष्य पाठक-समाज होता है।' लेकिन वामपंथी लेखकों ने पाठक समाज को ध्यान में नहीं रखा, उनका लक्ष्य तो कथा साहित्य से अपनी विचारधारा को पुष्ट करना था।
- जब वामपंथी विचारधारा का पराभव शुरू हुआ तो हिंदी साहित्य का कथा लेखन भी इस वैचारिक लेखन से मुक्त होने लगा। इसके बीच आर्थिक उदारीकरण के बाद के दौर में ही कथाभूमि में पड़ने शुरू हो गए थे। इक्कीसवीं सदी के आरंभ में बदलाव का ये पौधा उगना शुरू हो गया था और लोगों ने इससे अलग हटकर उपन्यास लिखना शुरू कर दिया था। इसी दौर में मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों ने अपनी नवीनता की वजह से हिंदी के पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया था। भगवानदास मोरवाल का उपन्यास 'प्रेत' और मैत्रेयी पुष्पा का उपन्यास 'अल्मा कबूतरी' ने पाठकों को कथा के ऐसे प्रदेश से परिचय करवाया जिस ओर जाने से हिंदी के उपन्यास लेखक हिचकते थे। इन दोनों उपन्यासों में लेखकों ने जिन समुदायों को कथा के केंद्र में रखा है उसके जीवन को पाठकों के सामने पेश करने की कोशिश की, मोरवाल ने कुछ हिचक के साथ तो मैत्रेयी ने

बोल्ड होकर। हम इन दोनों उपन्यासों को विचारधारा से मुक्त होने का प्रस्थान बिंदु मान सकते हैं। हालांकि मोरवाल के उपन्यासों में उसके अवशेष दिख जाते हैं।

- इसके बाद के कथा लेखन खासकर उपन्यासों को देखें तो वहां वैचारिक प्रतिबद्धता को पाठकों की रुचि ने विस्थापित कर दिया। नए लेखकों ने विश्वविद्यालय कैंपस की जिंदगी को विषय बनाया और पाठकों ने उनको खूब पसंद किया। इनमें से कुछ लेखक अब कैंपस से बाहर निकल गए हैं और उन्होंने अपने दायरे का विस्तार कर लिया, जबकि कई लेखक अब भी कैंपस के ही चक्कर लगा रहे हैं। इनमें से जो लेखक कैंपस से बाहर निकल गए हैं उनकी व्याप्ति बढ़ी है और जो कैंपस में ही अटके हैं उनसे अपेक्षा की जा रही है कि वो अपनी कथाभूमि का विस्तार करें। पिछले दो-तीन वर्षो को देखें तो कथा भूमि का और विस्तार दिखाई देता है। अब उपन्यासों के विषयों में पहले की अपेक्षा अधिक विविधताएं दिखाई देने लगी हैं। हिंदी का लेखक समाज बहुत बड़ा है और उसी अनुपात में पुस्तकें भी प्रकाशित होती हैं। लेकिन जिन उपन्यासों ने अपनी विषयगत नवीनता की वजह से लोगों का ध्यान अपनी ओर खींचा उसमें पर्यावरण और समाज में व्याप्त कानूनी असमानता को लेकर लिखा गया उपन्यास है। पिछले वर्ष के अंतिम महीने में दो ऐसे उपन्यास आए जिसने अपनी विषयगत नवीनता से पाठकों को चौंकाया। रत्नेश्वर ने फिर से पर्यावरण को अपने उपन्यास का विषय बनाया। उनका उपन्यास 'एक लड़की पानी पानी' ने पाठकों का ध्यान अपनी ओर खींचा। इसमे रत्नेश्वर ने पानी की समस्या को बेहद रोचक तरीके से उठाया है। उपन्यास के केंद्र में पानी की समस्या है, उपन्यास के पात्रों के बीच पानी की कमी को लेकर चलनेवाला विमर्श है। इसी तरह से भगवानदास मोरवाल ने अपने नए उपन्यास 'वंचना' में महिलाओं और बच्चों के लिए बनाए गए कानून की खामियों को विषय बनाया है। इस उपन्यास में मोरवाल ने बेहद सधे हुए अंदाज में संवेदनशील तरीके से उन स्थितियों की चर्चा की है। इन दोनों उपन्यासों में लेखकों के सामने अपनी कृतियों को पठनीय बनाए रखने की चुनौती थी जिसका सामना दोनों ने बखूबी किया। इस तरह के विषय हिंदी उपन्यासों के लिए पहले बिल्कुल नहीं सोचे गए थे। अगर लिखे गए हों तो संभव है कि मेरी नजर में ना आए हों। मार्क्सवादी लेखकों ने तो पर्यावरण को इस वजह से अपने लेखन में तवज्जो नहीं दी, क्योंकि उनके आराध्य ने ही इस विषय पर कुछ नहीं देखा।
- ऐतिहासिक, पौराणिक और मिथकीय चरित्रों पर पहले भी लेखन होता था और अब उसमें काफी वृद्धि हुई है। राष्ट्रवाद के दौर में पाठकों की रुचि को ध्यान में रखकर ढेर सारे लेखकों ने महाभारत और रामायण के चरित्रों को लेकर उपन्यास लिखे। पहले नरेंद्र कोहली ने अकेले इन विषयों पर विपुल लेखन किया जिसे बाद में अमीश समेत अन्य लेखकों ने बढ़ाया। लेकिन पिछले ही साल नरेंद्र कोहली का एक उपन्यास 'सागर मंथन' प्रकाशित हुआ जिसमें उन्होंने कथा के एक नए क्षेत्र में प्रवेश किया जिसमें पौराणिकता के साथ विज्ञान भी है। कह सकते हैं कि हिंदी में कथा साहित्य के दौर को विचारधारा की गुलामी से मुक्त होने का दौर कह सकते हैं। उसको वर्तमान और भविष्य की चिंताओं को अपने अपने उपन्यासों का विषय बनाकर पाठकों के समक्ष ले जाने का जोखिम उठाने का दौर है।
- इस दौर को पाठकों या व्यापक हिंदी समाज की रुचि की पूर्ति का दौर भी कहा जा सकता है। यह अकारण नहीं है कि अब प्रकाशक लगातार सार्वजनिक तौर पर अपनी पुस्तकों के नए संस्करणों की बात करने लगे हैं। वो खुलकर ये बताने लगे हैं कि अमुक उपन्यास या अमुक पुस्तक की इतनी प्रतियां बिकीं। इस बदलाव को एक सुखद बदलाव के तौर पर भी देखा और रेखांकित किया जाना चाहिए। ये दौर उन आलोचकों के लिए भी चुनौती का दौर है जो सिर्फ उन्हीं पुस्तकों पर विचार करते रहे हैं जो उनकी विचारधारा के करीब रही हैं.

मध्य वर्ग अगर सच को सच कहने का साहस दिखाए तो समाज और राजनीति में हो रहा पतन रोका जा सकता है'

- आज सामाजिक और सार्वजनिक जीवन में पतन और राजनीति में अवसरवादिता ने अपना स्थान बना लिया है. पहले भ्रष्टाचार को एक असाधारण दोष माना जाता था. बाद में माना जाने लगा कि लोकतंत्र में भ्रष्टाचार तो होता ही है. यदि हम लोकतंत्र कि मर्यादाएं भंग करने वाली चीजों को लोकतंत्र का अंश मानने लगें तो यह हमारे समाज और व्यक्तित्व में आए पतन को ही दर्शानेवाली बात होगी.
- मैं मानता हूं कि इस जड़ स्थिति से हमें मध्यवर्ग ही उबार सकता है. स्वतंत्र भारत में यदि हम किसी वर्ग के प्रति आस्था रखते हैं तो वह मध्यवर्ग ही है. यदि यह वर्ग साहस करके सच को सच कह सके तो हमारे सार्वजनिक जीवन के पतन और राजनीतिक जीवन में आई अवसरवादिता से हमें छुटकारा मिल सकता है.

ऐसा क्यों है कि यह समाज बदहाल स्थिति में जी रहा है? कहीं कोई सुगबुगाहट नहीं दिखती जैसे कि लोग चुक गए हों?

- इसका एक बहुत बड़ा कारण है हमारे भीतर यथास्थिति को स्वीकार करने कि प्रवृति का आना. यह परिवर्तन बहुत मायने रखता है. इसी कारण विरोध या संघर्ष आज चेतना के स्तर पर न होकर पावर के स्तर पर होने लगा है. परिवर्तन की आकांक्षा अगर 'सत्ता' के लिए हो, 'पावर' के लिए हो तो जिस तरह का नैतिक आंदोलन जयप्रकाश जी या गांधी जी ने किया था, नामुमकिन हो जाता है. यहां तो स्थिति आज यह है कि जिस चीज या कि मुद्दे को उठाओ उसे अपने सत्ता में आने कि प्रक्रिया को तेज करने का साधन भर समझ लो. जनता के हित की बात यहां नहीं होती. हर कमी, हर न्यूनता को यहां वैयक्तिक और निजी स्वार्थ के हित में कैश करवाया जाता है.

हम-आप सभी जब निज पर केन्द्रित हो चलेंगे तो कहां की और कैसी सुगबुगाहट? ऐसे समय में साहित्य से कोई आशा? क्या यह सामूहिक लक्ष्यों के प्रति हमारी चेतना को संगठित कर सकता है?

- साहित्य चेतना को संगठित नहीं करता. साहित्य केवल उन मूल्यों के प्रति सचेत करता है, जिन मूल्यों ने साहित्य और सत्ता के ढांचे के बीच में एक संतुलन बनाए रक्खा है. उदहारण के तौर पर अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता एक मूल्य है. हमारे संविधान में इसे स्वीकार किया गया है. साहित्य में इसकी स्वतंत्रता को महत्व दिया गया है; किन्तु कौन-सा शब्द हमारे जीवन कि सच्चाई को प्रतिध्वनित करता है या उसका प्रतिनिधित्व करता है, उस शब्द को बोलने का विवेक अगर न हो तो यह स्वतन्त्रता भी कोई मायने नहीं रखती... इस दृष्टि से देखें तो एक साहित्यकार उस अन्तराल या स्पेस की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है जो मौखिक और औपचारिक रूप से उपलब्ध है, लेकिन जो हमारे जीवन में, यथार्थ में कार्यान्वित नहीं होता. मेरे खयाल में एक लेखक का कर्तव्य यह होता है कि वह लोगों को बराबर उस खाई के प्रति सचेत करे जो उसकी चेतना में खुदती जाती है; बड़ी होती चलती है.

आप कहते हैं कि इन समस्याओं का समाधान हमारे मध्यवर्ग के पास है, लेकिन यह कैसे संभव हो सकता है क्योंकि यह वर्ग तो अपने 'सर्वाइवल' के लिए दिन–रात लगा रहता है. ऐसे में वह इन समस्याओं का समाधान कैसे बन सकता है?

- मध्यवर्ग कि उत्पत्ति 'मध्य' शब्द से हुई है. वह वर्ग जो दोनों 'एक्सट्रीम' के बीच का वर्ग है. मोटे तौर पर यह हमारे देश का वह हिस्सा है, जो पढ़ा-लिखा है, प्रोफेशनल वर्ग से है. हमारे देश में मध्यवर्ग की भूमिका एक सजग और जागरूक वर्ग की रही है. राष्ट्रीय आन्दोलन के समय इस वर्ग के माध्यम से ही चेतना का प्रसार हुआ. अगर हम आज की राजनीतिक पार्टियों को देखें तो सक्रिय रूप से काम करनेवाले राजनीतिकों में अधिकतर लोग मध्यवर्ग से रहे हैं. हमारे बुद्धिजीवी - जैसे डॉक्टर, पत्रकार, लेखक, शिक्षक, इंजीनियर जैसे सारे लोग जिन्हें हम 'इन्टेलेजेंसिया' कहते हैं, इसी वर्ग से उभरे हैं.
- इसी वर्ग के माध्यम से बहुत हद तक हमारी जनता अपनी जरूरतों, पीड़ाओं और सीमाओं को अभिव्यक्त करती है. पत्रकार और मीडिया के लोग आम लोगों की जुबान का काम करते हैं. अभिव्यक्त करने की क्षमता एक बहुत बड़ी क्षमता है.
- जब तक हम अपनी बात किसी तक पहुचाएंगे नहीं, कोई हमारी तकलीफ कैसे जान सकेगा? और ये लोग ही हमें इस तरह कि समस्याओं से प्रत्यक्ष कराते हैं. आमतौर पर सेठ, राजनीतिक और उद्योगपति इन्हें अपनी सुविधाओं को सुरक्षित करने के लिए खरीदना चाहते हैं. इस लिहाज से आज मध्यवर्ग के सामने बहुत बड़ी चुनौती है? हां मध्यमवर्ग के सामने आज सबसे

बड़ी चुनौती है अपने नैतिक दायित्व को समझने की, प्रलोभनों में नहीं आने की. अपनी स्थिति के कारण यह वर्ग ऐसा कर सकता है. यदि वह इस मोह से खुद को उबार लेगा तो निश्चित ही वह इस डूबते हुए समाज को बचा लेनेवाला 'तिनका' साबित होगा.

लेकिन क्या इस चुनौती के बीच मध्यवर्ग पारंपरिक बुनावट उच्च-मध्यवर्ग से प्रभावित हो रही है?

- भारत में हाल के वर्षों में एक वर्ग तेजी से फैला है, वो है 'उच्च मध्यवर्ग.' इसकी जड़ें हालांकि मध्यवर्ग से ही निकली हैं पर इसकी आगामी टहनियां उच्च या अभिजात्य वर्ग के संस्कारों को ही अपना रही हैं, पोषित कर रही हैं. यहां वो सारे सुख, वो सारी सुविधाएं सुलभ हैं जो उच्च-वर्ग या पश्चिमी - मध्यवर्ग कि मूलभूत आवश्यकताएं हैं, पर यह वर्ग जितनी तेजी से उनकी सुविधाओं को आत्मसात कर रहा है, उससे भी ज्यादा तेजी से उनके दुर्गुणों जैसे व्यक्तिनिष्ठ होना, अवसरवादी होना, लाभार्थ समझौते करना, को अपना रहा है.
- उच्च-मध्यवर्ग के यही गुण, यही तेवर आज संक्रामक रूप से मध्यवर्गीय समाज में भी आ रहे हैं. इस कारण वह उच्च-मध्यवर्ग में शामिल होने की होड़ में समझौते करता है, प्रलोभनों में बंधकर आम मनुष्यों से अपने को काट रहा है जो कि उचित नहीं है. हमारे यहां सामूहिकता को प्रश्रय दिया जाता है, कुटुम्ब और परिवार में रहने की परंपरा है, हम लोग व्यक्तिवादी नहीं हैं, परन्तु उच्च मध्यमवर्ग के प्रभाव में हमारे ये संस्कार धूमिल हो रहे हैं.

अंग्रेजी बोलना बौद्धिकता और हिंदी बोलना हीनता का प्रतीक क्यों बन गया है?

- कुछ समय पहले एक वीडियो वायरल हुआ था. इसमें दिल्ली के शॉपिंग सेंटर में कुछ लड़कियां एक महिला को माफ़ी मांगने को कह रही हैं. लड़कियों के मुताबिक उस महिला ने उनमें से एक लड़की के छोटे कपड़ों की वजह से आस-पास के लड़कों को उसका रेप करने के लिए कहा था. वीडियो ने एक बार फिर उस सोच को सामने रखा जहां लड़की के कपड़ों को उसके चरित्र और उसके खिलाफ होने वाले अपराधों से जोड़ दिया जाता है.
- इस वीडियो पर आए कमेंट्स के ज़रिए और फिर अख़बारों में भी इस मसले पर काफी बहस हुई. पर इसमें कुछ और भी था जो हमारा ध्यान अपनी ओर खींच सकता था. वह था इस वीडियो की भाषा. इस पूरे वीडियो में ज़्यादातर महिलाएं, ज़्यादातर वक्त सिर्फ अंग्रेज़ी में ही बात कर रही हैं, इस बात की परवाह किये बिना कि उनकी भाषा सही है या नहीं और वे उसमें बात करते हुए सहज हैं या नहीं.
- अगर ध्यान दिया जाए तो यह स्थिति सिर्फ इन महिलाओं की नहीं, बड़े शहरों में रहने वाले ज्यादातर हिंदुस्तानियों की है. भारतीयों की इस प्रवृत्ति पर नॉएडा की एक एमएनसी में काम करने वाली कानपुर की रेणु मित्तल अपना एक अनुभव सुनाती हैं. 'कल मैं दफ़्तर के पास ही एक कैफ़े में गई तो वहां मेरा अभिवादन अंग्रेज़ी में किया गया. पानी और मेन्यू देते हुए मेज़बान महिला ने दोस्ताना अंदाज़ में मुझसे कहा कि लगता है मैं धूप में चल कर आ रही हूं. लहज़े और बातचीत से साफ दिख रहा था कि वह अंग्रेज़ी में उतनी सहज नहीं है और मजबूरी में ही इस भाषा में बात कर रही थी. मैं सोचती रही कि अगर ये मुझसे हिंदी में यही बात कहती तो मुझे ज्यादा अच्छा लगता.'
- रेणु आगे कहती हैं, 'कुछ देर में इससे बिलकुल उल्टी एक और घटना हुई. कैफ़े में जिनसे मुझे मिलना था, उन्होंने आते ही कहा, 'नमस्ते'. उत्तर प्रदेश के छोटे शहरों और क़स्बों में यह सबसे आम संबोधन है. लेकिन फिर भी मुझे ऐसा सुनना बड़ा अजीब सा लगा.' रेणु के ऐसा सोचने में कुछ भी अजीब इसलिए नहीं है क्योंकि नोएडा-दिल्ली जैसे शहरों में संबोधन और संपर्क की भाषा काफी हद तक अंग्रेजी मानी जाने लगी है. ऐसे में सवाल यह है कि क्या इन शहरों में रहने वाले लोग इतने अलग-अलग परिवेशों से हैं कि वे सिर्फ अंग्रेज़ी में ही एक-दूसरे के साथ संवाद कर सकते हैं? जवाब है नहीं. तो फिर कैसी भी अंग्रेज़ी में बोलने का फ़ितूर क्यों?

- क्या ऐसा इसीलिए है कि अंग्रेज़ी में बात करके हम सामने वाले को यह संदेश देते हैं कि हम उच्च शिक्षित, कुलीन वर्ग से आते हैं? क्या दूसरों से बेहतर या उनके बराबर दिखने की चाह जिन्हें हम अपने से बेहतर मानते हैं, हमारी वर्ण व्यवस्था का ही एक विकृत स्वरूप नहीं है? लेकिन यह भी सच है कि इस चाह के होने की पूरी ज़िम्मेदारी सिर्फ उन लोगों के कंधे पर नहीं डाली जा सकती, जो ऐसा चाहते हैं. इसके पीछे एक पूरा तंत्र, एक व्यवस्था और पूरा समाज काम कर रहा है. फ़र्ज़ कीजिए, आप एक पांच सितारा होटल के रिसेप्शन या किसी बड़े निजी अस्पताल में खड़े हैं. वहां अगर आप अंग्रेजी में अपना परिचय देते हैं तो बहुत मुमकिन है कि रिसेप्शनिस्ट का व्यवहार आपके प्रति अलग होगा. ऐसे में अगर आप ग़लत ही सही, लेकिन अंग्रेज़ी बोल सकते हैं तो शायद वही बोलेंगे.
- लेकिन अंग्रेज़ी बोलने वालों को अधिक बौद्धिक या कुलीन समझे जाने की जड़ें इससे कहीं आगे जाती हैं. इंडियन काउंसिल ऑफ वर्ल्ड अफेयर्स में रिसर्च फैलो दीपिका सारस्वत इसके लिए अंग्रेज़ी के रास्ते भारत में आई आधुनिकता को ज़िम्मेदार ठहराती हैं. 'अंग्रेज़ों के भारत में आने से पहले हम एक परंपरागत समाज थे. हमारे यहां आधुनिक विज्ञान, तकनीक और लोकतंत्र जैसी सामाजिक व्यवस्था और विचार सबसे पहले अंग्रेज़ी में ही आए. पश्चिम का पुनर्जागरण उनकी भाषा में हुआ, जबकि हमारा पुनर्जागरण (जिसे सही मायनों में पुनर्जागरण नहीं कहा जा सकता) एक विदेशी भाषा में हुआ. यहां भारत के परंपरागत ज्ञान और आधुनिक ज्ञान के बीच ऐसी कोई स्थानीय कड़ी नहीं थी, जैसी ब्रिटेन या फ़्रांस में थी. अपनी भाषाओं से आगे बढ़कर अंग्रेज़ी पढ़ने-समझने वालों को ही पहली बार आधुनिक समाज की विशेषताओं और अच्छाइयों का पता चला.' ऐसे में परंपरागत भारतीय समाज की बुराइयों के साथ-साथ - जिनमें सामंतशाही, छुआछूत या महिलाओं को दोयम दर्ज़े पर रखा जाना शामिल है - उसकी संस्कृति और भाषा को भी नीची नज़र से देखा जाना शुरू हो गया.
- इसके बाद अंग्रेजी हमारे यहां आधुनिक और प्रगतिशील दिखने का एक शॉर्टकट भी बन गई. हमने आधुनिकता और प्रगतिशीलता का कोई अपना रास्ता निकालने के बजाय एक आसान तरीक़ा चुना और एक विदेशी भाषा के ज़रिए वहां पहुंचने की कोशिशों में लग गये. बेशक इसके पीछे दुनिया में भारत की राजनीतिक और आर्थिक स्थिति की भी भूमिका रही. और दुनिया के सामने हिंदुस्तान को असभ्य, आदिम और अंधविश्वासी समाज के तौर पर पेश किया जाना भी. लेकिन अब स्थिति यहां तक आ पहुंची है कि भारत में ही हिंदी या अन्य स्थानीय भाषाओं में बात करने वालों को उतना बौद्धिक या महत्वपूर्ण नहीं माना जाता.
- भाषा सिर्फ संप्रेषण का माध्यम ही नहीं, बल्कि इससे आगे जाकर संस्कृति और विचार की वाहक भी होती है. मिसाल के लिए हिंदी का साहित्य हिंदी बोलने वाले समाज की परंपराओं, जीवनशैली, समस्याओं और संघर्षों के बारे में ही ज्यादा होगा. यही बात बोलचाल में भी देखी जा सकती है. हिंदी में आप, तुम और तू जैसे शब्दों का होना दिखाता है कि सामने वाले व्यक्ति के साथ आपके संबंध को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है. लेकिन अंग्रेज़ी में संबोधन के लिए सिर्फ एक शब्द 'यू' होता है जो बताता है कि यहां इस तरह के बंटवारे की संभावना कम है. यानी जब हम भाषा बदल रहे होते हैं, तो अनजाने में अपने विचार, संस्कृति और फिर समाज को भी बदल रहे होते हैं.
- इस मामले में बंगाल को कुछ हद तक अपवाद कहा जा सकता है. हालांकि वहां भी अपनी संस्कृति और भाषा के प्रति प्रेम बहुत हद तक अंग्रेज़ी और उपनिवेशवाद की वजह से है. हम जानते हैं कि कलकत्ता भारत में अंग्रेज़ी सम्राज्य की पहली राजधानी था. अंग्रेज़ी के ज्ञान, पुनर्जागरण और पश्चिमी साहित्य के ज़रिए आधुनिकता सबसे पहले बंगाल में ही आई. लेखक और राजनीतिक विचारक मानश भट्टाचार्जी इसे इस तरह समझाते हैं, 'बंगालियों में अपनी भाषा को लेकर हीन भावना इसलिए भी नहीं आई क्योंकि इसी समय रवींद्रनाथ ठाकुर और सत्यजीत रे जैसे नामों ने बांग्ला साहित्य और सिनेमा को दुनिया की नज़र में लाकर बंगालियों को अपनी भाषा पर गर्व करने का मौक़ा दे दिया.'

- इसके अलावा प्रिंटिंग प्रेस भी सबसे पहले बंगाल में आई जिससे बांग्ला भाषा और साहित्य को बड़ा फ़ायदा हुआ. बांग्ला से अंग्रेज़ी और अंग्रेज़ी से बांग्ला में होने वाले अनुवादों से भी इस भाषा के विचारों को स्थानीय से वैश्विक होने में मदद मिली. हालांकि मानश कहते हैं कि अब बंगाली भद्रलोक भी अपनी भाषा के प्रति यह सम्मान खोता जा रहा है.
- स्थानीय भाषाओं और ख़ासकर हिंदी के खोते सम्मान पर दुखी होने वाले उसे राष्ट्रीय गौरव से जोड़कर आसमान की ऊंचाई पर तो रखते हैं लेकिन वे न तो इसके सामाजिक-सांस्कृतिक कारणों की तरफ जाते हैं और न ही आर्थिक कारणों की तरफ. वे भारतेंदु को उद्धृत करते हुए अक्सर कहते हैं, 'निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल'. पर वे भूल जाते हैं कि इसी कविता में उन्होंने यह भी कहा था कि 'निज भाषा में कीजिए, जो विद्या की बात'. हिंदी या अन्य स्थानीय भाषाओं में विज्ञान, शोध और परिष्कृत विचार की बेहतर व्यवस्था के बिना उन्हें अंग्रेज़ी या अन्य वैश्विक भाषाओं के बराबर रखना संभव नहीं है. लेकिन न तो हम अपनी भाषाओं में वैज्ञानिक शोध ही कर रहे हैं और न ही बड़ी मात्रा में अच्छी गुणवत्ता का अनुवाद.
- पिछली जनगणना कहती है कि भारत में कुल 19569 भाषाएं और बोलियां मातृभाषा के तौर पर बोली जाती हैं. संविधान की आठवीं अनुसूची में 22 भाषाओं को जगह दी गई है. लेकिन आईआईटी, एम्स और जेएनयू जैसे बड़े-बड़े शिक्षा संस्थानों में पढ़ाई सिर्फ अंग्रेज़ी में होती है. ऐसे में ज़ाहिर सी बात है कि एक आम भारतीय के लिए अंग्रेज़ी का महत्व किसी अन्य भारतीय भाषा के मुक़ाबले ज़्यादा होगा ही होगा.

हिंदी बहुलता और समावेश की भाषा है, इसमें इनके विरुद्ध साहित्य रचा ही नहीं जा सकता

- किसी ने मुझसे पूछा कि क्या हिंदी में इस समय कोई ऐसे लेखक हैं जो हिंदुत्व का सर्जनात्मक या बौद्धिक समर्थन करते हों? मुझे तुरंत कोई नाम नहीं सूझा और अब जब ये पंक्तियां लिखी जा रही हैं, तब भी मुझे ऐसा कोई नाम नहीं सूझ रहा है. मेरे ज्ञान की सीमा है और हो सकता है कि ऐसे लेखक हों जिसके बारे में मुझे पता नहीं. ऐसे लेखक तो हैं, जो नरेंद्र मोदी और भारतीय जनता पार्टी के समर्थक हैं और जिनको पांच साल और सत्तारूढ़ करने के लिए उन्होंने चुनाव के दौरान अपील जारी की है. उनमें से कुछ को मैं जानता हूं और सर्जनात्मक या बौद्धिक लेखन में हिंदुत्व के समर्थन का संदेह मुझे नहीं होता है. मैं यह मानता हूं कि शायद उनमें से अधिकांश का लेखन मैंने इस दृष्टि से ध्यान से नहीं पढ़ा है. पर मेरे ऊपर कुल मिलाकर यह प्रभाव पड़ा है कि जो बहुत थोड़े लेखक नमो भाजपा के ज़ाहिरा तौर पर समर्थक हैं, अपने लेखन में उनके द्वारा प्रचारित संकीर्णता, भेदभाव, दूसरों के साथ अन्याय आदि का समर्थन नहीं करते हैं.
- इसके कम से कम दो आशय निकलते हैं. एक कि जिस राजनीति का मुखर समर्थन ये लेखक धड़ल्ले से कर रहे हैं उसकी कोई प्रासंगिकता उनके लेखन के लिए नहीं है याने यह एक तरह का दुचित्तापन है, नैतिक अन्तर्विरोध है. दूसरा कि इस राजनैतिक दृष्टि की साहित्य में सर्जनात्मक संभावनाएं न के बराबर हैं- वह एक अनुर्वर राजनीति है. एक तीसरा आशय भी निकाला जा सकता है कि हिंदी में साहित्यसृजन के स्तर पर हिंदुत्व का सहारा या समर्थन नहीं लिया या किया जा सकता.
- इस अन्तर्विरोध या दुचित्तेपन का हिंदी में कुछ इतिहास भी है. विद्यानिवास मिश्र भाजपा सरकार द्वारा ही राज्यसभा में नामज़द किये गये थे. उन्होंने बाबरी मस्जिद के ध्वंस पर लगभग प्रसन्नता ज़ाहिर की थी, अपने द्वारा संपादित अख़बार में. पर उनकी दृष्टि साहित्य में सकलतामूलक थी और उन्होंने कालिदास, जयदेव, महाभारत और रामायण पर जो विस्तार से लिखा है उसमें, अन्य चीज़ों के अलावा, जिस भारतीय दृष्टि पर बल दिया है उसमें न तो हिंदू दृष्टि को भारतीय दृष्टि का केन्द्रीय तत्व मानने का कोई दुराग्रह है, न ही हिंदुत्व की जग ज़ाहिर संकीर्णता, भेदभाव, घृणा आदि का कोई दबा-छुपा सही समर्थन ही. निर्मल वर्मा अपने जीवन और लेखन के अन्तिम दशक में भाजपा के प्रति आकर्षित हुए थे लेकिन उनके लेखक और विचार में किसी तरह की संकीर्णता नहीं आयी थी. वे भारतीय मनीषा में आयी फांक का ज़िक्र करते थे, आत्मबोध के अभाव का भी. पर किसी हिंसक-आक्रामक या घृणापरक संकीर्ण राजनीति का समर्थन कहीं नहीं मिलता.

- इस विश्लेषण से एक उत्साहवर्द्धक नतीजा निकालने के लोभ से मैं नहीं बच पा रहा हूं. वह यह है कि चूंकि साहित्य सत्य की रंगभूमि है और भारतीय दृष्टि अनेक बहुलताओं से गढ़ी गयी है, उसमें किसी संकीर्ण दृष्टि की जगह हो ही नहीं सकती. साहित्य-व्यवहार और समाज-व्यवहार में फांक हो सकती है पर भरोसा तो हम साहित्य पर ही कर सकते हैं. समाज में झूठ का व्यापार और उसका समर्थन चल सकता है पर साहित्य में प्रथमतः और अन्ततः सत्य की ही जगह है.
- न जाने क्यों मुझे याद आया कि जब अमरीकी उपनिवेशों को स्वतंत्रता देने पर लंदन में हाउस ऑफ कॉमन्स में बहस चल रही थी तो एडमण्ड बर्क ने अपने एक प्रसिद्ध भाषण में कहा था (वह अंग्रेज़ी गद्य का अद्‌भुत नमूना माना जाता है) कि अंग्रेज़ी स्वतंत्रता की भाषा है और उसमें स्वतंत्रता के विरुद्ध तर्क किया ही नहीं जा सकता. मैं कहना चाह रहा हूं कि शायद हिंदी बहुलता और समावेश की भाषा है जिसमें बहुलता और समावेशिता के विरुद्ध साहित्य रचा ही नहीं जा सकता. बर्क ने अंग्रेज़ी में एक सुलेमानी अभिमान से दावा किया था. क्या मैं हिंदी में अपनी लोकतांत्रिक कलावादी आस्था से ऐसा दावा कर सकता हूं? जबकि उसी हिंदी अंचल में संकीर्णता, धर्मान्धता, परस्पर दुर्भाव, जातिवाद, स्त्रियों-दलितों-मुसलमानों-आदिवासियों की ग़ैर-बराबरी और उनके साथ अन्याय का ऐसा बोलबाला है. कई बार यह कह चुका हूं कि कम से कम आज हिंदी साहित्य हिन्दी समाज का असली और लगभग स्थायी प्रतिपक्ष है.

एक रोमिला शाम

- हाल में एक शाम पहली बार मूर्धन्य वयोवृद्ध इतिहासकार रोमिला थापर के घर गुज़री. वे अकेले जिस घर में दशकों से रहती आयी हैं एक बड़ा किताबघर है. बड़े घर में हर कमरे में किताबों की करीने से लगी कतारें हैं. मेरा छोटा सा फ्लैट भी ऐसा ही, आकार में छोटा, पर आकांक्षा में बड़ा किताबघर है. जैसे मैं चिंतित हूं कि मेरे बाद इन हज़ारों किताबों का क्या होगा वैसे रोमिला जी भी चिंतित हैं. यह एक स्थायी विडंबना है कि किताब लिखनेवालों को लगातार यह चिन्ता सताती है कि किताबों का क्या होगा, आगे जाकर.
- रोमिला जी इस समय देश में जो हो रहा है उससे भी बहुत चिंतित हैं. उन्हें लगता है कि जैसे चीन में सांस्कृतिक क्रान्ति के नाम पर परम्परा, इतिहास, स्मृति, ज्ञान,सृजन का बहुत कुछ नष्ट कर दिया गया था और उस क्षति की पूर्ति दशकों बाद भी चीन नहीं कर पाया है वैसी ही स्थिति भारत में हिन्दुत्व, धर्मान्धता, संकीर्णता, हिंसा,हत्यारी और ज्ञान तथा परंपरा विरोधी मानसिकता पैदा कर रही है. ज्ञान, बुद्धि, इतिहास और स्मृति की ऐसी अवमानना पहले कभी नहीं हुई है. उनको लगता है कि भारतीय धार्मिक परम्परा में प्रायः हर धर्म में रूढ़िवादिता और उसका विरोध लगातार रहे हैं. इधर लग रहा है कि रूढ़िवादिता ने सभी धर्मों को प्रायः इकहरा बना दिया है और उनमें कोई आन्तरिक विरोध बाक़ी नहीं रहा.
- हम देर तक सार्वजनिक संवाद में आयी अभद्रता, असहिष्णुता, तर्कतथ्यहीनता, गाली-गलौज पर बात करते हैं. रोमिला जी के इतिहासलेखन से असहमत हुआ जा सकता है पर उनकी भद्रता और प्रखरता को नज़रंदाज नहीं किया जा सकता. उनका स्पष्ट मत है कि अगर वर्तमान सत्तारूढ़ शक्तियां फिर सत्ता में आ गयीं तो भारत में बौद्धिक और सर्जनात्मक जीवन और संस्थाएं गहरे अत्यन्त क्षतिकारी संकट में फंस जायेंगी. जो भी हो, बुद्धिजीवी, लेखक और कलाकार, पाठक और दर्शक-श्रोता प्रतिरोधात्मक भूमिका में रहे आये यह ज़रूरी है. मैंने कहा हमें अड़ंगे बने रहना होगा.

पुरस्कार-वापसी, तपस्या और फ़कीरी

- 2015 में जब कुछ लेखकों और कुछ अल्पसंख्यकों की हत्याओं ने यह प्रभाव पैदा किया था कि देश में असहिष्णुता बढ़ रही है और सत्ता उसे चुपचाप देख रही है, स्वतःस्फूर्त ढंग से कई भाषाओं के लेखकों ने अपने पुरस्कार वापस कर इसका मुखर और ध्यानाकर्षक विरोध किया था. तब उस पर प्रधानमंत्री ने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की थी. अब लगभग 4 वर्ष बाद, चुनाव के

दौरान, उन्हें कम से कम दो बार अपने प्रहारों के लिए इस वापसी की याद आयी है. लेखकों के उस असंगठित समूह को गैंग कहकर, मानो कि वे अपराधी हों. उन्हें विदेशी धन द्वारा पोषित बताया गया और जो राजस्थान में एक दलित की हत्या पर चुप्पी साधकर सो गया.

- जिन लेखकों ने पुरस्कार वापस किये थे वे अपने क्षेत्र में अलग-अलग ऐसी घटनाओं पर तीव्र प्रतिक्रिया करते रहे हैं. मैं ही अपने इस स्तम्भ और अनेक वक्तव्यों में दलितों-अल्पसंख्यकों-स्त्रियों आदि पर बढ़ रहे अत्याचारों और उससे प्रगट हिंसक-हत्यारी राजनीति के विरुद्ध लगातार लिखता रहा हूं. प्रधानमंत्री के पास अपार शक्ति, साधन और खुफ़िया एजेंसियां हैं और उन्होंने आज तक एक भी लेखक के बारे में यह पता लगाया कि उसे पुरस्कार वापसी के लिए कहीं से धन मिला. लेखक पुरस्कार वापस कर चुके. अब अगर ऐसी घटनाएं हों तो वे और क्या कर सकते हैं, सिवाय लिखकर विरोध करने के अलावा? यह विरोध अगर सत्ता के ध्यान में नहीं आता तो यह उसकी अक्षमता है, लेखकों की ज़िम्मेदारी नहीं. सत्ता यह भी भूल जाती है, जैसे कि मीडिया भी, कि लेखकों की पहल का लगभग पांच सौ वैज्ञानिकों ने भी मुखर और तर्कसंगत समर्थन किया था चार सौ कलाकारों-कलाविदों के साथ-साथ.
- हमारे यहां तपस्या मुक्ति के लिए किये जाने की परम्परा है, सत्ता के लिए नहीं. प्रधानमंत्री भूल जाते हैं कि उनकी लंबी तपस्या के अलावा कई लेखक, कलाकार, बुद्धिजीवी आदि भी इतने ही लम्बे समय से बुद्धि, सृजन, ज्ञान के लिए तपस्या करते रहे हैं और अगर उन्हें भारतीय समाज में आदर-सम्मान मिला है तो इसी कारण. कृष्णा सोबती, नयनतारा सहगल, गणेश देवी, पुष्प भार्गव आदि हमारे समय में सर्जनात्मक और वैज्ञानिक तपस्या की ही शबीहें हैं. उनमें से किसी ने ऐसे तपस्वी होने का स्वयं कोई बड़बोला दावा नहीं किया है.
- इन दिनों अतर्किक उत्साह में जो सबसे सुवेशित है वही फ़कीरी का दावा कर रहा है. 'मन लागा मेरा यार फ़कीरी में' कविता एक कवि की है, किसी सत्ताधारी की नहीं. इस देश में फ़कीरी के कई प्रकार रहे हैं. आम तौर पर लेखक और कलाकार, साधनों और अवसर के अभाव में, कठिन साधना कर अपना जीवन किसी न किसी तरह की फ़कीरी में ही बिताते हैं. भीष्म पितामह ने, एक बार फिर दुहराना ज़रूरी है, कहा था कि राजा का धर्म है कि वह अपने राज्य में रहनेवाले बुद्धिमान व्यक्तियों का आदर करे. तुलसीदास के राम ने कहा था अयोध्यावासियों से, अगर उन्हें लगे कि वह कोई अनीति कर रहे हैं तो वे उन्हें बिना भय के टोकें. हमने टोकने का यही नागरिक धर्म निभाया जो लोकतंत्र और भारतीय परम्परा दोनों का उजला उत्तराधिकार है और उसे लांछनों द्वारा दबाया या मैला या ख़ारिज नहीं किया जा सकता.

हिंदी अंचल की राजनीति से अलग, उसका साहित्य संकीर्णता का विरोध कर जनतांत्रिक धर्म निभा सकता है

- प्रेम भारद्वाज द्वारा संपादित एक नयी पत्रिका 'भवन्ति' के प्रवेशांक के अवसर पर 'साहित्य में जनतंत्र' विषय पर एक परिचर्चा हुई. हम यह अक्सर भूल जाते हैं कि पिछले लगभग सात दशकों में जो साहित्य लिखा-पढ़ा गया है, वह जनतंत्र के अंतर्गत लिखा-पढ़ा गया है और ऐसा हमारे और साहित्य के इतिहास में पहली बार हुआ है. जनतंत्र के पांच तत्व विशेष हैं- चुनने की स्वतंत्रता, दृष्टियों की बहुलता, प्रश्नवाचकता, संवाद और असहमति की जगह और हर तरह की अल्पसंख्यकता का समावेश. हमें यह भी याद करना चाहिये कि संवैधानिक जनतंत्र लागू होने के सदियों पहले से साहित्य में जनतंत्र रहा है. भक्ति काव्य में तो कविता और अध्यात्म को एक साथ प्रश्नवाची, जनसुलभ और जनतांत्रिक बना दिया गया था. कबीर और तुलसी दोनों ही प्रश्नवाची हैं. एक हर धार्मिक सत्ता को चुनौती देता है तो दूसरा दी गयी सत्ता का रामराज्य के रूप में विकल्प सुझाता है जिसमें हर नागरिक को राजा द्वारा अनीति करने पर टोकने का अधिकार और अवसर हो.

- राजनैतिक स्वतंत्रता हमें जब मिली उससे बहुत पहले से साहित्य में स्वतंत्रता थी. छायावाद, राष्ट्रीयतावादी काव्य, गद्य आदि सभी औपनिवेशिक सत्ता के प्रतिरोध में थे और मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, निराला, प्रेमचंद, अज्ञेय आदि सभी स्वतंत्रतापूर्व के लेखक सत्ता-विरोधी थे. स्वतंत्रता मिलने और संविधान के अंतर्गत जनतंत्र स्थापित होने के थोड़े ही दिनों बाद मोहभंग हुआ और लोकतांत्रिक सत्ता के बारे में साहित्य में प्रश्न उठे. यह आकस्मिक नहीं है कि पिछले 70 के हिंदी साहित्य का मुख्य स्वर व्यवस्था-विरोध का रहा है. उसमें प्रश्नवाचकता, धर्मनिरपेक्षता, संवाद, असहमति, वाद-विवाद-संवाद आदि की जनतांत्रिक जगह और संभावना रही है. इधर हिंदी प्रदेश में जो व्यापक राजनैतिक परिवर्तन हुए हैं. उनकी एक विडंबना यह है कि उसने लोकतांत्रिक प्रक्रिया से ऐसी शक्तियों को अपना समर्थन फिर दिया है जो अब लोकतांत्रिक कटौती के लिए अधिकृत महसूस करेंगी.
- इसकी फिर पुष्टि हुई है कि आज हिंदी साहित्य हिंदी समाज का असली और टिकाऊ प्रतिपक्ष है. हिंदी लेखक को यह स्वीकार करना चाहिये कि साहित्य राजनीति के लिए पूरी तरह से अप्रासंगिक हो गया है. इतना दिलासा हम अपने को दे सकते हैं कि कट्टरता-हिंसा-हत्या-घृणा-अन्याय-जातिवाद की राजनीति से हमारा कुछ लेना-देना नहीं है. हम बहुलता, प्रश्नवाचकता, सच और असहमति पर अपना इसरार तेज़ करेंगे तो आज की राजनीति और सत्ता के लिए हमारी अप्रासंगिकता बढ़ेगी. हम आज अप्रासंगिक माने जाकर ही सच बोल सकते हैं, जनतांत्रिक हो सकते हैं. हिंदी अंचल की राजनीति से अलग, उसके विरुद्ध हिंदी साहित्य संकीर्णता, हिंसा-हत्या-घृणा की मानसिकता, दलितों-स्त्रियों-मुसलमानों आदि पर अत्याचारों का विरोध कर अपना नैतिक, सांस्कृतिक और जनतांत्रिक धर्म निभा सकता है.
- हिंदी समाज का अंत:करण संक्षिप्त हो रहा है. साहित्य इस समय अंत:करण होकर ही अपनी जनतांत्रिक भूमिका निभा सकता है. एक हताश प्रश्न उठता है, क्या हमारा जनतंत्र इस समय साहित्यातीत हो गया है? शायद जनतंत्र ने अपने मौजूदा स्वरूप में साहित्य को पीछे छोड़ दिया है. अब हम राजनीति के आगे चलनेवाली मशाल नहीं, स्वयं जनतंत्र द्वारा उपजाये-पोसे-बढ़ाये अंधेरे में कुछ मोमबत्तियां भर हैं. रवीन्द्रनाथ ने कभी कहा था कि एक नन्हा सा दीपक भी संसार को आलोकित करता है.

विचार में विलाप

- समाजशास्त्री और कलाप्रेमी सुरेश शर्मा के लिए आयोजित स्मृति सभा में यह स्पष्ट हुआ है कि इस सौम्य, शान्त पर अपनी दृष्टि पर दृढ़ विचारक के लिए बौद्धिक समाज में कितना गहरा सम्मान रहा है. वे जड़ों पर जमे थे पर उनकी जिज्ञासा अथक थी. उन्होंने आदिवासी समाज, जीवन और विश्वदृष्टि का गहरा और ज़मीनी अन्वेषण किया था. आधुनिकता से उनकी एक बड़ी शिकायत यह थी कि उसने आदिवासी जीवनबोध और पेगन दृष्टि को अतिक्रमित कर दिया.
- सुरेश शर्मा को गांधी-150 में, बहुत कृतज्ञतापूर्वक, उनके द्वारा बहुत जतन से संपादित 'हिन्द-स्वराज' के नये संस्करण के लिए भी याद किया जाना चाहिये. उनके निजी और सामाजिक व्यवहार में उनकी सौम्यता और दृढ़ता को एक तरह के गांधी-व्यवहार की तरह आसानी से देखा-समझा जा सकता है. अपने इतिहास और नृतत्व के अनुशासन से अलग सुरेश की कई क्षेत्रों के मूर्धन्यों से गहरी मित्रता और संवाद थे. उसमें दार्शनिक रामचन्द्र गांधी, चित्रकार जगदीश स्वामीनाथन, लेखक निर्मल वर्मा, फ्रेंच बुद्धिजीवी एलांसूपियो आदि शामिल हैं. उन्होंने रज़ा की चित्रकला के बहाने 'शून्य' पर एक रोचक संवाद आयोजित किया था और कई बरस बाद रज़ा फ़ाउंडेशन के लिए 'शब्द और बिम्ब' पर एक अन्तरराष्ट्रीय परिसंवाद भी जो कि निर्मल वर्मा और जगदीश स्वामीनाथन की स्मृति में था.
- सुरेश ने उदयन वाजपेयी के साथ एक लंबी बातचीत में कहा था, 'आधुनिक चेतना का स्वबोध यह है कि उसने मानव इतिहास में पहली बार सर्वव्यापकता के स्वप्न को साकार कर दिया है. उसका यह मानना है कि उसके पहले की सर्वव्यापकता की कल्पना संकीर्ण और आंशिक थी और वह कभी भी सचमुच साकार नहीं हो सकती थी. वह स्वप्न मात्र थी. आधुनिक चेतना यह मानती है कि उसने मानव कल्पना में निहित दीर्घ प्रामाणिक तत्वों को यथार्थ रूप दिया है. एक अर्थ में जो आधुनिकता के पहले धुंधले विराट् अतीत में मात्र स्वप्न की मरीचिका या सान्त्वना थी, उसने उसे यथार्थ कर दिया है. ...

उसका दावा है कि वह स्वर्ग को एक अर्थ में ज़मीन पर ले आयी है. पेगन बोध में सत्य की सर्वव्यापकता ऐसी है कि ऐसा कोई स्थान नहीं, ऐसा कोई काल नहीं, कोई ऐसी भाषा नहीं जिसमें वह घटित न होता हो.'

- उसी बातचीत में आगे सुरेश ने कहा, 'गांधी भले ही महान उपनिवेश-विरोधी आंदोलन के महान् नायक रहे हों, उनके लेखन-अभिव्यक्ति में राष्ट्र-राज्य के विषय या आदर्श पर लगभग कुछ नहीं है. सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के महान प्रणेता सावरकर के पास संस्कृति पर कहने को कुछ नहीं है. गांधी का बड़ा योगदान यह रहा है कि विराट राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व करते हुए कठिन से कठिन संघर्ष के क्षणों में उन्होंने राष्ट्रवाद के प्रति अपनी आलोचनात्मक दृष्टि को जीवंत बनाये रखा.'
- सुरेश ने यह भी स्पष्ट किया है कि '... इस तरह का सभी प्राणियों के प्रति दायित्वबोध दूसरी परम्पराओं में भी मिलता है पर यह दायित्वबोध केवल मनुष्य प्रजाति के लिए नहीं था. पेगन परंपराओं में उत्तरदायित्व सभी के प्रति माना जाता था जो सबसे अधिक जीवंत रूप में आदिवासी जीवन में दिखायी देता है.' बस्तर में गहन काम करनेवाले इस विचारक ने यह भी दर्ज़ किया था. 'हमारे आदिवासी समुदायों में महिलाएं अंडा नहीं खातीं. उसके पीछे भाव यह है कि अंडे में जिस जीव के जीवन की संभावना सुषुप्त है उसे कम से कम एक बार पनपने का अवसर दिया जाना चाहिये. ऐसा न हो कि जीवन को अवसर न मिले प्रकट होने का और वह समाप्त हो जाये . जीवन को जीने से पहले ही समाप्त न करने का यह भाव सुन्दर है.'
- सुरेश बार-बार पेगन दृष्टि की ओर लौटते थे, 'पेगन परम्परा में सृष्टि की कल्पना में कोई सर्जक नहीं है. यहां ऐसा नहीं माना जाता कि यहां जो कुछ भी आंखों के सामने का अनुभव है, वह परम सत्य से भिन्न है. यह अवश्य है कि सत्य पारगामी है पर वह सृष्टि से अलग नहीं है. पेगन बोध और दृष्टि के अनुसार परम सत्य समस्त जगत में व्याप्त है. उसकी उपस्थिति के संकेत और उसका यथार्थ मानव प्रजाति तक सीमित नहीं है.'
- कई बार लगता है कि सुरेश शर्मा का विचार आधुनिक समय में पेगन दृष्टि और आदिवासी जीवन के लगातार अतिक्रमण पर एक तरह का बौद्धिक और मानवीय विलाप है. कम होता है पर होता है जब हम विचार को विलाप की तरह देख और महसूस कर सकते हैं.

गिरीश कर्नाड

- यह कहना अपर्याप्त है कि कन्नड़ लेखक, रंगकर्मी और अभिनेता गिरीश कर्नाड की मृत्यु भारतीय रंगजगत, साहित्य जगत और सिनेमा जगत की गहरी क्षति है. इन सभी क्षेत्रों में उनका अवदान असाधारण रूप से उत्कृष्ट था. पर उन्हें याद उनकी सामाजिक सक्रियता, अन्याय, स्वतंत्रता की कटौती के मुखर विरोध और अपने सृजन और विचार में अथक प्रश्नशीलता के लिए भी किया जायेगा. वे कांग्रेसी सरकार में अनेक संस्थानों जैसे संगीत नाटक अकादेमी, फ़िल्म इन्स्टीट्यूट, लंदन के नेहरू सेंटर आदि उच्च पदों पर आसीन रहे पर उन्होंने कभी किसी सत्ता का समर्थन नहीं किया और जब-तब अपनी असहमति सशक्त रूप से ज़ाहिर की.
- हममें से कई याद कर सकते है कि साठ के दशक में मोहन राकेश, विजय तेंदुलकर और बादल सरकार के साथ कर्नाड उन नाटककारों में से थे जिन्होंने भारतीय रंगमंच की शिथिल हो गयी प्रश्नवाचकता को उद्दीप्त और सजग करने में मूल्यवान् भूमिका निभायी थी. मेरे घनिष्ठ मित्र यूआर अनन्तमूर्ति से, दुर्भाग्यवश, कर्नाड के गहरे मतभेद थे. लेकिन अब दोनों के न रहने से कन्नड़ परिदृश्य बहुत विपन्न हो गया है जैसे कि समूचा भारतीय सांस्कृतिक परिदृश्य भी.

संत कबीर का 'मुल्ला बांग' देता है, तो उनका पंडा भी पाखंडी है कि नहीं?

- लाउडस्पीकर की वजह से बढ़ रहा शोर और ध्वनि-प्रदूषण उत्तराखंड हाई कोर्ट के एक फैसले के चलते सुर्खियों में आ गया. हाई कोर्ट ने अपने इस आदेश में लाउडस्पीकर के लिए आवाज की अधिकतम सीमा पांच डेसिबल तय कर दी थी. किसी

व्यक्ति के सांस लेने की आवाज 10 डेसिबल होती है. अदालत ने राज्य सरकार को इस शर्त का पूरी तरह पालन सुनिश्चित करने का निर्देश दिया.

- इस चर्चा ने तब भी जोर पकड़ा था जब एक विख्यात गायक ने लाउडस्पीकर से अजान को लेकर टीका-टिप्पणी की. हालांकि गायक ने स्पष्टीकरण भी दिया था कि उसने अजान के साथ-साथ हिंदू और सिख धर्मस्थलों में लाउडस्पीकर के दुरुपयोग की ओर भी ध्यान दिलाया है. सार्वजनिक जीवन में लोकप्रिय और सर्वप्रसिद्ध कोई व्यक्ति जब ऐसा कुछ कहता है, तो ऐसे मुद्दों की ओर सहज ही बड़े पैमाने पर लोगों का ध्यान जाता है. मीडिया द्वारा इसे सनसनीखेज बनाने की भी कोशिशें होती हैं. तात्कालिक रूप से इसका सियासी और सांप्रदायिक फायदा उठा ले जाने वाले भी तुरंत सक्रिय हो जाते हैं.
- हम जानते हैं कि कबीर ने जब धर्मपंथों में व्याप्त पाखंड, बाह्याचार और अंधविश्वासों की ओर समाज का ध्यान दिलाना चाहा, तो उन्होंने केवल किसी एक धर्मपंथ पर कटाक्ष नहीं किया था. उन्होंने सामान्य रूप से सभी धर्मपंथों पर करुणा भरे व्यंग्य की भाषा में अपनी बातें कही हैं. जितना उन्होंने मुल्लों के समझाया, उतना ही पंडे-पुरोहितों को भी समझाया. उन्होंने तो अपनी तरह के साधुओं तक को समझाया. लेकिन उनके द्वारा किए गए कटाक्ष में द्वेष का कोई स्थान नहीं है. उनमें केवल करुणा है, प्रेम है, लोकमंगल के उद्देश्य से किया गया आह्वान है.
- जो संत होता है, महात्मा होता है, वह किसी भी व्यक्तिविशेष या समुदायविशेष प्रति क्रोध, आवेश, आक्रोश, प्रतिक्रिया, घृणा इत्यादि से ग्रसित नहीं होता. उसके हृदय में सबके प्रति समान रूप से प्रेम, सहानुभूति और करुणा होती है. यदि वह किसी को फटकारता भी है, तो वह कबीर के ही शब्दों में 'अन्तर हाथ सहार दै, बाहर मारै चोट' जैसी फटकार होती है.
- कबीर जैसे संतों के लिए क्या राजा लोदी, क्या बाभन बुद्धिनाथ, क्या बनिया बाबूलाल और क्या बुधिया रंक. उन्होंने अपने साथ-साथ सबको एक ही पलड़े में तौला- 'आए हैं सो जाएंगे राजा रंक फकीर, एक सिंहासन चढ़ चले एक बंधे जंजीर' या 'एक दिन ऐसा होयगा, सबसे पड़ै बिछोह. राजा राना राव रंक सावध क्यों नहीं होय..'
  और कबीर जैसे संत सांप्रदायिक विद्वेष के नहीं, बल्कि सांप्रदायिक सौहार्द्र के प्रतीक हैं. उन्होंने तो यह कहा,

भाई रे दुइ जगदीश कहां ते आया, कहु कौने बौराया.
अल्लाह राम करीमा केशव, हरि-हजरत नाम धराया..
वोही महादेव वोही मोहम्मद, ब्रह्मा आदम कहिये.
को हिन्दू को तुरुक कहावे, एक जिमी पर रहिये..'

- संतों का वचन हमें ऊपर-ऊपर से सामाजिक या राजनीतिक निहितार्थों वाला दिखाई देता हो भले, लेकिन अपने शुद्ध रूप में, अपने मौलिक रूप में, वह नितांत आध्यात्मिक होता है. वह तो हम जैसे सीमित साधना वाले लोग हैं, जो वहां तक पहुंच नहीं पाते. एक जाति, जाति-समूह या धर्मपंथ को दूसरी जाति, जाति-समूहों या पंथ के खिलाफ एक खड़ा करके राजनीतिक और सामाजिक व्याख्या अपेक्षाकृत आसान होती है. हम सबके अपने व्यक्तिगत अनुभव और अपनी वृत्तियों की वजह से वह हमें सुहाता भी है. इसलिए हम कबीर को भी जब-तब सामुदायिक संघर्ष के नज़रिए से देखने लगते हैं. जबकि आध्यात्मिक साधना से निकला स्वर अपने आप में हद दर्जे का क्रांतिकाराना स्वर होता अवश्य है, लेकिन उसका लक्ष्य कोई व्यक्तिविशेष या समुदायविशेष या पदविशेष नहीं होता, बल्कि मनुष्य की मौलिक वृत्तियां होती हैं.
- किसी जमाने में बिना-सोचे समझे वामपंथियों ने भी कबीर को अपना 'कॉमरेड' बनाने की कोशिश की थी. लेकिन आध्यात्मिकता के प्रति दुराग्रह के चलते ऐसे लोगों ने अब कबीर से कन्नी काट ली है
- पिछले कुछ दशकों में कबीर को एक राजनीतिक क्रांतिकारी साबित करनेवाली एक धारा सक्रिय रही है. आज दिनानुदिन प्रतिक्रियावादी होते जा रहे अस्मितावादी उभारों ने भी कबीर के राजनीतिक अपहरण की कोशिश शुरू कर दी है. एक

तरफ जहां उन्हें 'जुलाहा' जाति का साबित कर ओबीसी आंदोलन उन्हें हड़पने की तैयारी में है, वहीं दलित विमर्श भी उन्हें आध्यात्मिक कम और राजनीतिक ज्यादा साबित करने पर तुला हुआ है. किसी जमाने में बिना-सोचे समझे हमारे वामपंथी मित्रों ने भी कबीर को अपना 'कॉमरेड' बनाने की कोशिश की थी. लेकिन आध्यात्मिकता के प्रति दुराग्रह के चलते ऐसे लोगों ने अब कबीर से कन्नी काट ली है.

- यह जरूर है कि कबीर जैसे संतों को भी समाज से और शासन से दुत्कार और प्रताड़ना मिली हो सकती है, जो स्वाभाविक ही है. 'सांच कहौं तो मारन धावै' उन्होंने यूं ही नहीं कहा होगा. लेकिन फिर भी कबीर जैसे संतों को को किन्हीं समुदायों के खिलाफ खड़ा करके राजनीतिक धारा में नहीं घसीटना चाहिए. उनके हृदय में तो कथित 'ब्राह्मणों' तक के लिए समान रूप से करुणा का भाव था- 'धर्म करै जहां जीव बधतु हैं, अकरम करै मोरे भाई. जौं तोहरा को ब्राह्मण कहिए, काको कहिए कसाई..' और फिर 'न काहू से दोस्ती, न काहू से बैर' या 'घट-घट में वह साईं बसतु हैं' वाले कबीर के प्रेम और करुणा की इंतहा तो यह थी कि उन्हें कोई दूसरा भी 'दूसरा' नहीं लगता था. तभी तो उन्होंने कहा होगा- 'मैं लागा उस एक से एक भया सब मांही. सब मेरा मैं सबन का तिन्हा दूसरा नाहीं..'
- लेकिन हमारे-आपके जैसे लोग जब अपने द्वेष और अहंकार की तुष्टि के लिए कबीर या अन्य संतों के शब्दों का प्रयोग करने लगते हैं, तो जाने-अनजाने उन्हें किसी जाति-विशेष, पंथ-विशेष अथवा संप्रदाय-विशेष के खिलाफ खड़े करने का कुप्रयास करते हैं. इससे न केवल उन संतों के प्रति लोगों में गलतफहमी, खीज और अश्रद्धा उत्पन्न होती है, बल्कि इससे सामनेवाले से जिस सुधार की हम अपेक्षा कर रहे होते हैं उसका ठीक उल्टा होता है. कारण कि उन समुदायों के प्रति कहीं न कहीं हमारे मन के किसी चोर कोने में द्वेष और पूर्वग्रह भरा होता है. बात भले ही हम किन्हीं संत के हवाले से कह रहे हों, लेकिन हमारा अपना द्वेष और पूर्वग्रह साफ जाहिर हो जाता है. इसलिए वह बात अपनी जगह सही होकर भी वांछित असर पैदा करनेवाली नहीं हो पाती.
- क्योंकि इसी चालाकी का इस्तेमाल करते हुए यदि लोग आपके 'धर्मपंथ' के ऊपर कबीर की कही गई बातें चुटकुले और उपहास के रूप में रोजाना शेयर करने लग जाएं, तो आपके मन में भी केवल खीज ही पैदा होगी
- आज जब हम तीन तलाक की बात करते हैं, गौरक्षा की बात करते हैं, ध्वनि-आतंक की बात करते हैं और इसे हथियार बनाकर किसी संप्रदाय के खिलाफ मोर्चा खोल देते हैं, तो होता क्या है? होता यह है कि यह फिर नारी कल्याण, पशु-सुधार और ध्वनि प्रदूषण का मुद्दा नहीं रहकर, एक शरारतपूर्ण और हिंसक ढकोसला बनकर रह जाता है. यह किसी संप्रदायविशेष को जलील करने, मुंह चिढ़ाने और नीचा दिखाने का उपक्रम बन जाता है. और यही बात अन्य संप्रदायों द्वारा हिंदुओं, ईसाइयों और बौद्धों इत्यादि के प्रति किए जाने वाले चिढ़ाऊ प्रयासों के बारे में भी कही जा सकती है. लेकिन इससे हासिल क्या होता है? इससे संप्रदायों में केवल आपसी घृणा बढ़ती है, तनाव और अविश्वास बढ़ता है. असल मुद्दा और उद्देश्य अपने रास्ते से भटक जाता है, और कुछ का कुछ हो जाता है. गांव-मोहल्ले में भीड़तंत्र और सोशल मीडिया पर ट्रोलतंत्र इसे अपनी गिरफ्त में ले लेता है. सियासतदान राजनीतिक नफा-नुकसान के आधार पर अपना रुख तय करने लगते हैं. और टीवी स्टूडियो की नाटकीय प्रस्तुतियां हमारी संवेदनाओं को भोथरा करती जाती हैं.
- 1920 में चंपारण के अपने दूसरे दौरे में महात्मा गांधी बेतिया के उस गोशाला में भी गए जिसकी स्थापना उन्होंने 1917 में स्वयं की थी. इस गोशाला में अपने संबोधन में उन्होंने बड़े मार्के की बात कही. गोरक्षा के मुद्दे पर उनका कहना था - 'हमने (हिंदुओं ने) अपने बर्ताव से गोहत्या को मुसलमानों का फर्ज बना दिया है.' मतलब यह कि जब आप किसी संप्रदाय के साथ शत्रुतापूर्ण रवैया अपनाएंगे, तो वे भी प्रतिक्रिया में आपकी दुखती रग पर हाथ रख सकते हैं.
- किसी निर्माणाधीन 'राष्ट्र' में एक संप्रदाय द्वारा दूसरे संप्रदाय को चिढ़ाने का खेल खतरनाक होता है. आज हमारी 'भावना' रुई के फाहे की तरह नाजुक हो गयी है. वह सड़ी हुई नारंगी की तरह पिलपिली हो गई है. किसी के भी छूने मात्र से यह आहत हो जाती है. 'धर्मपंथ' इतना कमजोर हो गया है कि उसकी रक्षा के लिए ईशनिंदा कानून बनाने पड़ते हैं. अंतर्जातीय और अंतर्धार्मिक विवाहों को जिहाद और फसाद में बदलते देर नहीं लगता.

- ऐसे में, संतों की वाणी के मामले में हमें और भी सतर्क रहना चाहिए. कम से कम उन्हें और उनके शब्दों को तो अपने संकीर्ण दायरों से ऊपर रखें. क्योंकि इसी चालाकी का इस्तेमाल करते हुए यदि लोग आपके 'धर्मपंथ' के ऊपर कबीर की कही गई बातें चुटकुले और उपहास के रूप में रोजाना शेयर करने लग जाएं, तो आपके मन में भी केवल खीज ही पैदा होगी. आप समझ नहीं पाएंगे कि किसी संत ने ऐसा करुणा के वश होकर कहा था, द्वेष के वश होकर नहीं. आप में कोई सकारात्मक परिवर्तन होने के बजाए केवल प्रतिक्रिया ही पैदा होगी. और उस संत के प्रति गलतफहमी और अश्रद्धा उत्पन्न होगी सो अलग.
- एक संप्रदाय जब केवल दूसरे संप्रदाय के छिद्राण्वेषण और सुधार में अपना समय और अपनी ऊर्जा लगाने लगता है, तो स्थिति वैसी ही हो जाती है जिसे हम 'चलनी दूसे सूप को जिसमें बहत्तर छेद' का चरितार्थ होना कहते हैं
- तो ऐसी स्थिति में करें क्या? क्या जरूरी मुद्दों पर भी चुप रह जाएं? महिलाओं की स्थिति में सुधार और ध्वनि-प्रदूषण जैसे विषयों पर भी न बोलें? अवश्य बोलें, लेकिन निरपेक्ष भाव से बोलें तो ज्यादा असर पैदा करेगा. नहीं तो हर बात की तरह हिंदू बनाम मुस्लिम और बाभन बनाम दलित में उलझ जाएंगे. गांधी ने इसका एक तरीका सुझाया था. जब दलितों के मंदिर में प्रवेश के लिए केरल में वाइकोम मंदिर सत्याग्रह शुरू हुआ तो गांधी ने मलयाली अखबार अल-अमीन के संपादक अब्दुर रहीमान को इस सत्याग्रह में शामिल नहीं होने की सलाह दी. ठीक इसी तरह उन्होंने साप्ताहिक पत्र 'यंग इंडिया' के संपादक जॉर्ज जोसेफ को भी इस आंदोलन में सीधे सत्याग्रही के तौर पर नहीं जुड़ने की सलाह दी. सिखों को भी वहां अपना लंगर लगाने से मना किया.
- इस बारे में अपनी स्थिति को साफ करते हुए 8 मई, 1924 को यंग इंडिया में गांधी ने लिखा- 'मुझे लगता है कि वाइकोम सत्याग्रह अपनी मर्यादाएं भंग करने लगा है. मैं तो यह चाहता हूं कि सिख यहां अपना लंगर लगाना बंद कर दें और यह आंदोलन सिर्फ हिंदुओं तक सीमित रहे. यदि मालाबार के हिंदू सुधारक गैर-हिंदुओं की सहानुभूति के अलावा और किसी प्रकार की सहायता अथवा हस्तक्षेप स्वीकार करेंगे तो सारे हिंदू समाज की हमदर्दी खो बैठेंगे. ...वाइकोम में यदि अहिंसापूर्ण तरीकों से विजय हासिल की गई तो इसमें शक नहीं कि पण्डे-पुजारियों द्वारा फैलाए गए अन्धविश्वासों के गढ़ की नींवें आमतौर पर हिल जाएंगी. ...लेकिन अगर ईसाई, मुसलमान, अकाली और इन हिंदू-सुधारकों के सभी गैर-हिंदू मित्र भी कट्टरपंथी हिंदुओं के खिलाफ प्रदर्शन करने लगें. इन सुधारकों की रुपये-पैसे से मदद करने लगें और अंत में उन्हें आतंकित करके उन पर हावी हो जाएं, तो हिंदू धर्म का क्या होगा? क्या हम इसे सत्याग्रह कह सकेंगे? क्या सनातनी लोगों के घुटने टेक देना स्वेच्छा-प्रेरित कहा जाएगा? क्या उसे हिंदू धर्म में सुधार कहेंगे?'
- कहने का मतलब यह कि एक संप्रदाय जब केवल दूसरे संप्रदाय के छिद्राण्वेषण और सुधार में अपना समय और अपनी ऊर्जा लगाने लगता है, तो स्थिति वैसी ही हो जाती है जिसे हम 'चलनी दूसे सूप को जिसमें बहत्तर छेद' का चरितार्थ होना कहते हैं. किसी फिल्मी संवाद का सहारा लेकर कहें तो जिनके खुद के घर शीशे के होते हैं, उन्हें दूसरों के घरों पर पत्थर नहीं फेंकना चाहिए. हम पहले अपने घर, अपने समुदाय, अपने संप्रदाय को ऐसा आदर्श बनाएं कि हमारा पड़ोसी भी वैसा ही बनना चाहे. यदि समालोचना करनी ही हो, तो उसके लिए पहले निरपेक्ष नजरिए का विकास करना चाहिए. स्वयं में आत्मालोचना का साहस पैदा करना चाहिए. और जैसा कि उचित है कि शुरुआत हमेशा अपने घर, समुदाय या संप्रदाय से करनी चाहिए.
- कबीर जैसे करुणावान लेकिन कटु सत्य बोलनेवाले महात्माओं को तो आज हम एक पल के लिए भी बरदाश्त न कर पाते. शायद जीने भी नहीं देते
- आज भारत का बहुसंख्यक संप्रदाय आत्महीनता का शिकार हुआ लगता है. ठीक इसी तरह यहां के अल्पसंख्यक समुदाय भी विक्टिमहुड या पीड़ितपने का शिकार दिखाई देते हैं. इन दोनों को ही इन दोनों प्रकार के आग्रहों से बाहर निकलना होगा. तभी कोई वास्तविक संवाद भी संभव होगा. अभी क्या है कि यदि हमने गौरक्षा के नाम पर चल रही विवेकहीन हिंसा पर विनम्रतापूर्वक भी कुछ कहा, तो इसे 'मुस्लिम तुष्टिकरण' का नाम दे दिया जाएगा. ठीक इसी तरह यदि हमने भूले से भी

भारतीय परंपरा का जिक्र कर दिया, तो इसे 'हिंदू पुष्टिकरण' का नाम दे दिया जाएगा. ऐसा क्यों है? ऐसा इसलिए है कि हमने उदारता, तटस्थता और अनेकांतता के नजरिए से विचारों और घटनाओं को देखना बंद कर दिया है.

- इसलिए जिन संतों ने खुद को तपाकर अपनी आध्यात्मिक अनुभूति से सत्य का साक्षात्कार किया. जिनका हृदय प्राणिमात्र के लिए करुणा से भर गया. उनकी वाणी को भी गाली के रूप में इस्तेमाल करने की चेष्टा करने लगते हैं. इससे अपनी आध्यात्मिक और नैतिक क्षति तो होती ही है, देश और समाज का भी लाभ होने के बजाय नुकसान ही होता है. इसलिए संतों और उनकी वाणियों के प्रति अवसरवादी किस्म का प्रेम पालने के बजाय हमें सबके प्रति अनंत और शर्तरहित प्रेम की ओर बढ़ना पड़ेगा.
- कबीर जैसे संतों के कंधे पर रखकर अपनी द्वेषपूर्ण भड़ास वाली बंदूक किसी एक संप्रदाय के खिलाफ चलाने का प्रयास वैसा ही होगा, जिसे अंग्रेजी में 'डेविल क्वोटिंग बाइबल' (शैतान खुद ही बाइबिल बांचने लग जाए) वाली स्थिति कहते हैं. हमें अपने भीतर के उस शैतान को पहचानकर उसे निकाल बाहर करना होगा. संत और उनकी वाणी इसी में तो हमारी मदद करते हैं.
- हमसे भले तो हमारे पूर्वज मालूम होते हैं, जिन्होंने संतों की कटु वाणियों को भी शिरोधार्य किया, उनसे मार्गदर्शन लिया. कबीर जैसे करुणावान लेकिन कटु सत्य बोलनेवाले महात्माओं को तो आज हम एक पल के लिए भी बरदाश्त न कर पाते. शायद जीने भी नहीं देते. जबकि किंवदंतियों में ऐसा कहा जाता है कि कबीर के शव को अपनाने के लिए हिंदू और मुसलमान दोनों ही लड़ पड़े थे. 1655 की आईने-ए-अकबरी वाली पांडुलिपि में कबीर की स्वाभाविक मृत्यु और शव को दफनाने और जलाने को लेकर 'ब्राह्मणों ' और मुसलमानों के बीच विवाद का जिक्र है. लिखा है- 'चूं खानए उस्तुख्वानी वा परदाख्त बरहमन बसोख्तन रू आर्बूद वा मुसलमान बगोरिस्तान बुर्दन.'

क्या कृष्ण का कश्मीर से भी कोई संबंध था?

- पौराणिक कथाओं या मिथकों को इतिहास का कोई प्रामाणिक स्रोत नहीं माना जाता. लेकिन दुनिया के हर हिस्से का लोक-समाज अपनी सांस्कृतिक पहचान को किसी-न-किसी ऐसी प्राचीन कथा से जोड़कर देखता ही है. भौतिकवादी धरातल पर ऐसी कहानियों की ऐतिहासिक पुष्टि मुश्किल होती है. लेकिन कुछ मिथक इतने प्रभावशाली होते हैं कि वे चाहे-अनचाहे अलग-अलग दौर के इतिहासकारों के मानस में प्रवेश कर जाते हैं. उपनिषदों से लेकर रामायण, महाभारत, बाइबिल और हदीसों की कहानियों तक के ऐतिहासीकरण का प्रयास होता रहा है. प्राचीन यूनान की कहानियां भी कई बार इतिहास की शक्ल में परोस दी जाती हैं, जबकि यूनानियों ने ही संभवतः पहली बार 'लोगोस' (सत्य अथवा तर्क या तथ्य आधारित ज्ञान) और माइथोस (अपुष्ट कथा-कहानियों) में शास्त्रीय भेद किया था.
- यानी कि इतिहास को समझने के इंसानी प्रयासों की अपनी सीमाएं हैं और इतिहास वास्तव में कहीं-न-कहीं इन दोनों के बीच में ही पाया जाता है. इतिहास को अगर हम वर्तमान के आइने में समझने की कोशिश करेंगे, तो पाएंगे कि मौजूदा घटनाओं, परिघटनाओं और व्यक्तित्वों तक के बारे में पुष्ट-अपुष्ट और परस्पर-विरोधी तथ्यों, कहानियों और व्याख्याओं की भरमार होती है. ऐसे में समझा जा सकता है कि दो हज़ार साल बाद की पीढ़ी जब हमारे आज के वर्तमान को ठीक-ठीक समझने की कोशिश करेगी तो उसमें कितना तथ्य होगा और कितना कथ्य होगा.
- कश्मीर के प्राचीन इतिहास को समझने के लिए जो स्रोत उपलब्ध हैं उनमें छठी से आठवीं शताब्दी के बीच लिखे गए 'नीलमत पुराण' का स्थान महत्वपूर्ण माना जाता है. बारहवीं सदी में कल्हण द्वारा लिखे गए प्रसिद्ध ग्रंथ 'राजतरंगिणी' में इसे ऐतिहासिक स्रोत के रूप में शामिल किया गया है. बाद में मुस्लिम इतिहासकारों, जैसे- चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी में हुए नुरूद्दीन (जिन्हें नुंद ऋषि भी कहा जाता है) के ग्रंथ 'नूरनामा' में भी इन कहानियों को थोड़े फेर-बदल के साथ

कश्मीर के प्राचीन इतिहास के तौर पर अपनाया गया. अकबर के दरबारी इतिहासकार और 'आइन-ए-अकबरी' के लेखक अबुल फजल ने भी इन कहानियों को अपने इतिहास में स्थान दिया.

- इसके बाद ख्वाजा मुहम्मद आज़म दीदामरी नाम के सूफी लेखक ने फारसी में 'वाक़यात-ए-कश्मीर' नाम से 1747 में एक किताब प्रकाशित की जिसकी कहानियां पौराणिक कथाओं की तर्ज पर लिखी गई थीं. उनके बेटे बेदियाउद्दीन ने भी इसी परंपरा को जारी रखा. कश्मीर के इतिहास-लेखन में इन कहानियों को शामिल करने की परंपरा आधुनिक इतिहासकारों तक जारी रही है, चाहे वह 1960 में प्रकाशित एचएच विल्सन द्वारा लिखित 'दी हिन्दू हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीर' हो या फिर 1962 में पृथ्वी नाथ कौल बम्ज़ाई द्वारा लिखित 'ए हिस्ट्री ऑफ कश्मीर'.
- इन सभी पुस्तकों में मथुरा के कृष्ण का जिक्र आता है. नीलमत पुराण और राजतरंगिणी में एक प्रमुख कहानी महाभारतकालीन राजा गोनंद की है. कल्हण तो यहीं से अपना इतिहास शुरू करते हैं. इन ग्रंथों के मुताबिक कश्मीर का राजा गोनंद प्रथम कृष्ण का समकालीन था और वह मगध के राजा जरासंध का रिश्तेदार था. जब यमुना के तट पर कृष्ण और जरासंध का युद्ध चल रहा था तो गोनंद अपनी विशाल सेना के साथ जरासंध की मदद के लिए पहुंचा. गोनंद ने कृष्ण के किले पर कब्जा कर कृष्ण की घेराबंदी कर दी. लंबे समय तक गोनंद की सेना ने वीरता के साथ युद्ध किया, लेकिन आखिरकार गोनंद कृष्ण के भाई बलराम या बलभद्र के हाथों मारा गया.
- गोनंद के बाद उसका बेटा दामोदर कश्मीर का राजा बना. वह कृष्ण से अपनी पिता की मौत बदला लेने के लिए आतुर था, लेकिन उसने सही मौके का इंतज़ार किया. थोड़े समय बाद सिंधु के तट पर गांधार के राजा ने एक स्वयंवर का आयोजन किया. इस स्वयंवर में कृष्ण ने भी अपने बाकी यदुवंशी सगे-संबंधियों के साथ भाग लिया. स्वयंवर के बाद जब दुल्हन को लेकर सभी लौट रहे थे, तो दामोदर ने इसे उपयुक्त अवसर मानकर कृष्ण पर आक्रमण कर दिया. इस आक्रमण की अफरा-तफरी में दुल्हन मारी चली गई और क्रोध में आकर दूल्हे और उसके साथियों ने दामोदर की सेना को पराजित कर दिया. कृष्ण ने अपने सुदर्शन चक्र से दामोदर का अंत कर दिया.
- लेकिन दामोदर की पत्नी यशोवती उन दिनों गर्भवती थी. कृष्ण ने यशोवती की चिंता दूर करने के लिए ब्राह्मणों को कश्मीर भेजा. कृष्ण ने यशोवती को कश्मीर की रानी बना दिया. यह बात दरबारियों को स्वीकार नहीं थी कि कोई महिला शासक बने. इन दरबारियों को शांत करने के लिए कृष्ण ने जो कहा उसका वर्णन नीलमत पुराण के इस श्लोक में मिलता है.

कश्मीराः पार्वती तत्र राजा ज्ञेयो हरांशजः।
नावज्ञेयः स दुष्टोपि विदुषा भूतिमिच्छता।।
पुंसां निर्गौरवा भोज्ये इव याः स्त्रीजने दृशः।
प्रजानां मातरं तास्तामपश्यन्देवतामिव।।

- अर्थात् कश्मीर की धरती (कुछ अनुवादों के अनुसार कश्मीर की लड़कियां) पार्वती है. यह जान लो कि उसका राजा शिव का ही एक अंश है. वह यदि दुष्ट भी हो, तो भी विद्वतजनों को चाहिए कि राज्य के कल्याण के लिए उसका अपमान न करें. स्त्री को भोग की वस्तु माननेवाला पुरुष भले ही उसका सम्मान करना न जानता हो, लेकिन प्रजा उसमें अपनी माता या एक देवी को ही देखेगी.
- कृष्ण के ऐसा कहने पर दरबारी या मंत्रीगण शांत हो गए और यशोवती को कश्मीर की रानी, देवी और प्रजा की माता की तरह मानने लगे. थोड़े समय बाद यशोवती ने एक पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम गोनंद द्वितीय रखा गया. बचपन में ही उसका राज्याभिषेक कर दिया गया. जब महाभारत का युद्ध लड़ा जा रहा था तो गोनंद द्वितीय बहुत छोटा था, इसलिए उसे कौरव या पांडव किसी की ओर से आमंत्रित नहीं किया गया. यही कारण है कि महाभारत युद्ध के दौरान विभिन्न राज्यों का जिक्र तो मिलता है, लेकिन कश्मीर का नहीं मिलता.
- उल्लेखनीय है कि बाद में जब कश्मीर में वैष्णव धर्म का प्रसार हुआ तो वहां विष्णु के अवतार राम की पूजा का जिक्र देखने को नहीं मिलता, लेकिन गोपाल कृष्ण की पूजा देखने को मिलती है. राजा ललितादित्य जिनके शासनकाल को कश्मीर का

स्वर्ण-युग कहा जाता है, उनके काल में बने मंदिरों और कलाकृतियों में भी गोपियों के बीच बैठे कृष्ण और यमुना इत्यादि का चित्रण मिलता है, लेकिन राम का नहीं मिलता. कल्हण ने अवश्य अपनी राजतरंगिणी में 35 वर्षों तक राज करने वाले गोनंद तृतीय को एक महान राजा बताते हुए उसकी तुलना अयोध्या के महान राजा राम से की है.